

श्रमण SAMANA श्रमण

अप्रैल-सितम्बर 2001



पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी
PĀRŚWANĀTHA VIDYĀPĪṬHA, VARANASI

श्रमण

पार्श्वनाथ विद्यापीठ की त्रैमासिक शोध-पत्रिका

वर्ष 52,

अंक 4-9 अप्रैल-सितम्बर संयुक्तांक 2001

प्रधान सम्पादक

प्रोफेसर भागचन्द्र जैन 'भास्कर'

परामर्शदाता

प्रोफेसर सागरमल जैन

सम्पादक

डॉ. शिवप्रसाद

प्रकाशनार्थ लेख-सामग्री, समाचार, विज्ञापन एवं सदस्यता आदि के लिए सम्पर्क करें

सम्पादक

श्रमण

पार्श्वनाथ विद्यापीठ

आई.टी.आई. मार्ग, करौंदी

पो.ऑ.-बी.एच.यू.

वाराणसी-221005 (उ.प्र.)

e-mail : parshwanathvidyapeeth@rediffmail.com

दूरभाष : 316521, 318046

फैक्स : 0542-318046

ISSN-0972-1002

वार्षिक सदस्यता शुल्क

संस्थाओं के लिए : रु. 150.00

व्यक्तियों के लिए : रु. 100.00

इस अंक का मूल्य : रु. 50.00

आजीवन सदस्यता शुल्क

संस्थाओं के लिए : रु. 1000.00

व्यक्तियों के लिए : रु. 500.00

टि : सदस्यता शुल्क का चेक या ड्राफ्ट केवल पार्श्वनाथ विद्यापीठ के नाम से ही भेजे।

श्रमण

विषय-सूची

हिन्दी खण्ड

- | | | |
|-----|--|---------|
| १. | द्रव्य, गुण और पर्याय का पारस्परिक सम्बन्ध
(सिद्धसेन दिवाकरकृत 'सन्मतिप्रकरण' के विशेष सन्दर्भ में) | |
| | - डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय | १-१५ |
| २. | अनेकान्तवाद और उसकी समसामयिकता | १६-१९ |
| ३. | वैशाली | २०-४९ |
| ४. | महावीर के जन्मस्थान पर नया प्रकाश | ५०-५४ |
| ५. | सरस्वती | ५५-६२ |
| ६. | जैनधर्म के चतुर्विध संघों का पारस्परिक सहदायित्व | |
| | - डॉ० अरुण प्रताप सिंह | ६३-७३ |
| ७. | खरतरगच्छ-कीर्तिरत्नसूरिशिखा का संक्षिप्त इतिहास | |
| | - डॉ० शिवप्रसाद | ७४-८८ |
| ८. | देवलोक और तिर्यञ्च में नाग | ८९-११२ |
| ९. | जैनधर्म, संस्कृति और कला के विकास में गंग चालुक्य और
राष्ट्रकूट राजवंशों का योगदान | ११३-१२८ |
| १०. | भारतीय भाषाओं का प्रथम व्यंग्य उपन्यास-धूर्ताख्यान | |
| | - प्रो० श्यामसुन्दर घोष | १२९-१३३ |
| ११. | आधुनिक विश्व में अहिंसा की प्रासंगिकता | १३४-१४३ |
| १२. | शोधप्रबन्धसार | १४४-१४७ |
| १३. | शोधप्रबन्धसार | १४८-१५१ |

गुजराती ખંડ

- | | | |
|-----|------------------------------------|---------|
| ૧૪. | ગુજરાતી સાહિત્યમાં જૈન ભક્તિકાવ્યો | ૧૫૨-૧૬૩ |
| | - પદ્માલાલ રસિકલાલ શાહ | |

अंग्रेजी खण्ड

- | | | |
|-----|---|---------|
| 15. | The Impact of Nyāya and Vaiśeṣika School of Jaina
Philosophy | 164-169 |
| | Prof. Sagarmal Jain | |
| 16. | Rightful exposition of Jainism in the West | 170-179 |
| | Dr. N.L. Jain | |
| 17. | Samyakdarshan | 180-184 |
| | J.P. Jain 'Sadhak' | |
| १८. | विद्यापीठ के प्रांगण में | १८५-१८६ |
| १९. | जैन जगत् | १८७-२०७ |
| २०. | साहित्य-सत्कार | २०८-२१८ |



सम्पादकीय

श्रमण- अप्रैल-सितम्बर संयुक्तांक २००१ पाठकों के समक्ष उपस्थित करते हुए हर्ष का अनुभव हो रहा है। इस अंक में भी जैनदर्शन, अहिंसा, जैन संघ, इतिहास आदि से सम्बन्धित आलेख प्रकाशित किये जा रहे हैं। भगवान् महावीर के जन्म का यह २६००वां वर्ष चल रहा है। यह आश्चर्य की बात है कि अभी तक भगवान् की जन्मभूमि कहां है, इस बात का सर्वमान्य निर्णय नहीं हो सका है। जैन समाज का एक वर्ग बिहार प्रान्त के मुंगेर जिले में स्थित लछवाड़ नामक स्थान को जन्मभूमि के रूप में मान्य करता है तो दूसरा वर्ग कुण्डलपुर नामक स्थान को जन्मभूमि के रूप में स्वीकार करता है। योरोपीय विद्वान् एवं अनेक इतिहासविद् महावीर की जन्मभूमि के रूप में मुजफ्फरपुर जिले में स्थित वैशाली को मानते हैं। प्रागैतिहासिक काल में हुए आदि तीर्थङ्कर ऋषभदेव, राम, कृष्ण आदि की जन्मभूमि के सम्बन्ध में जहाँ कोई मतभेद नहीं है वहीं ऐतिहासिक युग में हुए भगवान् महावीर की जन्मभूमि का सर्वमान्य निर्णय न हो पाना आश्चर्यजनक है।

इस अंक में हम सुप्रसिद्ध इतिहासवेत्ता स्व० आचार्य विजयेन्द्रसूरि द्वारा लिखित पुस्तिका **वैशाली** को अविकल रूप में प्रकाशित कर रहे हैं। इसमें आचार्यश्री ने वैशाली को भगवान् की जन्मभूमि के रूप में विभिन्न साक्ष्यों के आधार पर मान्यता प्रदान की है जबकि इसी के साथ ही प्रकाशित दूसरे आलेख में लछवाड़ को जन्मभूमि सिद्ध किया गया है। सुधी पाठकों से निवेदन है कि वे दोनों आलेखों को पढ़ कर भगवान् के सही जन्मभूमि स्थल का निर्णय करें। इस सम्बन्ध में हमें अपने पाठकों के पत्रों का इन्तजार रहेगा।

इसी अंक में **देवलोक और तिर्यञ्च में नाग** नामक एक आलेख भी प्रकाशित है जो हमें सुप्रसिद्ध विचारक एवं वयोवृद्ध विद्वान् श्री भंवरलाल जी नाहटा के सौजन्य से प्राप्त हुआ है। श्री नाहटा जी का उक्त आलेख हमें वर्षों पूर्व प्राप्त हो गया था, परन्तु उसे अभी तक हम प्रकाशित करने में सफल न हो सके थे। हमें इस बात का सन्तोष है कि अब वह आलेख प्रकाशित हो रहा है।

आपको यह अंक कैसा लगा, इस सम्बन्ध में पाठकगण अपने बहुमूल्य सुझावों से हमें अवगत कराने की कृपा करें ताकि अगले अंकों में आवश्यक सुधार किया जा सके।

सम्पादक



द्रव्य, गुण और पर्याय का पारस्परिक सम्बन्ध

(सिद्धसेन दिवाकरकृत 'सन्मति-प्रकरण' के विशेष सन्दर्भ में)

डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय

सिद्धसेन दिवाकर (४थी-५वीं शती) द्वारा विरचित 'सन्मति-प्रकरण' जैन दार्शनिक जगत् का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, जो श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों में समान रूप से माना जाता है। आचार्य सिद्धसेन की इस प्राकृत रचना में नयों का विशुद्ध विवेचन, तर्क के आधार पर पञ्चज्ञान की परिचर्चा, प्रतिपक्षी दर्शन का भी सापेक्ष भूमिका पर समर्थन तथा सम्यक्त्वस्पर्शी अनेकान्त का युक्तिपुरस्सर प्रतिपादन इस ग्रन्थ का प्रमुख प्रतिपाद्य है। सन्मति-प्रकरण में कुल तीन काण्ड और १६७ गाथायें हैं। प्रथम नयकाण्ड में ५४, द्वितीय जीवकाण्ड में ४७ तथा तृतीय ज्ञेयकाण्ड में कुल ६९ गाथायें हैं। प्रथम नयकाण्ड में नयवाद की व्यापक चर्चा उनके भेदों सहित की गयी है। द्वितीय जीवकाण्ड में ज्ञान तथा तृतीय ज्ञेयकाण्ड में ज्ञेय की मीमांसा की गयी है। सन्मति की भाषा प्राकृत (महाराष्ट्री) तथा शैली पद्यमय है। सन्मति-प्रकरण के मुख्य विवेच्य नयवाद, द्रव्य-गुण-पर्याय, अनेकान्तवाद, प्रमाण, नय-निक्षेप सम्बन्ध योजना आदि विषय हैं। चूंकि हमारा अभीष्ट द्रव्य, गुण और पर्याय का पारस्परिक सम्बन्ध है, अतः सर्वप्रथम हम द्रव्य, गुण, पर्याय का संक्षिप्त परिचय देते हुए उनके पारस्परिक सम्बन्धों की चर्चा करेंगे।

द्रव्य का स्वरूप और प्रकार

द्रव्य की अवधारणा जैन तत्त्वमीमांसा का एक विशिष्ट अंग है। जो अस्तित्ववान् है वह द्रव्य कहलाता है। 'द्रु' धातु के साथ 'य' प्रत्यय के योग से निष्पन्न 'द्रव्य' शब्द का अर्थ है— योग्य। जो भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को प्राप्त हुआ, प्राप्त होता है और प्राप्त होगा— वह द्रव्य है। जैनेन्द्र व्याकरण के अनुसार 'द्रव्य' शब्द इवार्थक निपात है 'द्रव्यं भव्ये'। इस जैनेन्द्र व्याकरण के सूत्रानुसार 'द्रु' की तरह जो हो वह द्रव्य है। जिस प्रकार बिना गांठ की लकड़ी बड़ई आदि के निमित्त से कुर्सी आदि अनेक आकारों को प्राप्त होती है उसी प्रकार द्रव्य भी बाह्य और आभ्यन्तर कारणों से उन-उन पर्यायों को प्राप्त होता रहता है। कुन्दकुन्द ने निरुक्त की दृष्टि से विचार करते हुए मुख्य रूप

*. वरिष्ठ प्रवक्ता, जैन विद्या, पार्श्वनाथ विद्यापीठ.

से द्रव्य की दो कसौटियों का निर्देश किया है, जो उन-उन सद्भूत पर्यायों को प्राप्त करता है तथा जो सत्ता से अनन्यभूत हो, वह द्रव्य है। उमास्वाति ने द्रव्य का लक्षण सत् तथा 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं' किया है^३ अर्थात् जो उत्पत्ति और विनाश को प्राप्त होते हुए भी ध्रुव या नित्य रहता है— वह द्रव्य है। कुन्दकुन्द के अनुसार जो अपने अस्तित्व स्वभाव को न छोड़ते हुए उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त होने के साथ गुणवान् और पर्यायवान् होता है, वह द्रव्य है^३। ध्रौव्य स्वभावमय नित्य, परिणमनशील अर्थ में प्रयुक्त होने वाले इस द्रव्य के अनेक पर्यायवाची शब्द उपलब्ध होते हैं यथा— सत्ता, सत् या सत्त्व, सामान्य, द्रव्य, अन्वय, वस्तु, अर्थ और विधि ये नौ शब्द सामान्यतः द्रव्य शब्द के वाचक हैं। जैन दर्शन में सत् और द्रव्य पर्यायवाची हैं। सांख्य प्रकृति पुरुष के अर्थ में, चार्वाक भूतचतुष्टय के अर्थ में और न्याय-वैशेषिक परमाणुवाद के रूप में द्रव्य शब्द को ग्रहण करते हैं। जैन दर्शन के अनुसार द्रव्य सत् है और द्रव्य का स्वभाव है उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का ऐक्य परिणाम। आगमों में सत् के स्थान पर 'अस्तिकाय' और 'द्रव्य' इन दो शब्दों का ही प्रयोग देखा जाता है। द्रव्य की सर्वप्रथम परिभाषा उत्तराध्ययन (२८/६) में है जहाँ 'गुणानां आसवो दव्वो' कहकर गुणों के आश्रयस्थल को द्रव्य कहा गया है; किन्तु इसके पूर्व की गाथा में यह भी कहा गया है कि द्रव्य, गुण और पर्याय सभी को जानने वाला ज्ञान है (उत्तरा०, २८/५)। उत्तराध्ययन की यह परिभाषा न्याय-वैशेषिक दर्शन के अधिक निकट है। द्रव्य की अन्य परिभाषा 'गुणानां समूहो दव्वो' और 'गुणपर्यायवद्द्रव्यम्' के रूप में भी मिलती है। अतः द्रव्य के स्वरूप की दृष्टि से विचार करने पर मुख्य रूप से दो अवधारणायें उभर कर सामने आती हैं— द्रव्य का सत् अर्थात् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त होना तथा गुण और पर्याययुक्त होना। ये दोनों ही परिभाषायें आचार्य उमास्वाति (२सरी-३सरी शती) ने अपने तत्त्वार्थसूत्र में दी है। इसी को और स्पष्ट करते हुए कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार (९५-९६) में कहा है कि 'जो अपरित्यक्त स्वभाव वाला उत्पाद, व्यय और ध्रौव्ययुक्त तथा गुण, पर्यायसहित है, वह द्रव्य है। अनुयोगद्वार में 'नाम' के अन्तर्गत— द्रव्यनाम, गुणनाम और पर्यायनाम इन तीन प्रकारों का उल्लेख है।^४ वहाँ द्रव्य के अर्थ में सत् संज्ञा उपलब्ध नहीं होती। उमास्वाति ने अन्य भारतीय दार्शनिक परम्पराओं में स्वीकृत सत् की अवधारणा का तुलनात्मक दृष्टि से विचार करते हुए सत् का स्वरूप निर्धारित किया, जो मुख्यतया अनेकान्तवाद पर आधारित है। जैन दर्शन सत् का आधार न केवल नित्यता या अनित्यता बल्कि नित्यानित्यता मानता है। डॉ० पद्मराजे ने सत् की अवधारणा के आधार पर भारतीय दर्शनों को पांच वर्गों में विभक्त किया है—

The Philosophy of Being or Identity,

The Philosophy of Becoming (change) or Difference,

The Philosophy subordinating Identity to Difference,

The Philosophy subordinating Difference to Identity,
The Philosophy co-ordinating both Identity and Difference.⁵

उपर्युक्त पञ्च अवधारणाओं में से जैन अवधारणा का उल्लेख पांचवें वर्ग में किया है। जैन दर्शन के अनुसार सत् वह है जो भेद और अभेद सापेक्ष हो। उमास्वाति की सत् की परिभाषा में उत्पादव्यध्रौव्यत्व^६ और गुणपर्यायात्मकत्व दोनों का समावेश हो जाता है।

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य तीनों की संयुक्त अवस्था को द्रव्य कहा है।^७ अन्यत्र द्रव्य के परिमाणात्मक स्वरूप की चर्चा करते हुए वे लिखते हैं— एक द्रव्य के भीतर जो अतीत, वर्तमान और अनागत अर्थपर्याय और व्यञ्जनपर्याय होती है वह द्रव्य उतना ही होता है।^८ सिद्धसेन ने द्रव्य के सन्दर्भ में पर्याय की चर्चा की है गुण की नहीं, क्योंकि वे मूलतः गुण और पर्याय को अभिन्न मानते हैं। जैन दर्शन में द्रव्य के छः प्रधान भेद किये गये हैं— जीव, धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और काल। द्रव्य के दो भेद संयोग और समवाय द्रव्य भी मिलते हैं।^९ इसके अतिरिक्त द्रव्य के मूर्त-अमूर्त, क्रियावान्-भाववान्, एक-अनेक अपेक्षा, परिणामी व नित्य अपेक्षा, सप्रदेशी-अप्रदेशी, क्षेत्रवान्-अक्षेत्रवान्, सर्वगत-असर्वगत आदि भेद भी मिलते हैं।

गुण का स्वरूप और प्रकार

द्रव्य के सहभावी धर्म को गुण कहते हैं। आगम साहित्य में मूलतः द्रव्य और पर्याय की चर्चा है। कहीं-कहीं गुण की भी चर्चा उपलब्ध होती है; किन्तु वहां गुण का वह अर्थ अभिप्रेत नहीं है, जो वर्तमान सन्दर्भ में विवक्षित है। आचाराङ्गसूत्र में एक स्थल पर आया है— 'जे गुणे से आवट्टे, जे आवट्टे से गुणे'।^{१०} यहां गुण का अर्थ इन्द्रिय-विषय है। इसी प्रकार व्याख्याप्रज्ञप्ति में पञ्चास्तिकाय के सन्दर्भ में 'गुण' शब्द का प्रयोग अनेकशः हुआ है; किन्तु वहां गुण का अर्थ सहभावी धर्म के अर्थ में न होकर उपकारक शक्ति के अर्थ में है। प्राचीन आगम साहित्य में सहभावी व क्रमभावी— दोनों ही धर्मों का पर्याय पद से निरूपण किया गया है। अनुयोगद्वार और उत्तराध्ययन में 'गुण' का ज्ञेय के सन्दर्भ में स्वतन्त्र निरूपण हुआ है, पर अनुयोगद्वार और उत्तराध्ययन की परम्परा उत्तरकालीन है। उत्तराध्ययनसूत्र में द्रव्य को गुणों का आश्रय न मानकर गुणों को एकमात्र द्रव्याश्रित सिद्ध किया है। वस्तुतः गुण द्रव्य के आश्रित रहते हैं, यह परिभाषा गुणों का द्रव्य के साथ नैरन्तर्य सूचित करती है।

उत्तराध्ययन में गुण और पर्याय का स्वतन्त्र लक्षण किया गया है। उमास्वाति ने भी द्रव्य की परिभाषा में गुण और पर्याय दोनों का उल्लेख किया है। गुण की परिभाषा करते हुए उन्होंने कहा है कि 'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः'।^{११} उमास्वाति की इस परिभाषा

में निर्गुण विशेषण का प्रयोग महत्त्वपूर्ण है। यह परिभाषा सामान्यतया आत्मविरोधी-सी प्रतीत होती है; किन्तु इस परिभाषा की मूलभूत दृष्टि यह है कि यदि हम गुण का भी गुण मानेंगे तो अनवस्था दोष का प्रसंग आयेगा। द्रव्य के साथ गुणों की अपरिहार्यता है; किन्तु गुण में गुणों का सद्भाव नहीं है। वैशेषिक दर्शन में गुण की द्रव्य से स्वतन्त्र सत्ता मानी गयी है। उनके अनुसार द्रव्य जब उत्पन्न होता है तब प्रथम क्षण में वह निर्गुण होता है। बाद में समवाय के द्वारा द्रव्य और गुण का सम्बन्ध स्थापित होता है। जैन दर्शन के अनुसार द्रव्य गुण का अविनाभावी सम्बन्ध है। जिस प्रकार द्रव्य की गुणों से पृथक् कोई सत्ता नहीं है उसी प्रकार गुणों की द्रव्य से पृथक् कोई अभिव्यक्ति नहीं होती। भट्ट अकलंक ने “नित्यं द्रव्यमाश्रित्य ये वर्तन्ते ते गुणा इति” कहकर गुण की परिभाषा की है।

गुण के भेद

गुण के दो भेद किये गये हैं— १. सामान्य या साधारण गुण तथा २. विशेष या असाधारण गुण। जो गुण समस्त द्रव्यों में समान रूप से पाये जाते हैं, सामान्य गुण कहलाते हैं। साधारण या सामान्य गुणों से केवल द्रव्यत्व की सिद्धि होती है और विशेष गुणों से द्रव्य विशेष की सिद्धि होती है जैसे— चैतन्य गुण जीव द्रव्य में ही होता है, शेष पांच द्रव्यों में नहीं। अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व, अचेतनत्व, मूर्तत्व, अमूर्तत्व ये दस सामान्य गुण पाये जाते हैं। प्रवचनसार की तात्पर्यवृत्ति के अनुसार अस्तित्व, नास्तित्व, एकत्व, द्रव्यत्व, पर्यायत्व, सर्वगतत्व, असर्वगतत्व, सप्रदेशत्व, अप्रदेशत्व, मूर्तत्व, साक्रियत्व, अक्रियत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व, कर्तृत्व, अकर्तृत्व, भोक्तृत्व, अभोक्तृत्व, अगुरुलघुत्व इत्यादि सामान्य गुण हैं।^{१२} नयचक्र, आलापपद्धति, द्रव्यानुयोगतर्कणा आदि ग्रन्थों में उपर्युक्त सामान्य गुणों के अतिरिक्त चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्तत्व, अमूर्तत्व चार सामान्य गुणों का उल्लेख और मिलता है।

विशेष गुण वे हैं जो समस्त द्रव्यों में समान रूप से उपलब्ध नहीं होते। दूसरे शब्दों में, वे विशेषताएं या लक्षण जिनके आधार पर एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य से अलग किया जा सकता है, विशिष्ट गुण कहे जाते हैं। इन विशेष गुणों की संख्या सोलह है— ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, गतिहेतुत्व, वर्तनाहेतुत्व, अवगाहहेतुत्व, चेतनत्व, मूर्तत्व और अमूर्तत्व। इनमें से जीव व पुद्गल में छः-छः तथा शेष चार द्रव्यों में तीन-तीन होते हैं। प्रवचनसार टीका तात्पर्यवृत्ति के अनुसार अवगाहनाहेतुत्व, गतिहेतुत्व, स्थितिहेतुत्व, वर्तनाहेतुत्व, रूपादिमत्व, चेतनत्व आदि विशेष गुण हैं। ये क्रमशः आकाश, धर्म, अधर्म, काल, पुद्गल और जीव के विशेष गुण हैं। द्रव्य के अनुसार उसके गुण भी मूर्त, चेतन होते हैं। अकलंक ने अस्तित्व,

अन्यत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, पर्यायत्व, असर्वगतत्व, अनादिसन्तति-बन्धनबन्धत्व, प्रदेशत्व, अरूपत्व, नित्यत्व आदि भावों को पारिणामिक भाव कहा है।^{१३} गुण परिणामनशील हैं; किन्तु एक गुण अन्य गुण रूप परिणामन नहीं करता।

पर्याय स्वरूप और प्रकार

द्रव्य के विकार अथवा अवस्था विशेष को पर्याय कहते हैं। जैन दार्शनिकों के अनुसार द्रव्य में घटित होने वाले विभिन्न परिवर्तन ही पर्याय कहलाते हैं। व्युत्पत्ति के अनुसार जो स्वभाव-विभाव रूप से गमन करती है, परिणामन करती है, वह पर्याय है।^{१४} दूसरी परिभाषा के अनुसार जो द्रव्य और गुण दोनों के आश्रित रहता है, उसे पर्याय कहा जाता है।^{१५} जिस प्रकार द्रव्य का सहभावी धर्म गुण कहलाता है उसी प्रकार द्रव्य का क्रमभावी धर्म पर्याय कहलाता है। जैसे— सुख-दुःख, हर्ष आदि। दूसरे शब्दों में कहें तो द्रव्य का अन्वयी अंश गुण और व्यतिरेकी अंश पर्याय कहलाता है। द्रव्य भेद में अभेद का प्रतीक है जबकि पर्याय अभेद में भेद का। कहा भी गया है 'परिसमन्तादायः पर्यायः'^{१६} अर्थात् जो सब ओर से भेद को प्राप्त करे वह पर्याय है। पूज्यपाद ने पर्याय, विशेष, अपवाद, व्यावृत्ति को एकार्थक बताया है।^{१७} पर्याय के लिये 'परिणाम' शब्द का प्रयोग भी मिलता है। उर्ध्वतासामान्य रूप द्रव्य की पर्यायों को परिणाम कहा जाता है। उर्ध्वतासामान्य का अर्थ है— कालकृत भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में समानता की अनुभूति। जैसे द्रव्यार्थिकनय से जीव शाश्वत है और पर्यायार्थिक नय से अशाश्वत है। उमास्वाति ने भी पर्याय के अर्थ में परिणाम का प्रयोग किया है।^{१८} एक धर्म की निवृत्ति होने पर इतर धर्म की उत्पत्तिरूप द्रव्य की जो परिस्पन्दनात्मक पर्याय है उसे उर्ध्वतासामान्य परिणाम कहते हैं।

पर्यायों के प्रकारों की आगमिक आधारों पर चर्चा करते हुए मुनि कन्हैयालाल 'कमल' ने द्रव्यानुयोग (पृ० ३८) में कहा है कि प्रज्ञापनासूत्र में पर्याय के दो भेद प्रतिपादित हैं— (१) जीव पर्याय तथा (२) अजीव पर्याय। ये दोनों प्रकार की पर्यायें अनन्त होती हैं। पुनः पर्याय के दो भेद हैं— द्रव्य पर्याय और गुण पर्याय।^{१९} अनेक द्रव्यों में ऐक्य का बोध कराने में कारणभूत द्रव्य पर्याय है। गुणपर्याय वह है जो गुण के द्वारा अन्वय रूप एकत्व प्रतिपत्ति का कारणभूत होती है। एक अन्य अपेक्षा से पर्याय के दो भेद किये गये हैं— १. अर्थपर्याय और २. व्यञ्जनपर्याय। भेदों की परम्परा में जितना सदृश परिणाम प्रवाह किसी एक शब्द के लिये वाच्य बनकर प्रयुक्त होता है, वह पर्याय व्यञ्जनपर्याय कहलाता है तथा परम्परा में जो अन्तिम और अविभाज्य है वह अर्थपर्याय कहलाता है, जैसे चेतन पदार्थ का सामान्य रूप जीवत्व है। काल, कर्म आदि के कारण उनमें उपाधिकृत संसारित्व, मनुष्यत्व, पुरुषत्व आदि भेदों वाली परम्पराओं में से 'पुरुष' शब्द का प्रतिपाद्य जो सदृश पर्याय प्रवाह है वह व्यञ्जनपर्याय

तथा पुरुष रूप में सदृश पर्याय के अन्तर्गत दूसरे बाल, युवा आदि जो भेद हैं उन्हें अर्थपर्याय कहते हैं।^{२०} दूसरे शब्दों में कहें तो एक ही पर्याय की क्रमभावी पर्यायों को अर्थपर्याय तथा पदार्थ की उसके विभिन्न प्रकारों एवं भेदों में जो पर्याय होती है, उसे व्यञ्जनपर्याय कहते हैं। इनमें से व्यञ्जनपर्याय स्थूल और दीर्घकालिक पर्याय है तथा अर्थपर्याय सूक्ष्म और वर्तमानकालिक पर्याय है। अर्थपर्याय मूर्त-अमूर्त सभी द्रव्यों में होती है जबकि व्यञ्जनपर्याय का सम्बन्ध केवल मूर्त अथवा संसारी जीव व पुद्गल के साथ ही है। पर्यायों का एक विभाजन स्वभाव पर्याय और विभाव पर्याय के रूप में भी मिलता है, जो पर्याय परनिमित्तों से निरपेक्ष होती है उसे स्वभाव पर्याय तथा जो परनिमित्तों से सापेक्ष होती है उसे विभाव पर्याय कहा जाता है। पर्याय के लक्षण हैं— एकत्व, पृथकत्व, संख्या, संस्थान, संयोग तथा विभाग।^{२१} पर्याय द्रव्य से सर्वथा भिन्न नहीं पायी जाती; किन्तु वह द्रव्य स्वरूप ही उपलब्ध होती है।

द्रव्य और गुण का सम्बन्ध

द्रव्य और गुण के सम्बन्ध को लेकर भारतीय दर्शन में मुख्य रूप से दो अवधारणायें उपलब्ध होती हैं। उनमें से एक अवधारणा एकान्ततः भिन्नता को आधार मानती है तो दूसरी एकान्ततः अभिन्नता को। एकान्त-भेद को मानने वाले वैशेषिकों के अनुसार द्रव्य और गुण सर्वथा भिन्न हैं। आद्य क्षण में गुण निर्गुण होता है तदनन्तर समवाय नामक पदार्थ के द्वारा दोनों में सम्बन्ध स्थापित होता है। द्रव्य और गुण की इस पृथकता के दो मुख्य कारण हैं—

१. लक्षण की भिन्नता
२. ग्राहक प्रमाण की भिन्नता।

वैशेषिकों का कहना है कि द्रव्य और गुण के लक्षण भिन्न-भिन्न हैं। द्रव्य गुणों का आधार है जबकि गुण द्रव्य के आश्रित रहते हैं। द्रव्य गुणवान् होता है जबकि गुण निर्गुण होते हैं। द्रव्य क्रियावान् होता है जबकि गुण निष्क्रिय होते हैं। अतः दोनों नितान्त भिन्न हैं।^{२२} इसी प्रकार गुण और द्रव्य के ग्राहक प्रमाण भी भिन्न-भिन्न हैं। घट, पट आदि द्रव्यों का ग्रहण एक से अधिक इन्द्रियों द्वारा होता है और इसमें मानसिक अनुसन्धान भी साथ होता है जबकि रूप, रस, गन्ध आदि गुणों का ग्रहण एक इन्द्रिय सापेक्ष होता है तथा इसमें मानसिक अनुसन्धान भी नहीं होता। इस प्रकार दोनों के लक्षण और ग्राहक प्रमाण भिन्न होने से दोनों पृथक् हैं।

सिद्धसेन दिवाकर ने एकान्तभेदवादी वैशेषिकों की इस दलील को सन्मति-प्रकरण में 'केइ' (केचिद्) शब्द द्वारा पूर्वपक्ष के रूप में रखा है—

रूप-रस-गंध-फासा असमाणगगहण-लक्खणा जम्हा।

तम्हा दव्वाणुगया गुण त्ति ते केइ इच्छन्ति।।^{२३}

वृत्तिकार अभयदेव सूरि ने अपने 'सन्मति-तर्क-प्रकरणम्' में 'केइ' पद की व्याख्या में भेदवादी वैशेषिकों तथा 'स्वयूथ्य' अर्थात् कतिपय सिद्धान्त से अनभिज्ञ जैनाचार्यों का ग्रहण किया है। पं० सुखलालजी एवं बेचरदासजी ने वृत्तिकार के अभिमत की समीक्षा की है। उनकी मान्यता है कि द्रव्य को गुणों से भिन्न मानने वाला कोई जैनाचार्य तो सम्भव ही नहीं है।^{२४} उपाध्याय यशोविजय ने अपने 'द्रव्य-गुण-पर्याय नो रास'^{२५} में "कोइक दिगम्बरानुसारी शक्तिरूप गुण भाषइ छइ, जे माटे ते गुण पर्याय नु कारण गुण" कहकर किसी दिगम्बर विद्वान् द्वारा भेद की परम्परा मानने का उल्लेख किया है; किन्तु यह दिगम्बर विद्वान् कौन है? यह कहना सर्वथा कठिन है, क्योंकि द्रव्य और गुण में सर्वथा भेद जैन दर्शन की अनेकान्त व्यवस्था के नितान्त प्रतिकूल है। फिर भी यह कल्पना की जा सकती है कि द्रव्य और गुण में भेद स्वीकारने वाले वैशेषिकों से प्रभावित रहे होंगे।

इस एकान्त भेदवाद का प्रबल खण्डन उमास्वाति, सिद्धसेन, अकलंक, कुन्दकुन्द, हरिभद्र आदि आचार्यों ने किया है। न्याय-वैशेषिक दार्शनिक व्यपदेश, संख्या, संस्थान, विषय आदि के आधार पर द्रव्य और गुण को भिन्न बतलाते हैं; किन्तु कुन्दकुन्दाचार्य के अनुसार व्यपदेश, संख्या, संस्थान, विषय आदि जिस तरह भेद में होते हैं उसी तरह अभेद में भी होते हैं। जहाँ अनेक द्रव्यों की अपेक्षा प्रतिपादन हो वहाँ व्यपदेश आदि का भेद-भेदवाद का प्रतीक बन जाता है। जहाँ एक ही द्रव्य की अपेक्षा कथन हो वहाँ व्यपदेश आदि अभेद का प्रतीक बन जाता है।^{२६} अतः द्रव्य और गुण सर्वथा भिन्न नहीं हैं। सर्वथा भेद वहीं होता है जहाँ प्रदेश भेद हो। जिस प्रकार स्वर्ण और पीत में संज्ञा आदि का भेद होने पर भी प्रदेश भेद नहीं है उसी प्रकार द्रव्य और गुण में भी प्रदेश भेद नहीं है। वैशेषिकों का यह तर्क कि धर्म और धर्मों सर्वथा भिन्न होने पर भी समवाय सम्बन्ध से सम्बन्धित होते हैं, जैन दर्शन को मान्य नहीं है। जैन दार्शनिक कहते हैं कि एक तो समवाय की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, यदि समवाय की स्वतन्त्र सत्ता मान भी लें तो जिस प्रकार पट में पटत्व का हेतु समवाय है उसी प्रकार समवाय में समवायत्व के सम्बन्ध का हेतु कोई दूसरा समवाय होना चाहिए। इसी तरह दूसरे समवाय में समवायत्व के सम्बन्ध का हेतु कोई तीसरा समवाय मानना होगा और इस प्रकार अनवस्था दोष की प्रसक्ति होगी। यदि यह कहा जाय कि समवाय में समवायत्व का होना अपेक्षित नहीं है तो समवाय निःस्वभाव हो जायेगा। अतः धर्म और धर्मों को सर्वथा भिन्न मानना और फिर उसमें समवाय सम्बन्ध मानना कथमपि युक्तियुक्त नहीं है। जैन दर्शन ऐसे पदार्थों में तादात्म्य सम्बन्ध मानता है।^{२७} जैनों के अनुसार गुण से रहित होकर न तो द्रव्य की कोई सत्ता होती है, न द्रव्य से रहित गुण की। अतः सत्ता

के स्वर पर गुण और द्रव्य में अभेद है जबकि वैचारिक स्तर पर दोनों में भेद किया जा सकता है।^{२८}

सिद्धसेन दिवाकर का अभिमत

सिद्धसेन दिवाकर अनेकान्तवाद के प्रतिष्ठापक होने के कारण द्रव्य और गुण के भेदाभेद सम्बन्ध को सापेक्षता के आधार पर समाहित करते हैं। जैनों की 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' की व्याख्या को आधार बनाकर भेदवादी कहते हैं कि द्रव्य का लक्षण है— स्थिरता और गुण का लक्षण है— उत्पाद व्यय, अतः दोनों के लक्षण भिन्न होने से दोनों भिन्न हैं। सिद्धसेन के अनुसार इस अवधारणा में अव्याप्तिदोष है। द्रव्य की तरह गुण भी स्थिर रहते हैं और गुण की तरह द्रव्य का भी उत्पाद-व्यय देखा जाता है; किन्तु मात्र स्थिरता को द्रव्य का, एवं उत्पत्ति-विनाश को गुण का लक्षण बताना अव्याप्तिदोष है। यह लक्षण केवल द्रव्य और केवल गुण में भिन्न-भिन्न घटेगा; किन्तु एक समग्र सत् में नहीं।^{२९} सिद्धसेन की मान्यता है कि धर्मी और धर्म केवल एकान्त भिन्न नहीं हैं, वे परस्पर अभिन्न भी हैं। धर्मी भी, धर्म की भांति उत्पाद-विनाशवान् ही है और धर्म भी धर्मी की भांति स्थिर है। अतः द्रव्य या सत् धर्म-धर्मी उभय रूप है। वे तर्क देते हैं कि यदि गुण द्रव्य से भिन्न हैं तो या वे मूर्त होंगे या अमूर्त। यदि मूर्त हों तो परमाणु भी इन्द्रियग्राह्य बन जायेंगे जो सम्भव नहीं है और यदि अमूर्त हों तो उनका इन्द्रियों द्वारा ग्रहण ही सम्भव नहीं होगा जबकि घट, पट, नील आदि का प्रत्यक्ष इन्द्रियों द्वारा ग्रहण होता है अतः द्रव्य को गुणों से भिन्न नहीं माना जा सकता।^{३०} सिद्धसेन के अनुसार उपर्युक्त दोषापत्ति से बचने का श्रेयस्कर मार्ग है— भेदाभेद की स्वीकृति। भेदाभेद मानने पर मूर्त-अमूर्त का प्रश्न स्वतः समाहित हो जाता है। सिद्धसेन दिवाकर ने मूर्त-अमूर्त की भेद रेखा वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श की सहभाविता से अलग इन्द्रियों की ग्राह्यता व अग्राह्यता के आधार पर निर्धारित की है। कुन्दकुन्द ने भी मूर्त को इन्द्रियग्राह्य और अमूर्त को इन्द्रिय अग्राह्य कहा है।^{३१} सन्मतिकार ने मूर्त और अमूर्त के परिप्रेक्ष्य में मूलतः परमाणु का उल्लेख किया है। जहाँ तक परमाणु के इन्द्रियग्राह्य न होने का प्रश्न है, सिद्धसेन का विचार आगम सम्मत है, पर जहाँ वे मूर्त-अमूर्त की भेदक कसौटी के रूप में इन्द्रियग्राह्यता को आधार बनाते हैं वहाँ वे आगम परम्परा से भिन्न जाते प्रतीत होते हैं।

द्रव्य और गुण का एकान्त अभेदवाद

भेदवादी द्रव्य की निरंश अखण्ड सत्ता मानते हैं। उनके अनुसार द्रव्य में गुणकृत विभाग नहीं होते। द्रव्य और गुण परस्पर अव्यतिरिक्त होने से अभिन्न हैं। अद्वैत वेदान्ती, सांख्य और मीमांसक वस्तु को सर्वथा सामान्य मानते हैं। उनके मत में सामान्य से अलग विशेष कहीं दृष्टिगोचर ही नहीं होते। वे मानते हैं कि सामान्य से अलग विशेषों का

अस्तित्व मानने पर प्रश्न उठता है कि विशेषों में विशेषत्व होता है या नहीं? यदि विशेषों में विशेषत्व होता है तो कहना होगा कि वही विशेषत्व सामान्यवादियों का सामान्य है। यदि यह कहें कि विशेषों में विशेषत्व नहीं होता तो विशेष निःस्वभाव हो जायेंगे। अतः सामान्य ही सत् है।^{३२}

जैन दर्शन के अनुसार वस्तु तत्त्व न तो केवल सामान्य है न केवल विशेष बल्कि वह सामान्य-विशेषात्मक है। विशेष रहित सामान्य और सामान्य रहित विशेष खरविषाणवत असम्भव है। द्रव्य, गुण और पर्याय में से अभेदवादी केवल द्रव्य को ही पदार्थ मानते हैं। गुण और पर्याय के आधार पर होने वाली भिन्नता उनकी दृष्टि से मिथ्या अथवा प्रतिभास मात्र है। जैन दार्शनिक द्रव्य को गुणपर्यायवत् मानने से द्रव्य और गुण का नितान्त अभेद स्वीकार नहीं करते।^{३३} डॉ० महेन्द्र कुमार जैन के अनुसार गुण को द्रव्य से पृथक् नहीं किया जा सकता, इसलिए वे द्रव्य से अभिन्न हैं; किन्तु प्रयोजन आदि भेद से उसका विभिन्न रूप से निरूपण किया जा सकता है, अतः वे भिन्न भी हैं।^{३४}

सिद्धसेन दिवाकर का अभिमत

सिद्धसेन दिवाकर के अनुसार द्रव्य और गुण दोनों परस्पर भिन्नाभिन्न हैं। द्रव्य और गुण में न तो एकान्त अभेद है न एकान्त भेद। सामान्य और विशेष दोनों परस्पर अनुविद्ध हैं। एकान्त सामान्य अथवा एकान्त विशेष के प्रतिपादन का अर्थ होगा द्रव्यरहित पर्याय और पर्यायरहित द्रव्य का प्रतिपादन। वस्तुतः कोई भी विचार या वचन एकान्त सामान्य या विशेष के आधार पर प्रवृत्ति नहीं कर सकता। दोनों सापेक्ष रहकर ही यथार्थ का प्रतिपादन कर सकते हैं। वृत्तिकार अभयदेवसूरि नियम का उल्लेख करते हैं— यत् यदात्मकं भवति तत् तद्भावे न भवति।^{३५} सिद्धसेन कहते हैं कि सामान्य के अभाव में विशेष का और विशेष के अभाव में सामान्य का सद्भाव कथमपि सम्भव नहीं है। जिस प्रकार एक ही पुरुष सम्बन्धों की भिन्नता के कारण पिता, पुत्र, भाजा, मामा आदि के रूप में भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा पुकारा जाता है उसी प्रकार एक और निर्विशेष होने पर भी सामान्य भिन्न-भिन्न इन्द्रियों के सम्बन्ध से भिन्न रूप में व्यवहृत होता है। वही सामान्य जब नेत्रग्राह्य होता है तो रूप एवं श्रोतग्राह्य होता है तो शब्द कहलाता है। अतः गुण वस्तुतः द्रव्य से भिन्न नहीं है परमार्थतः सत्ता द्रव्य की ही है।^{३६}

सन्मति-प्रकरण में सिद्धसेन ने अभेदवादी के उपर्युक्त मन्तव्य को पूर्वपक्ष में रखकर खण्डन किया है। वे अभेदवादी विचार का इस अंश तक तो समर्थन करते हैं कि सम्बन्ध विशेष के कारण वही सामान्य द्रव्य भिन्न-भिन्न रूपों में व्यवहृत होता है, परन्तु यहाँ प्रश्न उठता है कि जहाँ एक ही इन्द्रिय के सम्बन्ध से सम्बद्ध दो वस्तुओं में विषमता परिलक्षित होती है, वहाँ इसकी उपपत्ति कैसे हो? उदाहरणार्थ— एक समान

दो कृष्ण पदार्थों का चक्षु के साथ सम्बन्ध होने पर 'ये कृष्ण वर्ण वाले हैं' इतना तो बोध हो जाता है पर वह किसी दूसरे कृष्ण पदार्थ से अनन्तगुणा कृष्ण है या असंख्यगुणा इस भेद का ज्ञान सम्बन्ध मात्र से कैसे होगा? एक ही पुरुष भिन्न-भिन्न सम्बन्धों के कारण पिता, पुत्र, भाई, मामा के रूप में पहचाना तो जाता है, परन्तु वही पुरुष एक की अपेक्षा लम्बा और दूसरे की अपेक्षा छोटा या मोटा, दुबला आदि कैसे घटित होगा? इस विषयता को प्रतिभास या कल्पना भी नहीं कहा जा सकता है।^{३०} आगमों में भी एक परमाणु का दूसरे परमाणु का अनन्तगुणा भेद वर्णित है। इसी प्रकार वर्ण, रस, गन्ध आदि के अवान्तर भेदों में षड्गुण हानि-वृद्धि की दृष्टि तारतम्य निरूपित है अतः यह मात्र कल्पना या आरोपण नहीं है। इस प्रकार द्रव्य और गुणों के बीच एकान्त भेद या अभेद न मानकर भेदाभेद ही मानना चाहिए।

गुण और पर्याय : एकार्थक या भिन्नार्थक

यहाँ यह एक विचारणीय प्रश्न है कि गुण और पर्याय एकार्थक हैं या भिन्नात्मक। उत्तराध्ययनसूत्र में द्रव्य, गुण, पर्याय तीनों का स्वतन्त्र लक्षण निरूपित है।^{३१} उमास्वाति, कुन्दकुन्द और पूज्यपाद ने द्रव्य और गुण तथा गुण और पर्याय में अर्थभेद बताया है। अर्थ कहने से द्रव्य, गुण और पर्याय तीनों का ग्रहण होता है। सिद्धसेन दिवाकर ने गुण और पर्याय का अभेदपक्ष स्वीकार किया है। उन्होंने द्रव्य और पर्याय इन दो को ही मान्य किया है। उनका यह विचार आगमसम्मत है—

दो उण णया भगवथा दव्वड्ढिय-पज्जवाड्ढिया नियमा।

एत्तो य गुणाविसेसे गुणड्ढियणओ वि जुज्जंतो।।

जं पुण अरिहया तेसुतेसु सुत्तेसु गोयमाइणं।

पज्जवसण्णा णियमा वागरिया तेण पज्जाया।।^{३२}

अर्थात् भगवान् ने द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ये दो ही नय निश्चित किये हैं। यदि पर्याय से भिन्न गुण होता तो गुणार्थिक नय भी उन्हें निश्चित करना चाहिये था। चूँकि अर्हत्तों ने उन-उन सूत्रों में गौतम आदि के समक्ष पर्याय संज्ञा निश्चित करके उसी का विवेचन किया है अतः पर्याय से भिन्न गुण नहीं है। ध्यातव्य है कि पर्यायार्थिक नय से भिन्न गुणार्थिक नय की उद्भावना करते हुए गुण का निरास तथा गुण और पर्याय के अभेद प्रस्थापना का सर्वप्रथम प्रयास सिद्धसेन ने किया है। अकलंक और विद्यानन्दी ने भेद-अभेद दोनों पक्षों को स्वीकार किया है। अकलंक ने 'गुणपर्यायवद्द्रव्यम्' की परिभाषा में लिखा है कि गुण ही पर्याय हैं, क्योंकि गुण और पर्याय दोनों में समानाधिकरण्य है। प्रश्न हो सकता है कि गुण और पर्याय जब एकार्थक हैं तो 'गुणवद्द्रव्यम्' या 'पर्यायवद्द्रव्यम्' ऐसा निर्देश होना चाहिए था— गुणपर्यायवद्द्रव्यम् क्यो? इसका समाधान करते हुए वार्तिककार लिखते हैं कि वस्तुतः द्रव्य से भिन्न गुण

उपलब्ध नहीं होते। द्रव्य का परिणामन ही पर्याय है और गुण उसी परिणामन की एक अभिव्यक्ति है। तत्त्वतः गुण और पर्याय में अभेद है।

द्रव्य और पर्याय का भेदाभेदवाद

द्रव्य में गुण और पर्याय दोनों रहते हैं। गुण का अर्थ है— सहभावी धर्म या हमेशा रहने वाले धर्म तथा पर्याय का अर्थ है क्रमभावी धर्म या परिवर्तन को प्राप्त होते रहने वाले धर्म। सिद्धसेन ने आगमिक सन्दर्भों के आधार पर गुण और पर्याय के द्वैत का निराकरण कर दोनों की एकार्थता सिद्ध की। अब जब गुण और पर्याय एक हैं तो द्रव्य और पर्याय का क्या सम्बन्ध है, यह प्रश्न विचारणीय है।

न्याय-वैशेषिक आदि दर्शन भेदवादी होने के कारण गुण, कर्म आदि का द्रव्य से भेद मानते हैं तथा सांख्य और वेदान्ती उनका अभेद। जैन दार्शनिक दोनों में भेदाभेद का सम्बन्ध मानते हैं। आचाराङ्ग में कहा गया है— 'जे आया से विनाया, जे विनाया से आया'।^{१०} अर्थात् जो आत्मा है वही विज्ञाता है और जो विज्ञाता है वही आत्मा है। प्रथमदृष्टया यह सूत्र अभेद का वाचक प्रतीत होता है पर जैसा कि निर्युक्तिकार ने कहा है— 'णत्थि जिणवयणं णयविहूणं', किसी भी कथन के हार्द को सापेक्षता के आधार पर ही समझा जा सकता है। ज्ञान आत्मा का परिणाम विशेष है, जो बदलता भी रहता है, अतः पर्याय दृष्टि से दोनों भिन्न भी है; किन्तु फल की दृष्टि से विचार करें तो आत्मा की ज्ञान से अभिन्नता सिद्ध होती है। ज्ञान का फल है विरति। मिथ्यादृष्टि को ज्ञान नहीं होता और न ही विरति इसलिए उसका ज्ञान अज्ञान कहलाता है। भगवतीसूत्र में 'आया भंते सिय णाणे, सिय अण्णाणे, णाणे पुण नियमं आया' कहकर सूत्रकार ने आत्मा को ज्ञान से कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न कहा है।^{११} आत्मा ज्ञान का परिणाम है अतः वह नियमतः आत्मा ही है। इसी प्रकार द्रव्य और पर्याय दोनों कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न हैं। सिद्धसेन दिवाकर के अनुसार द्रव्यार्थिक नय का विषय है— द्रव्य और पर्यायार्थिकनय का विषय है— पर्याय। ये दोनों अन्योन्याश्रित हैं। सिद्धसेन का मत है कि दोनों नय अलग-अलग मिथ्यादृष्टि हैं। दोनों में से किसी एक नय का विषय सत् का लक्षण नहीं बनता। सामान्य और विशेष मिलकर ही सत् का लक्षण बनते हैं, अतः द्रव्य और पर्याय दोनों भिन्नाभिन्न हैं।

द्रव्य : उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का समन्वय

'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' इस परिभाषा के अनुसार उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की समन्वित अवस्था ही सत् या द्रव्य कहलाती है। स्थानाङ्ग^{१२} में इसे मातृकापद कहा गया है। जिस प्रकार समस्त शास्त्रों का आधार अकार आदि वर्णाक्षर हैं उसी प्रकार समस्त तत्त्वमीमांसा का आधार यह त्रिपदी है। अन्यत्र यह 'उप्पन्नेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा' इस रूप में भी प्राप्त होता है। सिद्धसेन दिवाकर ने उमास्वाति द्रव्य के लक्षण को यथावत्

माना है। उनकी विशेषता यह है कि वे पूर्व प्रचलित द्रव्य के स्वरूप को यथावत् स्वीकार करते हुए भी उसका नय दृष्टि से विवेचन करते हैं। सन्मति-प्रकरण के अनुसार पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से सभी पदार्थ नियम से उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं। द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि-सी सभी पदार्थ सर्वदा के लिये उत्पत्ति और विनाश रहित ही हैं। उत्पत्ति और नाश रूप पर्यायों से रहित द्रव्य नहीं होता और द्रव्य अर्थात् ध्रुवांश से रहित कोई पर्याय नहीं होती। कहा भी है—

द्वयं पञ्जववियुयं दव्वविउत्ता य पञ्जवा णत्थि।

उप्पाय-ट्टिइ-भंगा हंदि दवियलक्खणं एयं।।^{४३}

यह त्रिपदी ही वस्तु की अनन्तधर्मात्मकता का आधार है। वस्तु के त्रयात्मक स्वरूप का समर्थन समन्तभद्र,^{४४} जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण,^{४५} अमृतचन्द्रसूरि,^{४६} जिनदासगणि^{४७} तथा अभयदेवसूरि^{४८} आदि प्रमुख जैन दार्शनिकों ने भी किया है।

उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य का भेदाभेदवाद

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का समन्वित रूप ही द्रव्य या सत् है, परन्तु इन तीनों का परस्पर क्या सम्बन्ध है, ये तीनों एक साथ होते हैं या क्रम से, तीनों का काल भिन्न है या अभिन्न? आदि प्रश्न महत्वपूर्ण हैं। उमास्वाति ने 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' कहकर सत् की अवधारणा तो दी, लेकिन उत्पाद आदि के परस्पर सम्बन्ध की उन्होंने कोई चर्चा नहीं की। सिद्धसेन दिवाकर ने इस अवधारणा पर नयदृष्टि से विचार किया है। उनके अनुसार—

तिण्णि वि उप्पायाइं अभिण्णकाला य भिण्णकाला य।

अत्थंतरं अणत्थंतरं च दवियाहि णायव्वा।।^{४९}

अर्थात् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य तीनों का काल भिन्न भी और अभिन्न भी। इसी प्रकार उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप यह लक्षण भी लक्ष्यभूत द्रव्य या सत् से भिन्न भी है और अभिन्न भी। क्रमवर्ती दो पर्यायों को लेकर उनके उत्पाद और विनाश का यदि विचार करें तो उन्हें समकालीन कहा जा सकता है, क्योंकि जिस समय पूर्व पर्याय का विगम (नाश) होता है उसी समय उत्तर पर्याय का उत्पाद होता है। उत्पाद और विनाश के समय वस्तु सामान्य धर्म की अपेक्षा स्थिर रहती है अतः तीनों अभिन्नकालिक हैं।^{५०} यदि हम एक ही पर्याय की दृष्टि से विचार करें तो उत्पाद आदि तीनों को भिन्नकालिक मानना होगा। क्रमवर्ती पर्यायों में जहाँ पूर्व पर्याय का अन्तिम क्षण ही उत्तर पर्याय का आदि क्षण होता है वहीं एक ही पर्याय का आदि क्षण और अन्तिम क्षण भिन्न-भिन्न होता है। मृत्तिका के नाश व घट के उत्पाद का एक ही समय हो सकता है पर घट के उत्पाद और घट के ही विनाश का एक समय नहीं हो सकता। एक ही पर्याय के

उत्पत्ति और विनाश की तरह स्थिति का काल भी भिन्न ही होगा। उत्पाद का समय अर्थात् उसका प्रारम्भिक समय और विनाश अर्थात् उसका अन्तिम समय, को सिद्धसेन दिवाकर ने अंगुली के दृष्टान्त से और स्पष्ट किया है— अंगुली एक वस्तु है। अंगुली के आकुंचन और प्रसरण का काल एक नहीं हो सकता।^{५१} वक्रता और सरलता एक ही वस्तु में एक ही काल में सम्भव न होने से क्रमवर्ती है। दो क्रमवर्ती पर्यायों में उत्पाद और नाश का काल भेद नहीं होता इसलिए जो समय अंगुली के आकुंचन रूप अवस्था के उत्पाद का है वही समय उसके प्रसरण रूप अवस्था के व्यय का है। दोनों ही अवस्थाओं में अंगुली नामक वस्तु स्थिर है। अतः एक ही अंगुली में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य तीनों की समकालिकता सिद्ध होती है।

सिद्धसेन ने उत्पाद आदि के भेदाभेद और त्रैकालिकता की सिद्धि का जो प्रयास किया है उसके मूल में उनकी अनेकान्तिक दृष्टि है। उन्होंने प्रत्येक विरोधी अवधारणा के समन्वय का प्रयास किया है। वे मानते हैं कि महासत्ता रूप द्रव्य तथा अन्तिम अविभाज्य अंश पर्याय से अतिरिक्त सभी पर्याय पदार्थ द्रव्य और पर्याय के उभय रूप होते हैं। द्रव्य और पर्याय दोनों मिलकर ही सत् का सर्वाङ्ग लक्षण बनते हैं। द्रव्य के सन्दर्भ में उन्होंने पर्याय को ही माना है तथा गुण को पर्याय में ही सन्निविष्ट माना है। हृदनुसार गुणार्थिक नय की परिकल्पना करते हुए भी मूलतः द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दो नयों में ही समूची तत्त्वमीमांसा एवं ज्ञानमीमांसा को अन्तर्भावित करने का प्रयास किया है। अनेकान्त के आधाररूप इस द्रव्य, गुण, पर्याय के सन्दर्भ में सिद्धसेन के विचार जहाँ अनेक अंशों में आगम-विचार-सरणि का समर्थन करते हैं वहीं उनके कतिपय स्वोपज्ञ मन्तव्यों की भी पुष्टि करते हैं।

सन्दर्भ :

१. **जैनेन्द्र व्याकरण**, ४.१.१५८.
२. **तत्त्वार्थसूत्र**, ५/२९.
३. **प्रवचनसार**, ज्ञेयाधिकार-३.
४. **अनुयोगद्वार**, २५५.
५. **Dr. Padmarajiah, Jain Theories of Reality & Knowledge, Jain Sahitya Vikas Mandal, Bombay 1963, p. 26.**
६. **तत्त्वार्थसूत्र**, ५/२९.
७. **सन्मतिप्रकरण**, १/१२.
८. **वही**, १/३१.
९. **धवला**, १/१/१/१/१७/६.

१०. आचारांगसूत्र, १/१/५.
११. तत्त्वार्थसूत्र, ५/४१.
१२. जैनसिद्धान्तदीपिका, १/३८.
१३. तत्त्वार्थवार्तिक, २/७.
१४. स्वभावविभावरूपतया याति पर्येति परिणमतीति पर्याय इति पर्यायस्य व्युत्पत्ति, नयचक्र श्रुत. पृ० ५७.
१५. उत्तराध्ययन, २८/६.
१६. तत्त्वार्थराजवार्तिक, १/३१, १/१५, धवला, पु० १, पृ० ८४.
१७. सर्वार्थसिद्धि, १/३३.
१८. तत्त्वार्थसूत्र, ५/४१.
१९. पंचास्तिकाय ता०वृ०, १६/३५/१२.
२०. सन्मतिप्रकरण १/३० पर पं० सुखलालजी एवं पं० बेचरदास जी का विवेचन
२१. उत्तराध्ययन, २८/१३.
२२. क्रियावद् गुणवत् समवायिकारणं द्रव्यम्, वैशे०सूत्र, १/१/१५.
२३. सन्मति-प्रकरण, ३/८.
२४. सन्मति-प्रकरण, ३/८ पर पं० सुखलालजी की व्याख्या, पृ० ६३.
२५. ढाल-२, दोहा-१० सन्मति-तर्क-प्रकरणम्, अभयदेवसूरिकृत वृत्ति, सूत्र ३/८ की व्याख्या में उद्धृत
२६. पंचास्तिकाय, ४६.
२७. स्याद्वादमंजरी, श्लोक २७.
२८. जैन विद्या के विविध आयाम (डॉ० सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ), खण्ड ७, पृ० १०३.
२९. सन्मतिप्रकरण, ३/२३.
३०. वही, ३/२४.
३१. पंचास्तिकाय, ६७
३२. स्याद्वादमंजरी, १४ की व्याख्या.
३३. जैन दर्शन, डॉ० महेन्द्रकुमार जैन, पृ० १४४.
३४. तत्त्वार्थवार्तिक, ५/२/९.
३५. सन्मतितर्क-प्रकरणम्, अभयदेवसूरिकृत वृत्ति

३६. सन्मतिप्रकरण, ३/१७-१८.
 ३७. सन्मतिप्रकरण, ३/२०, २१, २२.
 ३८. उत्तराध्ययनसूत्र, अ० २८, गाथा-६
 ३९. सन्मति-प्रकरण, ३/१०-११.
 ४०. आचारांग, १/५/५.
 ४१. भगवती, १२/२०६.
 ४२. स्थानांगसूत्र, १०/४६.
 ४३. सन्मतिप्रकरण, १/१२.
 ४४. आप्तमीमांसा, ५९-६०.
 ४५. विशेषावश्यकभाष्य, २६६६.
 ४६. पंचास्तिकाय, गा० ११ की टीका
 ४७. दशवैकालिक पर जिनदासगणिकृतचूर्णि, पृ० १६.
 ४८. सन्मतिप्रकरण, अभयदेववृत्ति, पृ० ४१०.
 ४९. सन्मतिप्रकरण, ३/३५.
 ५०. सन्मतिप्रकरण, ३/३७.
 ५१. दर्शन का नया प्रस्थान, डॉ० साध्वी मुदितयशा, पृ० १७६.



अनेकान्तवाद और उसकी समसामयिकता

डॉ० अजय कुमार

भारतीय संस्कृति प्रधानतः दो शाखाओं में विभक्त है— वैदिक तथा श्रमण। श्रमण धारा के भी दो रूप मिलते हैं— जैन एवं बौद्ध। जैन-परम्परा विश्व की प्राचीन परम्पराओं में से एक है। इसका प्रसिद्ध सिद्धान्त है— सापेक्षतावाद। सापेक्षतावाद की झलक वैदिक चिन्तन एवं बौद्ध चिन्तन में भी मिलती है। वैदिक साहित्य के उपनिषदों में परमतत्त्व या ब्रह्म को छोटा से छोटा और बड़ा से बड़ा कहा गया है। इस कथन में दृष्टि-भेद और सापेक्षता निहित है। इसी तरह बौद्ध-परम्परा में भी देखा जाता है कि अपने एक शिष्य के द्वारा प्रश्न पूछे जाने पर भगवान् बुद्ध ने सापेक्षतावादी उत्तर दिया है, जिसे बौद्ध दर्शन में विभज्यवाद कहा गया है।^१ एक समय एक शिष्य ने बुद्ध से पूछा भन्ते! आपकी दृष्टि में सोना अच्छा है अथवा जागना। इसका उत्तर देते हुए बुद्ध ने कहा कि दोनों ही अच्छे हैं या दोनों ही बुरे हैं, शिष्य समझ नहीं पाया। अतः अपने विचार को पुनः स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा कि सदाचारी या सज्जन या आर्य को जागना अच्छा है और सोना बुरा है, क्योंकि वह जितनी देर तक जगा रहेगा लोककल्याण करेगा और जब सो जायेगा तो लोककल्याण से विरत हो जायेगा। इसलिए उसका जागना अच्छा है और सोना बुरा है। ठीक इसके विपरीत जो दुराचारी है, दुर्जन है, अनाचारी है उसका सोना अच्छा है और जागना बुरा है, क्योंकि जितनी देर वह जगा रहेगा लोक का अकल्याण करेगा और जितनी देर सोया रहेगा लोक के अकल्याण से विरक्त रहेगा। इस तरह उसका सोना अच्छा है और जागना खराब है। इस प्रकार बुद्ध ने सापेक्षतावाद की पुष्टि की है।

किन्तु सापेक्षतावाद को जिस सुदृढ़ता और स्पष्टता के साथ जैन-दर्शन में प्रस्तुत किया गया है, उस तरह अन्यत्र कहीं भी इसे नहीं देखा जाता है। सापेक्षतावाद का प्रारम्भ अनेकान्तवाद से होता है। अनेकान्तवाद जैन-दर्शन का तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्त है। अनेकान्तवाद की शाब्दिक संरचना तीन शब्दों के संयोग से हुई है— अनेक, अन्त और वाद। अनेक का अर्थ होता है एक से अधिक, अन्त का मतलब है दृष्टि सीमा, अपेक्षता आदि। यहाँ अन्त का अर्थ समापन नहीं है। वाद तो सामान्य शब्द है, जो

* एम०ए० (मनोविज्ञान एवं दर्शन), पी-एच०डी०, बी०एड०, शान्तिनिलयन, एन० ४/४बी-४आर०, कृष्णपुरी, करौंदी, आई०टी०आई० रोड, वाराणसी-५

किसी भी सिद्धान्त के लिये आता है। इन अर्थों को देखने से यह ज्ञात होता है कि अनेकान्तवाद वह सिद्धान्त है, जो अनेक दृष्टियों, अनेक सीमाओं तथा अनेक अपेक्षाओं में विश्वास करता है। अनेकान्तवाद चूँकि तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्त है। इसलिए इसे समझने के लिये जैन तत्त्वमीमांसा पर नज़र डालना अनिवार्य है। जैन तत्त्वमीमांसा में जैन आचार्यों ने परमतत्त्व पर विचार करते हुए उसे द्रव्य, पदार्थ, तत्त्व, सत्, वस्तु आदि नामों से सम्बोधित किया है। उन लोगों ने उसे परिभाषित करते हुए कहा है— ‘अनन्तधर्मात्मकं वस्तु’^१ अर्थात् वस्तु के अनन्त धर्म या लक्षण होते हैं। उन लक्षणों में से कुछ विधि रूप में होते हैं और ज्यादा निषेध रूप में। वस्तु के विधि धर्म वे होते हैं, जो उसमें होते हैं और निषेध धर्म वे होते हैं, जो उसमें नहीं होते हैं। यहाँ प्रश्न उठता है कि वे धर्म जो वस्तु में नहीं होते हैं वे भी उसके धर्म माने जाते हैं, क्यों? किसी भी वस्तु को जानने के लिये मात्र उसके विधि-धर्म की ही जरूरत नहीं होती है बल्कि उसके निषेध-धर्म को जानना भी आवश्यक होता है। निषेध को जाने बिना किसी वस्तु का सही और निश्चित बोध नहीं हो सकता। उदाहरणस्वरूप— किसी व्यक्ति के हाथ में किताब है और कोई दूसरा व्यक्ति यह कहता है कि सामनेवाले व्यक्ति के हाथ में किताब नहीं बल्कि पेंसिल है। यहाँ पर कौन ठीक है, यह कैसे कहा जा सकता है? क्योंकि दोनों व्यक्ति अपने को ठीक मानते हैं। ऐसी स्थिति में वह व्यक्ति सही निर्णय करेगा जिसे किताब और पेंसिल के बीच पाये जानेवाले निषेधों का बोध होगा, जो यह बतायेगा कि किताब के अमुक धर्म होते हैं और पेंसिल के अमुक धर्म होते हैं। चूँकि व्यक्ति के हाथ में पायी जानेवाली वस्तु में किताब के धर्म हैं, पेंसिल के धर्म नहीं हैं, पेंसिल से इसका निषेध है इसलिए यह पेंसिल नहीं है किताब है। इस तरह किसी भी वस्तु का दुनिया की अन्य सभी वस्तुओं से निषेध होता है इसलिए वस्तु में पाये जाने वाले विधि-धर्म तथा अन्य वस्तुओं के धर्मों के निषेधों को मिला करके अनन्त धर्म बन जाते हैं।

जब जैन तत्त्वमीमांसा में यह प्रतिपादित हुआ कि किसी भी वस्तु के अनन्त धर्म होते हैं तो यह बात सामने आयी कि किसी एक वस्तु का पूर्ण बोध होने का मतलब है विश्व की सभी वस्तुओं का बोध होना, क्योंकि कोई भी वस्तु निषेध रूप में विश्व की सभी वस्तुओं से सम्बन्धित होती है। अतः सिद्धान्त बना कि— “जो एक को जानता है वह सबको जानता है, जो सबको जानता है वह एक को जानता है।”^२ इस सिद्धान्त में यह कहना कि सबको जानता है वह एक को जानता है सरल है; किन्तु जो एक को जानता है वह सबको जानता है, ऐसा कहना अत्यन्त कठिन या असम्भव-सा लगता है। किसी एक वस्तु को कोई व्यक्ति पूर्णतः तभी जान सकता है जब उसके सभी विधि और निषेध धर्मों को भी वह जानता हो। किसी वस्तु के सभी विधि एवं निषेध धर्मों को जाने बिना कोई व्यक्ति उसे पूर्णतः नहीं जान सकता है। सामान्य व्यक्ति किसी वस्तु

के एक धर्म या अनेक धर्मों को जान सकता है। इस आधार पर यह देखा जाता है कि कोई व्यक्ति किसी वस्तु के अनन्त धर्मों में से दस-बीस या सौ-दो सौ धर्मों या लक्षणों को जानता है तो कोई दूसरा व्यक्ति अनन्त धर्मों में से अन्य दस-बीस या सौ-दो सौ धर्मों को जानता है। इस प्रकार सबके बोध अपनी-अपनी दृष्टि से सत्य होते हैं। कोई गलत नहीं होता है। इसके लिये जैन चिन्तन में अन्धगजन्याय का उदाहरण दिया गया है, जो इस प्रकार है—

कुछ अन्धे लोगों को हाथी के विषय में ज्ञान प्राप्त करने की जिज्ञासा हुई और वे लोग हाथी के निकट पहुँच गये। आँख के अभाव में उन लोगों ने हाथी को छू कर उसके सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त किया। अन्धे लोगों ने हाथी के अलग-अलग अंगों का स्पर्श किया था, अतः उन लोगों का ज्ञान आंशिक था; किन्तु जब उन लोगों से पूछा गया कि हाथी कैसा होता है तो उन लोगों ने इस प्रकार उत्तर दिया— जिसने हाथी के पैर का स्पर्श किया था उसने कहा कि हाथी खम्भे की तरह होता है। जिसने हाथी के कान का स्पर्श किया था उसने कहा कि हाथी सूप की तरह होता है। जिसने पूँछ का स्पर्श किया था उसने बताया कि हाथी रस्सी की तरह हिलने-डुलनेवाला होता है। यहाँ पर अन्धे लोगों का ज्ञान अपनी-अपनी दृष्टि से, अपनी-अपनी अपेक्षा से सही था; किन्तु दोष यह था कि उन लोगों ने अपने आंशिक ज्ञान को पूर्ण ज्ञान, सापेक्ष ज्ञान को निरपेक्ष ज्ञान बताया। उन लोगों में से किसी ने सम्पूर्ण हाथी का स्पर्श नहीं किया था, बल्कि विभिन्न अंगों का स्पर्श किया था। अतः उनके ज्ञान अलग-अलग अंगों के थे, जो आंशिक ज्ञान थे। जैन दर्शन के अनुसार यह दोष अन्धे लोगों के साथ ही नहीं है, बल्कि आँखवालों के साथ भी है, जो अपने आंशिक और सापेक्ष ज्ञान को ही पूर्ण तथा निरपेक्ष ज्ञान मान बैठते हैं तथा एक-दूसरे का विरोध करते हैं। जैन दर्शन यह मानता है कि सामान्य लोगों के ज्ञान सापेक्ष होते हैं। उनकी अपनी-अपनी दृष्टियों के अनुसार होते हैं इसलिए सभी अपनी-अपनी अपेक्षा से सही होते हैं। अतः मतभेद और विरोध कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

जैन दर्शन अनेकान्तवाद का प्रतिपादन करके विश्व को सहिष्णुता का सन्देश देता है। विचारों में मतभेद होने के कारण ही आपसी कलह, संघर्ष होते हैं। जब व्यक्ति के मन में यह बात आ जाती है कि मात्र उसका ही विचार सही नहीं हो सकता है, बल्कि अन्य लोगों के विचार भी ठीक हो सकते हैं तब फिर उसके मन में विद्वेष भाव नहीं जगता है। यद्यपि अनेकान्तवाद का सिद्धान्त अति प्राचीन सिद्धान्त है, फिर भी आज की स्थिति में यह प्रासंगिक है। आजकल व्यक्ति, समाज, राष्ट्र, विश्व सबके सब तनाव और संघर्ष से पीड़ित है। व्यक्ति में अपनी पारिवारिक समस्याओं के कारण तनाव होता है। समाज में धनी-गरीब, ऊँच-नीच के भेद-भाव देखे जाते हैं। राष्ट्र में आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक, विभिन्न प्रकार के संघर्ष चलते रहते हैं। विश्व में अनेक राष्ट्र हैं,

जो एक-दूसरे को दबा कर आगे बढ़ना चाहते हैं। इन सबसे विश्व में असन्तोष एवं हिंसा व्याप्त है। आज का विश्व आतंकवाद और उग्रवाद का शिकार बन रहा है, परन्तु आतंकवाद और उग्रवाद का समर्थन करनेवाले वे ही लोग हैं जिन्हें किसी न किसी रूप में सामाजिक या आर्थिक या राजनैतिक असन्तोष है। जैनदर्शन के अनुसार असन्तोष का वास्तविक समाधान हिंसा और युद्ध नहीं है। हिंसा से तो हिंसा बढ़ती है। हिंसा दूर करने का वास्तविक तरीका वैचारिक सहमति है, मानसिक सद्भाव है, आत्मिक प्रेम है, जो अनेकान्तवाद से प्राप्त होते हैं। राष्ट्रकवि रामधारीसिंह दिनकर ने अनेकान्तवाद के महत्त्व को प्रकाशित करते हुए लिखा है— 'अनेकान्तवाद का दार्शनिक आधार यह है कि प्रत्येक वस्तु अनन्त गुण पर्याय और धर्मों का अखण्ड पिण्ड है। वस्तु को तुम जिस दृष्टिकोण से देख रहे हो, वस्तु उतनी ही नहीं है। उसमें अनन्त दृष्टिकोणों से देखे जाने की क्षमता है। तुम्हें जो दृष्टिकोण विरोधी मालूम होता है उस पर ईमानदारी से विचार करो तो उसका विषयभूत धर्म भी वस्तु में विद्यमान है। चित्त से पक्षपात की दुरभिसन्धि निकालो और दूसरे के दृष्टिकोण के विषय को भी सहिष्णुतापूर्वक खोजो। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अनेकान्त का अनुसन्धान भारत की अहिंसा, साधना का चरम उत्कर्ष है और सारा संसार इसे जितना ही शीघ्र अपनायेगा विश्व में शान्ति भी उतनी ही शीघ्र स्थापित होगी।''^४

अनेकान्तवाद की समसामयिकता पर बल देते हुए आचार्य डॉ० साध्वी साधना जी म० ने इस प्रकार लिखा है— "आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व भगवान् महावीर ने 'अनेकान्तवाद' के महान् सह-अस्तित्ववादी सिद्धान्त का विकास कर हर प्रकार के विरोधाभासों में समन्वय का एक ऐसा दार्शनिक एवं व्यावहारिक-पथ प्रशस्त किया है, जो आज के विसंगतिपूर्ण जीवन और अन्तर्विरोधपूर्ण विश्वास के लिये संजीवनी के समान उपयोगी सिद्ध हो सकता है।''^५

इस प्रकार निश्चित रूप से यह कह सकते हैं कि जैनदर्शन का अनेकान्तवाद आज के विश्व के लिये एक बहुत बड़ा वरदान है।

सन्दर्भ :

१. जैनधर्म-दर्शन : डॉ० मोहनलाल मेहता, पृ०-३३७.
२. भारतीय दर्शन : चट्टोपाध्याय एवं दत्त, पृ०-२१.
३. जे एगं जाणति से सव्वं जाणति, जे सव्वं जाणति से एगं जाणति। आचारांगसूत्र, १/४/१२९.
४. उद्घृत-हिन्दी साहित्य और दर्शन में आचार्य सुशील कुमार का योगदान, पृ०-३६.
५. आचार्य साध्वी साधना, वही, पृ०-१०.



वैशाली

आचार्य विजयेन्द्रसूरि*

वेसाली अथवा वैशाली एक अत्यन्त प्राचीन नगर है। इसके साथ विभिन्न भारतीय धर्मों का गहरा सम्बन्ध है। भगवान् महावीरस्वामी के 'वैशालिक' नाम से प्रगट है कि उनका इसके साथ विशेष सम्बन्ध रहा है और उनकी जन्मभूमि कुण्डपुर (क्षत्रियकुण्ड) इसी के निकट थी। इसलिये यहाँ इसकी स्थिति आदि के सम्बन्ध में हम विचार करेंगे।

आर्य-क्षेत्र

आर्यावर्त अथवा मध्यमदेश जैनों, बौद्धों और वैदिकों की दृष्टि से क्या था? तीनों धर्मों के अनुसार उनके शास्त्रों में इसकी व्याख्या इस प्रकार की गई है।

क. जैनों के अनुसार

बृहत्कल्पसूत्र वृत्तिसहित विभाग ३, पृष्ठ ९१३ (सम्पादक-मुनिराज पुण्यविजय जी) में आर्यदेश और उनकी राजधानियाँ इस प्रकार बताई गई हैं—

आर्यदेश	राजधानी	आर्यदेश	राजधानी
१. मगध	राजगृह	१४.शांडिल्य	नन्दिपुर
२. अङ्ग	चम्पा	१५.मलय	भदिलपुर
३. वङ्ग	ताम्रलिपति	१६.मत्स्य	वैराट
४. कलिङ्ग	कांचनपुर	१७.अत्स्य (अच्छ)	वरुणा
५. काशी	वाराणसी	१८.दशार्ण	मुक्तिकावती
६. कोशल	साकेत	१९.चेदि	शुक्तिमती
७. कुरु	गजपुर (हस्तिनापुर)	२०.सिन्धु-सौवीर	वित्तभय
८. कुशार्त	शौरिक (सौरिपुर)	२१.शूरसेन	मथुरा
९. पाञ्चाल	काम्पिल्य	२२.भंगी	पावा
१०.जंगल	अहिच्छत्रा	२३.वर्त*	मासपुरी
११.सौराष्ट्र	द्वारवती	२४.कुणाल	श्रावस्ती
१२.विदेह	मिथिला	२५.लाढ	कोटिवर्ष
१३.वत्स	कौशाम्बी	२६.केकय (अद्भदेश)	श्वेतविका

* प्रस्तुत आलेख स्व. आचार्य विजयेन्द्रसूरि द्वारा लिखित पुस्तक का अविकल रूप है।

ये २५॥ आर्यदेश सर्वदा के हैं। इनका उल्लेख **प्रज्ञापनासूत्र**, **सूत्रकृताङ्ग** की **टीका**, **प्रवचनसारोद्धार** आदि में भी है। परन्तु भगवान् महावीरस्वामी के समय में आर्यक्षेत्र की मर्यादा निम्न थी—

“कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा पुरत्थिमेणं जाव अंगमगहाओ एत्तए, दक्खिणेणं जाव कोसम्बीओ, पच्चत्थिमेणं जाव थूणाविसयाओ, उत्तरेणं जाव कुणालाविसयाओ एत्तए। एताव ताव कप्पइ। एताव ताव आरिएख्तेणो से कप्पइ एत्तो बाहिं। तेण परं जत्थ नाण-दंसणचरित्ताइं उस्सप्पत्ति ति बेमि।’ अस्य व्याख्या— कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां पूर्वस्यां दिशि यावदङ्ग—मगधान् ‘एतुं’ विहर्तुम्। अङ्ग नाम चम्पाप्रतिबद्धा जनपदः, मगधाराजगृहप्रतिबद्धो देशः। दक्षिणस्यां दिशि यावत् कोशाम्बीमेतुम्। प्रतीच्यां दिशि स्थूणाविषयं यावदेतुम्। उत्तरस्यां दिशि कुणालाविषयं यावदेतुम्। सूत्रे पूर्वदक्षिणादिपदेभ्यस्तृतीयानिदशो लिङ्गव्यत्ययश्च प्राकृतत्वात्। एतावत् तावत् क्षेत्रमवधीकृत्य विहर्तुं कल्पते। कुतः? इत्याह एतावत् तावद् यस्यादार्यक्षेत्रम्, नो ‘से’ तथ्य निर्ग्रन्थस्य निर्ग्रन्थ्या वा कल्पते ‘अतः’ एवंविधाद् आर्यक्षेत्राद् बहिर्विहर्तुम्। ‘ततः परं’ बहिर्देशेषु अपि सम्प्रतिनृपतिकालादारभ्य यत्र ज्ञान-दर्शन-चारित्राणि ‘उत्सर्पन्ति’ स्फातिमासादयन्ति तत्र विहर्तव्यम्। ‘इतिः’ परिसमाप्तौ। ब्रवीमि इति तीर्थकर-गणधरोपदेशेन, न तु स्वमनीषिकयेति सूत्रार्थः। — **बृहत्कल्पसूत्रवृत्तिसहित**, विभाग ३, पृष्ठ ९०५.

ऊपर के प्राकृत-पाठ के अनुसार आर्यक्षेत्र पूर्वदेश में तो अङ्ग-मगध की सीमा तक दक्षिण में कौशाम्बी की सीमा तक, पश्चिम में स्थूण (कुरुक्षेत्र) की सीमा तक और उत्तर में कुणालदेश की सीमा तक था। इसी आर्यक्षेत्र में साधु को विहार का आदेश था।

ख. बौद्धों के अनुसार मध्यदेश निम्न था—

(1) The boundaries of the Buddhist Majjhimadesa as given in the Mahavagga (Vol. V. pp. 12-13) may be described as having extended in the east to the town of Kajangala beyond which was the city of Mahasala, in the southeast to the river salalvati (Saravati) in the south to the town of Satakannika; in the west to the Brahamana district of Thuna; in the north to the Usiradhaja mounation.

Geography of Early Buddhism, page 1-2.

महावग के अनुसार मध्यदेश के पूर्व में कजंगल तक, दक्षिण-पूर्व (आग्नेय) में सललवती (सरावती) तक, दक्षिण में सतकणिक तक, पश्चिम में ब्राह्मण प्रदेश थूना (कुरुक्षेत्र) तक और उत्तर में उशीरध्वज पर्वत तक था।

२. मध्यदेश की पूर्वदिशा में कजंगल नामक कस्बा है, उसके बाद बड़े शाल (के वन) हैं और फिर आगे सीमान्त देश। मध्य में सललवती नामक नदी है, उसके आगे फिर सीमान्त (प्रत्यन्त) देश है, दक्षिण दिशा में सेतणिक नामक कस्बा है, उसके बाद सीमान्त देश है। पश्चिम दिशा में थून नामक ब्राह्मणों का ग्राम है, उसके बाद सीमान्त देश है। उत्तर दिशा में उशीरध्वज नामक पर्वत है, उसके बाद सीमान्त देश..... हैं। बुद्धचर्या, पृष्ठ १.

इस ऊपर बताये बौद्धों के मध्यप्रदेश में १६ महाजनपद थे। वे हैं—

१. काशी	९. कुरू
२. कोशल	१०. पाञ्चाल
३. अंग	११. मच्छ (मत्स्य)
४. मगध	१२. शूरसेन
५. वज्जी	१३. अस्सक
६. मल्ल	१४. अवन्ती
७. चेतिय (चेदी)	१५. गन्धार
८. वंश (वत्स)	१६. कम्बोज

ग. वैदिक ग्रन्थों के अनुसार मध्यदेश अथवा आर्यावर्त यह था

(1) In the Dharmasutra of Baudhayana, Aryavarta or the country of the Aryans (which is practically identical with the country later on known as Madhyadesa) described as lying to the east of the region where the river Saraswati disappears, to the west of the Kalakavana or Black Forest (identified with a tract somewhere near Prayag), to the north of Paripatra and to the south of Himalayas.

Geography of Early Buddhism, Page 1

अर्थात् आर्यावर्त अथवा मध्यदेश सरस्वती नदी के पूर्व तक, कालक वन के पश्चिम तक, पारिपात्र के उत्तर तक और हिमालय के दक्षिण तक विस्तृत था।

(२) मनु ने मध्यदेश को उत्तर में हिमालय तक, दक्षिण में विन्ध्य तक, पश्चिम में विनशन तक और पूर्व में प्रयाग तक बताया है—

हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत्प्राग्विनशनादपि।

प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः।।

(३) बृहत्संहिता के १४वें अध्याय में मध्यदेश के अन्तर्गत निम्न प्रदेश गिनाये गये हैं।

भद्रारिमेदमाण्डव्यसाल्वनीपोज्जिहानसङ्घाताः ।

मरुवत्सघोषयामुनसारस्वतमत्स्यमाध्यमिकाः ॥२॥

माथुरकोपज्योतिषधर्मारण्यानि शूरसेनाश्च ।

गौरग्रीवोद्देहिकपाण्डुगुडाश्वत्थपाञ्चालाः ॥३॥

साकेतकङ्ककुरुकालकोटिकुराश्च पारियात्रनगः ।

औदुम्बरकापिष्ठलगजाङ्घयाश्चेति मध्यमिदम् ॥४॥

अर्थात् भद्र, अरि, मेद, माण्डव्य, साल्व, नीप, उज्जिहान, मरु, वत्स, घोष, यमुना से सम्बद्ध प्रदेश, सारस्वत, मत्स्य, मथुरा, कोप, ज्योतिष, धर्मारण्य, शूरसेन, गौरग्रीव, उद्देहिक, पाण्डु, गुड, अश्वत्थ, पाञ्चाल, साकेत, कङ्क, कुरु, कालकोटि, कुरुर, पारियात्र, औदुम्बर, कापिष्ठल और हस्तिनापुर मध्यदेशान्तर्गत प्रदेश है।

विदेह

इस मध्यदेश अथवा आर्यावर्त के अन्तर्गत एक प्रदेश (प्रान्त) विदेह था, जिसका ऊपर निर्देश किया गया है। इसके सम्बन्ध में जैनों, बौद्धों और वैदिकों ने पर्याप्त लिखा है।

क. जैनों के मतानुसार विदेह जनपद था और उस की राजधानी मिथिला^१ थी।

(१) इहेव भारहे वासे पुव्वदेसे विदेहानाम जणवओ, संपइकाले तिरहुत्तिदेसो ति भण्णइ।तत्थ.....मिहिला नाम नयरी हुत्था। संपयं जगइत्ति पसिद्धा। एयाए नाइदूरे जणयमहारायस्स भाउणो कणयस्स निवासट्ठाणं कणइपुरं वट्ठइ।

विविधतीर्थकल्प, पृष्ठ ३२.

इसी भारतवर्ष में पूर्वदेश में विदेह नामक का जनपद था जो ग्रन्थकर्ता के समय में तिरहुत नाम से प्रसिद्ध था।वहाँ..... मिथिला नाम की नगरी थी। अब 'जगइ' नाम से भी प्रसिद्ध है। इसके निकट में जनक महाराज के भाई कणक का निवास स्थान कनकीपुर है।

(२) 'मिहिल विदेहा य' — मिथिलानगरी विदेहाजनपदः ।

प्रवचनसारोद्धार वृत्तिसहित, पत्र ४४६.

ख. बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार विद्वानों ने विदेह पर निम्न प्रकाश डाला है।

Mithila was the Capital of the Videhas and is celebrated in the Epics as the land of King Janaka. At the time of Buddha the Videha country was one of the eight constituent principalities of the Vajjain confederacy. Of these eight principalities the Licchavis of Vesali and the

Videhas of Mithila were, however, the most important.

Geography of Early Buddhism, page 30.

अर्थात् मिथिला विदेह की राजधानी थी। महात्मा बुद्ध के समय वज्जीसंघ के आठ प्रमुख संघों में से एक थी।

ग. वैदिक ग्रन्थों में

(१) शतपथब्राह्मण के प्रथम काण्ड (४अ० १आ०) के अनुसार विदेह नाम इसलिए पड़ा क्योंकि इसे विदेह माथव^३ ने बसाया था।

‘सहोवाच। विदेहो माथवः क्वाहं भवानीत्यत एवहे प्राचीनं भुवनमिहि होवाच। सैषा तर्हि कोशलविदेहानां मर्यादा तर्हि माथवाः। १७।

(२) शक्तिसंगमतन्त्र में लिखा है—

गण्डकीतीरमारभ्य चम्पारण्यान्तकं शिवे।

विदेहभूः समाख्याता तीरभुक्ताभिधो मनुः।।

गण्डकी नदी से शुरू होकर चम्पारन तक का प्रवेश विदेह अथवा तीरभुक्त (तिरहुत) नाम से प्रसिद्ध है।

(३) बृहद्विष्णुपुराण के मिथिलाखण्ड में निम्न श्लोक हैं। वहाँ पाराशर और मैत्रेय के सम्वाद में वैदेही तथा मिथिला का वर्णन है।

एषा तु मिथिला राजन् विष्णुसायुज्यकारिणी।

वैदेही तु स्वयं यस्मात् सकृत् ग्रन्थिविमोचिनी।।

और भी—

गङ्गाहिमवतोर्मध्ये नदीपञ्चदशान्तरे ।

तैरभुक्तरिति ख्यातो देशः परमपावनः।।

कौशिकीं तु समारभ्य गण्डकीमधिगम्य वै ।

योजनानि चतुर्विंशत् व्यायामः परिकीर्तितः।।

गङ्गाप्रवाहमारभ्य यावद्धैमवतं वनम् ।

विस्तारः षोडशः प्रोक्तो देशस्य कुलनन्दनः।।

मिथिला नाम नगरी नमास्ते लोकविश्रुता ।

पञ्चभिः कारणैः पुण्या विख्याता जगतीत्रये।।

इन श्लोकों के अनुसार विदेह के पूर्व में कौशिकी (आधुनिक कोशी) पश्चिम में गण्डकी, दक्षिण में गंगा और उत्तर में हिमालय है। पूर्व से पश्चिम की ओर १८० मील (२४ योजन) और उत्तर से दक्षिण में १२५ मील (१६ योजन) है। इस तैरभुक्त

अथवा विदेह में मिथिला नामक नगरी है।

(४) इसी बृहद्विष्णुपुराण के मिथिलाखण्ड में मिथिला के १२ नाम गिनाये हैं।

मिथिला, तैरभुक्तिश्च, वैदेही, नैमिकाननम्।
ज्ञानशीलं कृपापीठं, स्वर्णलाङ्गलपद्मतिः॥
जानकीजन्मभूमिश्च, निरपेक्षा, विकल्मषा।
रामानन्दकटी, विश्वभावनी, नित्यमङ्गला॥
इति द्वादशनामानि मिथिलायाः॥

सदा भुवनसम्पन्नो नदीतीरेषु संस्थितः।
तीरेषु भुक्तियोगेन तैरभुक्तिरिति स्मृतः॥

नदी के किनारे पर स्थित प्रान्त (भुक्ति) होने से इसका नाम तीरभुक्ति रखा गया है, जिसका आधुनिक रूप तिरहुत है। इसके ऊपर १२ नाम गिनाये गये हैं।

(५) गङ्गाया उत्तरतः विदेहदेशः। देशोऽयं वेदोपनिषत्पुराणगीयमानानां जनकानां राज्यम्। अस्यैव नामान्तरं मिथिला। राज्यस्य राजधान्या अपि मिथिलैव नामधेयं बभूव। सम्प्रति नेपालदेशसन्निकटा जनकपुरी नाम नगरी जनकानां राजधानी सम्भाव्यते। मिथिलानाम्ना नृपतिना स्थापितं मिथिलाराज्यमिति पुराणानि कथयन्ति।

भारत-भूगोल : पृष्ठ ३७.

गङ्गा के उत्तर में विदेह देश है। इसी का नामान्तर मिथिला है। इसकी राजधानी भी मिथिला थी। वर्तमान जनकपुरी ही प्राचीन राजधानी है। पुराणों के अनुसार मिथिला नाम के राजा ने मिथिला राज्य की स्थापना की थी।

(६) भविष्यपुराण के अनुसार निमि के पुत्र मिथि ने मिथिला बसाई

निमिः पुत्रस्तु तत्रैव मिथिर्नाम महान् स्मृतः।
पूर्वं भुजबलैर्येन तैरहुतस्य पार्श्वतः॥
निर्मितं स्वीयनाम्ना च मिथिलापुरमुत्तमम्।
पुरीजननसामर्थ्याज्जनकः स च कीर्तितः॥

(७) श्रीमद्भागवत में निमि के पुत्र जनक द्वारा मिथिला अथवा विदेह के बसाये जाने का उल्लेख है।

अराजकभयं नृणां मन्यमाना महर्षयः।
देहं ममन्धुः स्म निमिः कुमारः समाजायत॥
जन्मना जनकः सोऽभूत् वंदेहस्तु विदेहजः।
मिथिलो मथनाज्जातो मिथिला येन निर्मिता॥

ऊपर के उद्धरणों से स्पष्ट है कि विदेह एक प्रान्त था। इसके १२ नामों में तीरभुक्ति भी एक नाम है और भुक्ति का अर्थ प्रान्त होता है। भुक्ति का प्रान्त अर्थ एक तो ऊपर दिये गये शक्तिसंगमतन्त्र के श्लोक से प्रकट होता है दूसरा गुप्तकालीन शिलालेखों में एक स्थान पर 'भुक्ति' शब्द का प्रयोग हुआ है, वहाँ पर उस प्रकरण से प्रकट होता है कि भुक्ति का अर्थ प्रान्त है। अर्थात् आर्यावर्त का एक प्रान्त विदेह था, उस प्रान्त की राजधानी मिथिला थी।

वैशाली

इस विदेहदेश की राजधानी बाद में मिथिला से उठकर वैशाली आ गई थी। वैशाली के सम्बन्ध में तीन प्रमुख धर्मों का निम्न दृष्टिकोण था।

क. बौद्ध दृष्टिकोण

The Vajjis like the Licchavis, are often associated with the city of Vesali which was not only the Capital of the Licchavi clan, but also the metropolis of the entire confederacy. 'A Buddhist tradition quoted by Rockhill (*Life of the Buddha*, p.62) mentions the city of Vesali as consisting of three districts. These districts were probably at one time the seats of three different clans.

G. of Early Buddhism, page 12.

अर्थात् वैशाली न केवल लिच्छवियों की राजधानी थी, अपितु सम्पूर्ण वज्जिसंघ की राजधानी थी। वैशाली के अन्तर्गत तीन परकोटे थे।

"Ajatasattu is called Vedehiputto or Vaidehiputtra.....goes to show that King Bimbisara established matrimonial alliance with the Licchavis by marrying a Licchavi princess."

G. of Early Buddhism, page 13.

अजातशत्रु को वैदेहीपुत्र कहा जाता था। इससे प्रगट है कि बिम्बिसार (श्रेणिक) ने लिच्छवि राजकुमारी से ब्याह करके लिच्छवियों के साथ समझौता किया हुआ था।

२. विदेह का राजा करालजनक बड़ा कामी था और एक कन्या पर आक्रमण करने के कारण प्रजा ने उसे मार डाला। कराल शायद विदेह का अन्तिम राजा था; सम्भवतः उसकी हत्या के बाद ही वहाँ की राजसत्ता का अन्त हो गया। और संघ राज्य स्थापित हो गया। सातवीं-छठी शताब्दी ई०पू० में विदेह के पड़ौस में वैशाली में भी संघराज्य था; वहाँ लिच्छवि लोग रहते थे। विदेहों और लिच्छवियों के पृथक् २ संघों को मिलाकर फिर इकट्ठा एक ही संघ या गण बन गया था जिसका नाम वृजि (या

वज्जि) गण था।..... समूचे वृजिसंघ की राजधानी भी वेसाली (वैशाली) ही थी। उसके चारों ओर तिहरा परकोटा था, जिसमें स्थान-स्थान पर बड़े-बड़े दरवाजे और गोपुर (पहरा देने के मीनार) बने हुए थे।

भारतीय इतिहास की रूपरेखा, पृष्ठ ३१०-३१३

ख. वैदिक दृष्टिकोण यह है

(१) रामायण के 'आदिकाण्ड' में सर्ग ४७वें में लिखा है—

इक्ष्वाकोस्तु नरव्याघ्रपुत्रः परमधार्मिकः।

अलम्बुषायामुत्पन्नो विशाल इति विश्रुतः।

तेन चासीदिह स्थाने विशालेति पुरीकृता। ११-१२।

इक्ष्वाकु की रानी अलम्बुषा के पुत्र विशाल ने विशाला बनवाई।

(२) भागवतपुराण के नवम स्कन्ध अ० २ श्लोक २३ में विशाल द्वारा वैशाली बनवाने का वर्णन है।

विशाली वंशकृद् राजा वैशालीं निर्ममे पुरीम्।

3. The seat of the central government shifted from Janakapura in the Nepal Tarai to vaisali (modern Basarha in the district of Muzaffarpur) which came into prominence in the 6th century B.C.

History of Tirhut By B.S.N. Singh, page 34.

अर्थात् जनकपुर (मिथिला) की केन्द्रीय सरकार वैशाली (आधुनिक बसाढ़ मुजफ्फरपुर जिले के अन्तर्गत) में उठकर आ गई थी।^४

(ग) जैन दृष्टिकोण

१. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र के पत्र ७७ पर

इतश्च वसुधावध्या मौलिमाणिक्यसन्निभा।

वैशालीति श्रीविशाला नगर्यस्त्यगरीयसी।।१८४।।

आखंडल इवाखंडशासनः पृथिवीपतिः।

चेटीकृतारिभूपालस्तत्र चेटक इत्यभूत्।।१८५।।

धनधान्य से भरपूर और विशाल वैशाली नगरी है। उस पर चेटक का शासन था।

२. तए णं से कूणिए राया तेतीसाए दन्तिसहस्सेहिं तेतीसाए आससहस्सेहिं तेतीसाए रहसहस्सेहिं तेतीसाए मणुस्सकोडिहिं सदिं संपुरिबुडे सव्विड्ढिए (जाव) रवेणं

सुभेहिं वसईहिं सुभेहिं पायरासेहिं नाइविगिट्टेहिं अन्तरावासेहिं वसमाणे-वसमाणे अंगजणवयस्स मज्झं मज्झेणं जेणेव विदेहे जणवए जेणेव वेसाली नयरी तेणेव पहारेत्थगमणाए। निरयावलिआओ, पृष्ठ २६.

तब राजा कूणिय ३३ हजार हाथियों सहित, ३३ हजार घोड़ों सहित, ३३ हजार रथों सहित और ३३ करोड़ मनुष्यों सहित, सर्वसुलभ सुविधाओं सहित वह अङ्ग जनपद के बीच में से निकला और विदेहजनपद की वैशाली नगरी की ओर बढ़ा।

वैशाली अथवा वर्तमान बसाढ़

चाहे राजा विशाल द्वारा बसाये जाने के कारण इसका नाम विशाला अथवा वैशाली पड़ा हो; अथवा दीवारों को तीन बार हटा कर इसके विशाल करने के कारण इसका नाम वैशाली रखा गया हो; यह एक विशाल नगरी अवश्य थी। आजकल यह स्थान बसाढ़ नाम से प्रसिद्ध है। बसाढ़ के आसपास कोसों दूर तक फैले हुए पुराने अवशेष इसकी पुष्टि करते हैं। आजकल जिन स्थानों पर बसाढ़, बनिया, कूमनछपरागाछी, वासुकुण्ड और कोल्हुआ बसे हुए हैं; वे अपने पूर्ववर्ती प्राचीन नगर-वैशाली, वाणिज्य-ग्राम, कोल्लागसन्निवेश, कर्मारग्राम और कुण्डपुर की सूचनामात्र देते हैं।

प्राचीन वज्जी गणतन्त्र की वैशाली राजधानी थी। इस देश के शासक लिच्छवि^६ क्षत्रिय थे। जैन ग्रन्थों में ६ आर्य जातियों का वर्णन है, ये जातियाँ इस प्रकार थीं— (१) उग्र, (२) भोग, (३) राजन्य, (४) ज्ञात,^७ (५) कुरु, (६) इक्ष्वाकु। रत्ती परगने में बसाढ़ गाँव है, यहाँ जथरिया बसते हैं। राहुल सांस्कृत्यायन के मतानुसार यही पुराने ज्ञातृक हैं, ये ही इस गणतन्त्र के सञ्चालक और तीर्थङ्कर भगवान् महावीर के जन्मदाता थे। इस जाति में पैदा होने के कारण भगवान् महावीर नातपुत्र या ज्ञातृपुत्र कहलाते हैं।

बुद्ध के समय में गंगा से बसाढ़ या वैशाली ३ योजन (२४ मील) था। आजकल पटना से २७ मील और हाजीपुर से २० मील उत्तर, मुजफ्फरपुर जिले में बसाढ़ गाँव है, इससे २ मील दूर गाँव बखरा में अशोकस्तम्भ है। इसका प्रथम निरीक्षण सेंट मार्टिन और जनरल कनिंघम ने किया था, इन्हीं लोगों ने ही बसाढ़ के ध्वंसावशेषों की ओर ध्यान खींचा था। १९०३-४ में डॉ० ब्लाख के नायकत्व में वहाँ खुदाई का कार्य हुआ। बाद में १९१३-१४ में डॉक्टर स्पूनर ने खुदाई का कार्य किया। यहाँ से मुख्यतः मुहरें एवं मिट्टी के बने पदार्थ मिले हैं।

यह स्थान आजकल 'राजा विशाल का गढ़' के नाम से प्रसिद्ध है। यह आयताकार है, ईंटों से भरा ऊँचा स्थान है। इसकी परिधि लगभग १ मील है। डाक्टर ब्लाख की नाप के अनुसार गढ़ उत्तर की ओर ७५७ फीट, दक्षिण की ओर ७८० फीट, पूर्व

की ओर १६५५ फीट तथा पश्चिम की ओर १६५० फीट विस्तृत है। आस-पास के खेतों से खण्डहरों की औसत ऊँचाई करीब ८ फीट है। इसके तीन ओर दक्षिण भाग को छोड़कर— एक खाई सी है। यह इस समय १२५ फीट चौड़ी है, परन्तु कनिंघम ने इसकी चौड़ाई २०० फीट लिखी है। जिससे गढ़ के तीन ओर जलाशय होने का सन्देह होता है। दक्षिण पार्श्व से वर्षा और शीतकाल में गढ़ पर जाया जा सकता है।

गढ़ के निकट लगभग ३०० गज दक्षिण-पश्चिम में एक स्तूप है। यह ईंटों का बना है और आस-पास के खेतों से २३ फीट ८ इंच ऊँचा है। धरती पर इसका व्यास १४० फीट है। इस स्तूप की चर्चा चीनी यात्रियों ने नहीं की है। यहाँ स्तूप के किनारे के समीप खोदने से मध्ययुग के दो सुन्दर प्रस्तर-स्तम्भ मिले हैं।

गढ़ के पश्चिम की ओर, बावन पोखर के उत्तरी भीटे पर एक छोटा सा आधुनिक मन्दिर है। वहाँ कितनी ही मध्यकालीन खण्डित बुद्ध, बोधिसत्व, विष्णु, हर-गौरी, गणेश, सप्तमातृका एवं जैनतीर्थकरों की मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। यहाँ सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण जो चीजें मिली हैं, वह हैं महाराजाओं, महारानियों तथा दूसरे अधिकारियों की स्वनामाङ्कित कई सौ मुहरें। उन मोहरों पर जो कुछ लिखा है उसके कुछ नमूने निम्न हैं।

१. महाराजाधिराजश्रीचन्द्रगुप्त-पत्नी महाराजश्रीगोविन्दगुप्तमाता महादेवी श्री ध्रुवस्वामिनी।

२. श्रीयुवराज-भट्टारक-पादीयकुमारामात्याधिकरणस्य

३. (दा)ण्ड पाशाधिकरण (स्य)

४. तीरभुक्त्युपरिकाधिकरणस्य

५. तीरभुक्तौ विनयस्थितिस्थाप(क) आधिकरण(स्य)

६. तीरकुमारामात्याधिकरण (स्य)

७. (वै) शाल्यधिष्ठानाधिकरण

जनश्रुति के अनुसार यहाँ ५२ पोखर (पुष्करिणी) थे। परन्तु जनरल कनिंघम केवल १६ का पता पा सके। वैशाली के राजाओं के राज्याभिषेक के लिये इन पोखरों का जल काम में लाया जाता रहा होगा।

बनिया और चकरामदास

बसाढ़ गढ़ से उत्तर-पश्चिम में लगभग १ मील दूर बनियागाँव है, इसका दक्षिणी भाग चकरामदास कहलाता है। एच०बी०डब्ल्यू० गैरिक ने यहाँ दो प्रस्तर मूर्तियाँ होने का उल्लेख किया है, जो २'२"×१४"×३" और १'१०"×१'×३" थीं। यहाँ कई

मिट्टी के पदार्थ, मूर्तियाँ और सिक्के पाये गये हैं। मिट्टी का बना दीवट (दीपधानी) भी उनमें एक है। गले में पहनने की कई चीजें भी मिली हैं। गढ़ और चकरामदास के बीच लगभग आध मील लम्बा एक पोखर है जो कि घोड़दौड़ नाम से प्रसिद्ध है। चकरामदास के दक्षिण-पश्चिम में कुछ ऊँचे स्थल हैं जिन पर प्राचीन खण्डहर पाये गये हैं।

कोल्हुआ

गढ़ से उत्तर-पश्चिम में दो मील पर कोल्हुआ में अशोक का स्तम्भ (बखरा से दक्षिण-पूर्व दिशा में १ मील) स्तूप और मर्कटहद (आधुनिक नाम रामकुण्ड) हैं। वैशाली के सम्बन्ध में हेनसांग ने जो वर्णन किया है वह इसके बिल्कुल मेल खाता है। हेनसांग ने वैशाली के राजप्रासाद की परिधि ४-५ ली लिखी है और गढ़ की परिधि ५००० फीट से कुछ कम है, ये दोनों स्थितियाँ एक दूसरे के बहुत निकट हैं। इस चीनी परिव्राजक ने लिखा है— “उत्तर-पश्चिम में अशोक द्वारा बनवाया हुआ एक स्तूप और ५० या ६० फीट ऊँचा पत्थर का एक स्तम्भ था, जिसके शिखर पर सिंह अवस्थित था। स्तम्भ के दक्षिण एक पोखर था। जब बुद्ध इस स्थान पर रहते थे, तब उनके उपयोग के लिये यह खोदा गया था। पोखर से कुछ दूर पश्चिम में एक दूसरा स्तूप था। यह उस स्थान पर बना था, जहाँ बन्दरों ने बुद्ध को मधु अर्पित किया था। पोखर के उत्तर-पश्चिम कोने पर बन्दर की एक मूर्ति थी।” आजकल स्थिति यह है— कोल्हुआ में एक स्तम्भ है, जिस पर सिंह की मूर्ति है। इसके उत्तर में अशोक निर्मित एक स्तूप है; स्तूप के दक्षिण की ओर रामकुण्ड नाम से प्रसिद्ध एक पोखर है जो कि बौद्ध-इतिहास में कर्मटहद नाम से प्रसिद्ध है।

अशोक-स्तम्भ ‘भीम की लाठी’ के नाम से यहाँ प्रसिद्ध है। यह जमीन से २१ फीट ९ इंच ऊँचा है। स्तम्भ का ऊपरी भाग २ फीट १० इंच ऊँचा है और घण्टी के आकार का है। इसके ऊपर प्रस्तरखण्ड है जिस पर सिंह उत्तराभिमुख बैठा है। जनरल कनिंघम ने १४ फीट नीचे तक इसकी खुदाई कराई थी और तब भी इसे इतना ही चिकना पाया था जितना ऊपर है। स्तम्भ से उत्तर में २० गज की दूरी पर एक ध्वस्त स्तूप है। यह १५ फीट ऊँचा है, धरती पर इसका व्यास ६५ फीट है, इसमें लगी ईंटें १२' × ९ १/४' × २ १/४' हैं। स्तूप के ऊपर एक आधुनिक मन्दिर है, इसमें बोधिवृक्ष के नीचे भूमिस्पर्शमुद्रा में बैठे बुद्ध की एक विशाल मूर्ति है जो मुकुट, हार और कर्णाभूषण पहने है। बुद्ध के सिर के दोनों ओर बैठी मूर्तियाँ मुकुट और आभूषण पहने हैं। उनके हाथ इस प्रकार हैं, मानों वे प्रार्थना कर रही हों। इन दोनों छोटी मूर्तियों में प्रत्येक के नीचे निम्न-पंक्तियाँ नागरी में लिखी हैं—

(१) देयधम्मोयम् प्रवरमहायानयायिनः करणिकोच्छाहः (=उत्साहस्य) मा (f)

णक्य-सुतस्य,

- (२) यदत्रपुण्यम् तद्भवत्वाचार्यो-पाध्याय-मातापितोरात्मनश्च पूर्वगममकृ-
 (३) त्वा सकल-स(त्) त्वराशेरनुत्तर-ज्ञानावाप्त्यैति।।”

अर्थात् माणिक्य के पुत्र, लेखक और महायान के परम अनुयायी उत्साह का यह धर्मपूर्वक किया गया दान है। इससे जो भी पुण्य हो, वह आचार्य, उपाध्याय, माता-पिता और अपने से लेकर समस्त प्राणिमात्र के अनन्त कल्याण की प्राप्ति के लिये हो।

स्तम्भ से ५० फीट पर ही रामकुण्ड अथवा मर्कटहृद है, जिसके किनारे कूटागारशाला थी। कूटागारशाला में ही बुद्ध ने आनन्द को अपने निर्वाण की सूचना दी थी। खुदाई करने पर पूर्व से पश्चिम की ओर जाने वाली एक मोटी दीवार पायी गई है जो कि पक्की ईंटों की है, ईंटों का आकार $१५\frac{१}{२} \times ९\frac{१}{३}$ ” है। दीवार के पश्चिमी छोर पर एक छोटे स्तूप के अवशेष पाये गये हैं, इस स्तूप की अनेक ईंटे इधर-उधर पड़ी थीं। सवा-सात इञ्च व्यास वाली एक गोलाकार ईंट थी जिसका ऊपरी भाग गोल था, इसके बीच में एक चौकोर छेद था। कनिंघम के विचारानुसार यह स्तूप के शिखर की एक ईंट रही होगी।

कोल्हुआ, बनिया और बसाढ़ से पश्चिम में ‘न्योरी नाला’ नामक नदी का पुराना घाट बहुत दूर तक चला गया है। अब इसमें खेती होती है।

यहाँ एक जनश्रुति प्रसिद्ध है कि प्राचीन वैशाली के चारों कोनों पर चार शिवलिङ्ग स्थापित थे। इसका आधार क्या है, यह पता नहीं, न ही इसके पक्ष में कुछ प्रमाण उपलब्ध हैं। उत्तर-पूर्वी ‘महादेव’ जो कूमनछपरागाछी में है वास्तव में बुद्ध की मूर्ति है जो कि चतुर्मुख है। उत्तर-पश्चिम में एक संगमरमर का लिंग बना हुआ है जो बिल्कुल आधुनिक है। इन दोनों को महादेव के रूप में यहाँ की जनता बहुत भक्तिभाव से पूजती है।

वैशाली में चीनी यात्री

वैशाली में फाहियान और ह्वेनसांग आदि चीनी यात्री आये थे। उन लोगों ने अपने यात्रा-वृत्तों में इसका वर्णन किया है।

फाहियान ने लिखा है— “वैशाली नगर के उत्तर में एक महावन कूटागारविहार है (बुद्धदेव का निवासस्थान है) आनन्द का अर्द्धाङ्ग स्तूप है। नगर में अम्बपाली वेश्या रहती थी, उसने बुद्धदेव का स्तूप बनवाया, अब तक वैसा ही है। नगर के दक्षिण तीन ली पर अम्बपाली वेश्या का बाग है जिसे उसने बुद्धदेव को दान दिया कि वे उसमें रहें। बुद्धदेव परिनिर्वाण के लिये जब सब शिष्यों सहित वैशाली नगर के पश्चिम द्वार से निकले तो दाहिनी ओर वैशाली नगर को देखकर शिष्यों से कहा यह मेरी अन्तिम विदा है। पीछे लोगों ने वहाँ स्तूप बनवाया।

यहाँ से पश्चिम की ओर तीन-चार ली पर एक स्तूप है। बुद्धदेव के परिनिर्वाण से सौ वर्ष बाद वैशाली के भिक्षुओं ने विनय-दश शील के विरुद्ध आचरण किया।

इस स्थान से ४ योजन चलकर पाँच नदियों के संगम पर पहुँचे। आनन्द मगध से वैशाली परिनिर्वाण के लिये चले। देवताओं ने अजातशत्रु को सूचना दी। अजातशत्रु तुरंत रथ पर चढ़ सेना साथ लिये नदी पर पहुँचा। वैशाली के लिच्छवियों ने आनन्द का आगमन सुना, लेने को चले, नदी पर पहुँचे। आनन्द ने सोचा— आगे बढ़ता हूँ तो अजातशत्रु बुरा मानता है, लौटता हूँ तो लिच्छवी रोकते हैं। निदान नदी के बीच में ही समाधिरेताग्नि में उन्होंने परिनिर्वाण लाभ किया। शरीर को दो भागों में विभक्त कर एक-एक भाग दोनों किनारों पर पहुँचाया गया। दोनों राजाओं को आधा-आधा शरीरांश मिला। वे लौट आए और उन्होंने स्तूप बनवाया।”

ह्वेनसांग ने अपने यात्रा-प्रकरण में लिखा है— “इस राज्य का क्षेत्रफल लगभग पाँच हजार ली^६ है— भूमि उत्तम और उपजाऊ है, फल और फूल बहुत अधिक होते हैं, विशेषकर आम्र और मोच (केला) तथा लोग इनकी कदर भी बहुत करते हैं।^९ प्रकृति स्वाभाविक और सह्य है तथा मनुष्यों का आचरण शुद्ध और सच्चा है। ये लोग धर्म से प्रेम और विद्या की बड़ी प्रतिष्ठा करते हैं। विरोधी और बौद्ध दोनों मिलकर रहते हैं। कई सौ संघाराम यहाँ पर थे परन्तु सब के सब खंडहर हो गये हैं, जो दो-चार बाकी हैं उनमें या तो साधु नहीं है और यदि हैं तो बहुत कम। दस-बीस मन्दिर देवताओं के हैं जिनमें अनेक मतानुयायी उपासना करते हैं।

वैशाली का प्रधान नगर अत्यन्त ऊँच है। इसका क्षेत्रफल ६० से ७० ली तक और राजमहल का विस्तार चार या ५ ली के घेरे में है। बहुत थोड़े से लोग इसमें निवास करते हैं। राजधानी के पश्चिमोत्तर पाँच या छह ली दूरी पर एक संघाराम है। इसमें कुछ साधु रहते हैं। ये लोग सम्मतीयसंस्था के अनुसार हीनयानसम्प्रदाय के अनुयायी हैं।”

क्षत्रियकुण्ड

बसाढ़ के निकट बासुकुण्ड स्थान है जो कि प्राचीन क्षत्रियकुण्ड ग्राम है। जैनशास्त्रों में इसका स्थान-निर्देश करते हुए लिखा है—

(१) अत्थि इह भरहवासे मज्झिमदेसस्स मण्डणं परमं।
सिरिकुण्डगामनयरं वसुमइरमणीतिलयभूयं।७।

नेमिचन्द्रसूरिकृत महावीरचरित्तम्, पत्र २६

भारत के मज्झिम (मध्यमदेश) में कुण्डग्राम नगर है।

(२) जम्बूद्वीवे णं दीवे भारहे वासे.....दाहिणमाहिणकुंडपुरसनिवेशाओ उत्तरखत्तियकुंडपुरसन्निवेशंसि नायाणं खत्तियाणं सिद्धत्थस्स खत्तियस्स कासवगुत्तस्स तिसलाए खत्तियाणीए वासिट्ठसगुत्ताए असुभाणं पुग्गलाणं अवहारं करित्ता सुभाणं पुग्गलाणं पक्खेवं करित्ता कुच्छिंसि गब्भं साहरइ।

आचाराङ्ग (टीका सहित), पत्र ३८८.

जम्बूद्वीप के भारतवर्ष में दक्षिणब्राह्मणकुण्डपुर सन्निवेश से (चलकर) उत्तरक्षत्रियकुण्डपुरसन्निवेश में ज्ञातृक्षत्रियों के काश्यपगोत्री सिद्धार्थक्षत्रिय की (पत्नी) वासिष्ठगोत्री त्रिशला क्षत्रियाणी की कुक्षिमें अशुभ पुद्गलों को हटाकर शुभ-पुद्गलों का प्रक्षेप करके गर्भ-प्रवेश कराता है।

(३) भगवान् को आचाराङ्गसूत्र में 'विदेह' कहा है—

'नाए नायपुत्ते नायकुलनिव्वत्ते विदेहे विदेहदिन्ने विदेहजच्चे विदेहसूमाले तीसं वासाइं विदेहंसित्ति' आचारांगसूत्र, पत्र ३८९.

भगवान् का 'विदेह' नाम भगवान् की माता के कुल के साथ सम्बन्ध रखता है। माता त्रिशला विदेहकुल की थीं। आचाराङ्गसूत्र में लिखा है "समणस्स णं भगवओ महावीरस्स अम्मा वासिट्ठस्सगुत्ता, तीसे णं तिन्नि ना०, तं०— तिसला इ वा विदेहदिन्ना इ वा पियकारिणी इ वा। (आचाराङ्गसूत्र पत्र ३८९) यहाँ भगवान् की माता के तीन नाम बताये हैं— (१) त्रिशला, (२) विदेहदत्ता, (३) प्रियकारिणी। माता त्रिशला विदेह देश की नगरी वैशाली के गणसत्ताक राजा चेटक की बहिन थी, यह घराना 'विदेह' नाम से प्रसिद्ध था। इसी कारण माता त्रिशला को 'विदेहदत्ता' कहा गया है। अतएव मातृपक्षक नाम 'विदेह' भी भगवान् को मिला। इसी विदेह में ही भगवान् ने तीस वर्ष व्यतीत किये थे। उपरोक्त वर्णन कल्पसूत्र में भी ऐसा ही मिलता है। टीकाकारों द्वारा 'विदेह' के भिन्न-भिन्न अर्थ करने पर भी यह स्पष्ट है कि उनका विदेह के साथ विशेष सम्बन्ध था।

(४) निम्न प्रमाणों में दिग्म्बरशास्त्रों में भी जम्बूद्वीप के भारतवर्ष में विदेहान्तर्गत कुण्डपुर को बताया है।

(क) उन्नीलितावधिदशा सहसा विदित्वा
तज्जन्मभक्तिभरतः प्रणतोत्तमांगाः ।
घण्टानिनादसमवेतनिकायमुख्या
दिष्ट्या ययुस्तदिति कुण्डपुरं सुरेन्द्राः ॥१७-६१॥

(महाकवि असग (ई०स० ९८८) विरचित वर्धमानचरित्र)

(ख) सिद्धार्थनुपतितनयो भारतवास्ये विदेहकुण्डपुरे।
देव्यां प्रियकारिण्यां सुखप्नान् संप्रदर्श्य विभुः॥४॥

(आचार्य पूज्यपाद (वि० ५वीं शताब्दी) विरचित दशभक्ति, पृष्ठ ११६)

(ग) अथ देशोऽस्ति विस्तारी जम्बूद्वीपस्य भारते।
विदेह इति विख्यातः स्वर्गखंडसम श्रियः॥१॥
तत्राखंडलनेत्रालीपद्मिनीखण्डमण्डनम्।
सुखांभः कुण्डमाभाति नाम्ना कुण्डपुरं पुरम्॥५॥

(आचार्य जिनसेन (वि० ८वीं शताब्दी) विरचित हरिवंशपुराण, खण्ड १, सर्ग २)

उपरोक्त प्रमाणों में क्षत्रियकुण्डगाँव को मज्झिमदेश और विदेहदेश के अन्तर्गत बताया है। ऊपर निर्देशानुसार मज्झिमदेश आर्यावर्त का नामान्तर है, इसी के अन्तर्गत ही विदेहदेश है। प्रकारान्तर से क्षत्रियकुण्ड विदेह का एक नगर ही है।

भगवान् को शास्त्रों में 'वेसालिय' अर्थात् वैशालिक कहा है। 'वैशालिक' की व्याख्या करते हुए बताया गया है—

(१) विशाला जननी यस्य विशालं कुलमेव च।
विशालं वचनं चास्य तेन वैशालिको जिनः॥
सूत्रकृताङ्ग शीलांकाचार्य टीका, अ० २, उद्दे० ३।

विशालापुत्र (विशालायाः अपत्यम् वैशालिकः) और विशाल कुल होने से और विशाल वचन वाला होने से प्रभु वैशालिक हुए।

(२) तत्थ णं सावत्थीए नयरीए पिंगलए णामं नियंठे वेसालिअसावए परिवसइ
(मूलच्छायाः— तस्यां श्रावस्त्यां नगर्यां पिङ्गलको नाम निर्ग्रथो वैशालिकश्रावकः
परिवसति)।

भगवतीसूत्र सटीक, भाग १, पृष्ठ २३१.

उसी श्रावस्ती नगरी में पिंगलक नामक निर्ग्रन्थ वैशालिक श्रावक रहता है।

भगवान् के वैशालिक नाम से प्रगट है कि उनका वैशाली से गहरा सम्बन्ध था। जिस प्रकार विदेह में रहने के कारण उन्हें विदेह कहा जाता था उसी प्रकार वैशाली नगरी से सम्बन्ध होने के कारण उन्हें 'वैशालिक' भी कहा जाता था। इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि क्षत्रियकुण्ड (जहाँ कि भगवान् माता के गर्भ में आये थे) का वैशाली से सम्बन्ध है अथवा उसके अतिनिकटस्थ कोई नगर है।

ब्राह्मणकुण्डग्राम क्षत्रियकुण्ड के निकट था और इन दोनों के बीच में बहुशालचैत्य था। एक बार भगवान् विहार करते हुए ब्राह्मणकुण्ड आये थे और इस गाँव के निकट

में बहुशालचैत्य में आकर ठहरे। इस सम्पूर्ण कथा को **भगवतीसूत्र** के तीसरे भाग में पृष्ठ १६२ से प्रारम्भ किया है। उसमें लिखा है—

“तस्स णं महाणकुंडग्गामस्स णयरस्स पच्चत्थिमेणं एत्थ णं खत्तियकुंडग्गामे नामं नयरे होत्था।”

ब्राह्मणकुण्डग्राम की पश्चिमदिशा में क्षत्रियकुण्डग्राम था। इसी क्षत्रियकुण्डग्राम में जमालि नामक क्षत्रिक-कुमार रहता था। जब भगवान् के बहुशालचैत्य में पहुँचने की सूचना क्षत्रियकुण्ड में पहुँची तो वहाँ से एक बड़ा जन-समूह क्षत्रियकुण्ड के बीच में से होता हुआ ब्राह्मणकुण्ड की ओर चला। जहाँ बहुशालचैत्य है, वहाँ आया। इस भीड़ को देखकर जमालि भी वहाँ गया। **भगवतीसूत्र** में लिखा है—

“जाव एगाभिमुहे खत्तियकुंडग्गामं नयरं मज्झं मज्झेणं निग्गच्छइ, निग्गच्छइत्ता जेणेव माहणकुंडग्गामे नयरे जेणेव बहुसालए चेइए.....”

भगवान् के प्रवचन से जमालि के हृदय में भी दीक्षा लेने की इच्छा उत्पन्न हुई। इसलिए वह अपने माता-पिता की अनुज्ञा-प्राप्त करने पुनः खत्तियकुंड लौटा। अनुज्ञा प्राप्त करने के बाद एक विशाल जनसमूह के साथ—

“सत्थवाहप्पभियओ पुरओ संपट्टिया खत्तियकुंडग्गामे नयरे मज्झं मज्झेणं जेणेव माहणकुण्डग्गामे नयरे, जेणेव बहुसालए चेइए, जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव पहारेत्थ गमणाए।”

क्षत्रियकुण्डग्राम नगर के बीचोंबीच में से निकलकर ब्राह्मणकुण्ड ग्राम की ओर बहुशालचैत्य में जहाँ भगवान् महावीरस्वामी थे वहाँ (जमालि) आया।

इस वर्णन से स्पष्ट है कि क्षत्रियकुण्ड के निकट ही ब्राह्मणग्राम का होना सम्भव है।

इस क्षत्रियकुण्डग्राम में क्योंकि ‘ज्ञात’ क्षत्रिय रहते थे, इस कारण बौद्ध ग्रन्थों में इसे ज्ञातिक अथवा जातिक वा नातिक कहकर उल्लेख किया गया है। नातिक के अतिरिक्त नादिक भी इसे लिखा गया है। नामभेद के सम्बन्ध में चर्चा है—

(१) ‘संयुक्तनिकाय की बुद्धघोष की सारत्थप्पकासिनी टीका में लिखा है—

‘जातिकेति द्वित्रं जातकानां गामे’

(२) ‘दीघनिकाय की सुमंगलविलासिनी टीका में लिखा है—

नादिकाति एतं तलाकं निस्साय द्विण्णं चुल्लपितु महापितुपुत्तःनं द्वे गामा।
नादिकेति एकस्मि जातिगामे।”

इनके अनुसार जातिक (ज्ञातिक) और नादिक दोनों नाम एक ही स्थान के थे। जातिगाम (=ज्ञातिगाम) होने से जाति नाम पड़ा था और नादिक तड़ाग (तालाब) के निकट होने से नादिक कहलाता था।

यह नातिक ग्राम कहाँ पर था, इसके सम्बन्ध में हम निम्न उद्धरणों से एक निर्णय पर पहुँच सकते हैं—

(1) Natika (v.l. Nadika, Natika) -- A locality in the *vajji* country on the highway between Kotigama and Vesali.

अर्थात् जातिक (नादिक, नातिक) — वज्जीदेश के अन्तर्गत वैशाली और कोटिगाम के बीच में एक स्थान है।

Dictionary of Pali-Proper Names. Vol. I, page 876.

(२) इसी **डिक्शनरी ऑफ पाली प्रापर नेम्स** के दूसरे भाग में पृष्ठ ७२३ पर राजगृह और कपिलवस्तु के बीच में आये स्थानों को **महापरिनिव्वाणसुत्त** के अनुसार गिनाया है—

From Kapilvatthu to Rajagaha was sixty leagues. From Rajagaha to Kusinara was a distance of twenty five leagues, and the *Mahapariniibbanasutta* gives a list of the places at which the Buddha stopped during his last journey that road--

Ambalathika, Nalanda, Pataligama (where he crossed the Ganges), Kotigama, Nadika, Vesali, Bhandagama, Hatthigama, Ambagama, Jambugama, Bhoganagara, Pava, and the Kakuttha River, beyond which lay the Mango grove and the Sala grove of the Mallas.

अर्थात् कपिलवस्तु से राजगृह ६० योजन था, राजगृह से कुशीनारा २५ योजन। भगवान् बुद्ध ने जब इस स्थान की अन्तिम यात्रा की तो मार्ग में आने वाले स्थानों को **महापरिनिव्वाणसुत्त** में इस प्रकार गिनाया गया है— अम्बलत्थिका, नालन्दा, पाटलिगाम (यहाँ गंगा को पार किया था), कोटिगाम, नादिका, वैशाली भण्डगाम आदि-आदि।

अब स्पष्ट रूप से यह परिणाम निकलता है कि क्षत्रियकुण्डग्राम अथवा जातिक वज्जीदेश (विदेह) के अन्तर्गत है। बुद्ध की जो अन्तिम यात्रा का विवरण प्राप्त है उससे प्रतीत होता है कि यह स्थान कोटिगाम और वैशाली के बीच में था। हमारे इस कथन की पुष्टि शास्त्रों से, ऐतिहासिक प्रमाणों से, पुरातत्त्वविभाग द्वारा संगृहीत प्रमाणों से होती है।

भ्रान्त स्थापनाएँ

डॉ० हार्नले और डॉ० जाकोबी ने जैनशास्त्रों पर विवेचना करते हुए कुछ ऐसी स्थापनाएँ की हैं, जिनमें भ्रम हो सकता है। आपके मन्तव्यानुसार—

(१) वाणियगाम (सं० वाणिज्यग्राम) यह वैशाली नाम से सुप्रसिद्ध शहर का दूसरा नाम था।

— महावीर तीर्थकरनी जन्मभूमि (डॉ० हार्नले का लेख), **जैन साहित्यसंशोधक**, खण्ड १, अंक ४, पृष्ठ २१८।

(२) कुण्डगाम नाम भी वैशाली का ही था और वैशाली ही भगवान् की जन्मभूमि थी। — डॉ० हार्नले का उपरोक्त लेख

१९३० में डॉ० जाकोबी ने एक लेख में लिखा था कि वैशाली— मूल वैशाली, वाणियगाम और कुण्डगाम इन तीन का समूह था। कुण्ड गाम में कोल्लाक एक मुहल्ला था।

— **भारतीयविद्या** (सिंधी स्मृतिग्रन्थ), पृष्ठ १८६

(३) इस कोल्लाग-सन्निवेश से सम्बद्ध परन्तु उससे बाहर द्विपलाश नाम का एक चैत्य था, साधारणचैत्य की भाँति उसमें एक मन्दिर और उसके आसपास उद्यान था। इस कारण से **विपाकसूत्र** (१, २) में उसे 'दूइपलासउज्जाण' रूप में लिखा गया है; और वह नायकुल का ही था इसलिए उसका 'नायसण्डवणे उज्जाणे' अथवा 'नायसण्डे उज्जाणे' इत्यादि (**कल्पसूत्र** ११५ और **आचारांगसूत्र** २; १५ सू०, २२) वर्णन किया गया है।

जैनसाहित्यसंशोधक, खं० १, अं० ४, पृष्ठ २१९.

(४) महावीर के पिता सिद्धार्थ कुण्डगाम अथवा वैशालीनगर के कोल्लाग नाम के मोहल्ले में बसने वाली नायजाति के क्षत्रियों के मुख्य सरदार थे।... सिद्धार्थ का कुण्डपुर अथवा कुण्डगाम के राजा के रूप में सर्वत्र वर्णन नहीं किया गया। अपितु इसके विपरीत सामान्य रूप में उन्हें एक साधारण क्षत्रिय (सिद्धत्ये खत्तिये) रूप में वर्णन किया है। जो एक दो स्थानों पर उन्हें राजा (सिद्धत्ये राया) रूप में लिखा गया है, उसे अपवाद ही समझना चाहिये।

— डॉ० हार्नले का उपरोक्त लेख

सिद्धार्थ एक बड़े राजा नहीं अपितु अमीर मात्र थे।

(लेख— डॉ० हर्मन जैकोबीनी जैनसूत्रोनी प्रस्तावना, अनुवादक— शाह अम्बालाल चतुरभाई)

जैनसाहित्यसंशोधक, खं० १, अं० ४, पृष्ठ ७१.

(५) महावीर की जन्मभूमि कोल्लाग ही थी और इसी कारण से जब संसार त्यागा तब स्वाभाविक रीति से ही अपनी जन्मभूमि से पास स्थित द्विपलाश नाम के अपने ही कुल के चैत्य में प्रथम जा रहा। (देखें कल्पसूत्र ११५-१६)

— डॉ० हार्नले का उपरोक्त लेख

(६) उस (सिद्धार्थ) की पत्नी जिसका नाम त्रिशला था, उसका भी हमेशा क्षत्रियाणी रूप में वर्णन किया गया है। जहाँ तक मुझे स्मरण है उसे देवीरूप में कहीं नहीं लिखा गया।

— डॉ० जाकोबी का उपरोक्त लेख

(७) सन्निवेश अथवा मोहल्ला। — डॉ० हार्नले का लेख

कुण्डग्राम को आचाराङ्गसूत्र में एक सन्निवेश रूप में लिखा गया है, जिसका अर्थ टीकाकारों ने 'यात्री अथवा काफिले (सार्थवाह) का विश्रामस्थान' अर्थ किया है।

— डॉ० जाकोबी का लेख

(८) उवासगदसाओ के सूत्र ७७ और ७८ में वाणियागाम के प्रकरण में प्रयुक्त 'उच्चनीचमज्झिमकुलाई' अर्थात् ऊँच, नीच और मध्यमवर्ग वाला-विशेषण दुल्व (रोखिल का बुद्धचारित्र, पृष्ठ ६२) में आये हुए निम्न वर्णन से मिलता है— वैशाली में तीन विभाग थे, जिसमें पहले विभाग में सुवर्ण कलश वाले ७००० घर थे, बीच के विभाग में रजतकलश वाले १४००० घर थे और अन्तिम विभाग में ताम्रकलश वाले २१००० घर थे। इन विभागों में ऊँच, मध्यम और नीच वर्ग के लोग क्रम से रहते थे।'

— डॉ० हार्नले का उपर्युक्त लेख

परन्तु डॉ० हार्नले और डॉ० जाकोबी दोनों की ही स्थापनाएँ जैन-शास्त्रों से मेल नहीं खाती; शास्त्रों के प्रमाणों को हम यहाँ उपस्थित करके टिप्पणियों को टटोलेंगे।

(१) त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरितम् में भगवान् के वैशाली से वाणिज्यग्राम की ओर जाने का उल्लेख है। इससे प्रगट होता है कि दोनों पृथक्-पृथक् नगर थे।

नाथोऽपि सिद्धार्थपुराद्वैशालीं नगरीं ययौ।

शंखः पितृसुहृत्तत्राभ्यानर्च गणराट् प्रभुम्।।१३८।

ततः प्रतस्थे भगवान् ग्रामं वाणिजकं प्रति।

मार्गे गंडकिकां नाम नदीं नावोत्तार च।।१३९।।

—त्रि०श०पु०च०, पर्व १०, सर्ग ४, पत्र ४५.

अर्थात् भगवान् वैशाली से वाणियागाम की ओर चले और रास्ते में उन्हें गंडकी नदी को पार करना पड़ा।

इससे प्रगट है दोनों नगर न केवल पृथक्-पृथक् थे अपितु दोनों के बीच गण्डकी नदी भी बहती थी।

(२) ऊपर हमने सप्रमाण यह स्थापना है कि वैशाली, ब्राह्मणकुण्ड और क्षत्रियकुण्ड गण्डकी के पूर्वोत्तर पर थे और कर्मारग्राम, कोल्लागसन्निवेश, वाणिज्यग्राम तथा द्विपलाशचैत्य पश्चिमीतट पर।^{१०} ये वस्तुतः एक ही नगर के भिन्न दो नाम नहीं थे। स्थान-स्थान पर भगवान् का एक नगर से दूसरे नगर में जाने का वर्णन शास्त्रों में मिलता है। इसके अतिरिक्त जहाँ कहीं दो नगरों का नाम एकत्र आया भी है उसे वर्तमान प्रयोग की भाँति समझना चाहिये। जैसे हम भाषा में कह देते हैं कि दिल्ली-आगरा, जयपुर-जोधपुर, लाहौर-अमृतसर, बनिया-बसाढ़। यहाँ इकट्ठे इस प्रयोग का अभिप्राय केवल उनकी निकटता को बताना होता है।

(३) डॉ० हार्नले ने कोल्लाकसन्निवेश के निकट एक द्विपलाश चैत्य उद्यान (दूइपलास उज्जाण) और उस पर नायकुल का अधिकार बताया है। उनकी सम्मति में नायसण्डवण उज्जाण और दूइपलास उज्जाण एक ही थे। उन्होंने जिन ग्रन्थों के प्रमाण दिये हैं उनके अनुसार दूइपलास उज्जाण तो वाणिज्यग्राम के उत्तर-पूर्व में था और नायसण्डवण उज्जाण (ज्ञातखण्डवन उद्यान) कुण्डपुर (क्षत्रियकुण्ड) के बाहर था।

(क) **विपाकसूत्र** में लिखा है—

तस्स ण वाणियगामस्स उत्तरपुरत्थिमे दिसिभाए दूईपलासे नामं उज्जाणे होत्था।
विवागसुयं, पृष्ठ १६.

(ख) **कल्पसूत्र सुबोधिनी टीका सहित**, पत्र १११ में लिखा है—

कुण्डपुरं नगरं मज्झमज्जेणं निग्गच्छइ, निग्गच्छित्ता जणेव नायसंडवणे उज्जाणे जणेव असोगवरपायवे तेणेव उवागच्छइ।

इन दोनों उद्धरणों से स्पष्ट है कि नायसांडण और दुइपलास उज्जाण दोनों भिन्न-भिन्न हैं।

(४) डॉ० हार्नले और डॉ० जैकोबी दोनों ने ही सिद्धार्थ को राजा न मानकर भ्रमीर अथवा एक सरदार माना है। उनका विचार है कि दो एक स्थानों के अतिरिक्त ग्रन्थों में सिद्धार्थ के साथ क्षत्रिय शब्द का ही प्रयोग किया गया है। परन्तु इसके विपरीत जैन ग्रन्थों में न केवल सिद्धार्थ को राजा कहा गया है अपितु उनके आधीनस्थ अन्य लोगों का भी वर्णन किया गया है। **कल्पसूत्र** में लिखा है— “तए णं से सिद्धत्थे राया तेसलाए खत्तियाणीए.....” इसमें सिद्धार्थ को राजा बतलाया गया है (क०सू० सटीक, पत्र ५८)। आगे चलकर पत्र ६७ में लिखा है कि “कप्परुक्खाएवि व अलंकियविभसिए ररिदे, सकोरिटमल्लदामेणं छ तेणं धरिज्जमणेणं सेयवरचामराहिं उदब्धुनामाणीहिं

मंगलजयसदकयालोए, अणेगगणनायग-दंडनायग-राईसर-तलवर-माडंबिय-कोडुंबिय-मंति-महामंति-गणन-दोवारिय-अमच्च-चेड-पीढमद्-नगर-निगमतिसिद्धि-सेगावड-सत्यवाह-दूय-सन्धिवालसद्धि संपुरिवुडे” इसका अभिप्राय है राजा सिद्धार्थ कल्पवृक्ष की भांति मुकुटवस्त्रों आदि से विभूषित ‘नरेन्द्र’ थे (प्राचीनसाहित्य में प्रायः नरेन्द्र का प्रयोग राजाओं के लिए हुआ है) इस नरेन्द्र के नीचे निम्न लोग पदाधिकारी थे— (१) दण्डनायक, (२) युवराज, (३) तलवार (कोतवाल), (४) माडम्बिक, (चुंगी अध्यक्ष), (५) कौटुम्बिक, (६) मन्त्री, (७) महामन्त्री, (८) गणक, (९) दौवारिक, (१०) अमात्य, (११) चेट, (१२) पीठमर्दक, (१३) नागर, (१४) निगम, (१५) श्रेष्ठी, (१६) सेनापति, (१७) सार्थवाह, (१८) दूत, (१९) सन्धिपाल। इन्हीं लोगों से राजा सिद्धार्थ परिवृत्त था। **आवश्यकचूर्णि** में भी यही वर्णन मिलता है।

यदि जाकोबी के मतानुसार सिद्धार्थ केवल अमीर होता तो श्रेष्ठी शब्द का प्रयोग किया जाता न कि राजा का।

क्षत्रिय का अर्थ साधारण क्षत्रिय के अतिरिक्त राजा भी होता है। इसकी पुष्टि टीकाकारों और कोशों से होती है। **अभिधानचिन्तामणि**, पृष्ठ ३४४ पर लिखा है—

“क्षत्रं तु क्षत्रियो राजा राजन्यो बाहुसंभवः।”

इसके अनुसार क्षत्रिय, क्षत्र आदि शब्दों का प्रयोग राजा के लिये भी होता है। **प्रवचनसारोद्धार**, पत्र ८४ में लिखे ‘महसेणे य खत्तिए’ पर टीकाकार लिखता है “चन्द्रप्रभस्य महासेनः क्षत्रियो राजा”। इससे यह स्पष्ट है कि यह प्राचीन परम्परा ही है कि राजा के स्थान पर ग्रन्थकार क्षत्रिय शब्द का भी प्रयोग कर देते हैं। हमारे इस मत की पुष्टि **ट्राइब्ज इन एन्शियण्ट इण्डिया** में डॉ० विमलचरण ला ने भी की है।

'Savaraswami in his commentary in the Purvamimansa Sutra, Book II, says that the word 'raja' is a synonym for Ksatriya, and states that even in his time the word was used by the Andhras to designate a Ksatriya'. Ibid, book page 322.

पूर्वमीमांसासूत्र की टीका में शवरस्वामी ने लिखा है कि राजा शब्द क्षत्रिय का पर्याय था और टीकाकार के समय में भी आन्ध्र लोग राजा शब्द का प्रयोग क्षत्रिय के लिए करते थे।

निरयावलियाओ (पृष्ठ २७) के अनुसार वज्जीगणसंघ का अध्यक्ष राजा चेटक था, इसकी सहायतार्थ संघ में से ९ लिच्छवि और ९ मल्ल शासनकार्य चलाने के लिए चुन लिये जाते थे। ये गणराजा कहाते थे। इस गणसंघ में जातकों के अनुसार ७७०७ सदस्य थे, जो राजा कहलाते थे। उन में से प्रत्येक का उपराज, सेनापति, भाण्डागारिक

(कोषाध्यक्ष) भी था।

“तत्थ निच्चकालं रज्जं कारेत्वा वंसतानं येव राजूनं सत्तसहससानि सत्तसतानि सत्त च राजानो होति तत्तका; येव उपराजानो तत्तका सेनापतिनो तत्तका भंडागारिका।”

एकपण्णजातक (सं० १४९, १, ५०४, फौसबोल द्वारा सम्पादित संस्करण)

इन्हीं ७७०७ राजाओं में से एक राजा सिद्धार्थ था।

(५) भगवान् महावीरस्वामी की जन्म-भूमि डॉ० हार्नले के अनुसार कोल्लाग सन्निवेश है क्योंकि कोल्लाग को डाक्टर साहब वैशाली का एक मुहल्ला मानते हैं इसलिये वैशाली को भी जन्म-भूमि मानते हैं। परन्तु हम ऊपर यह निर्देश कर चुके हैं कि कोल्लाग और वैशाली दो भिन्न-भिन्न नगर थे, एक दूसरे के निकट अवश्य थे। भगवान् की जन्मभूमि वस्तुतः कुण्डपुर (क्षत्रियकुण्ड) थी, यहाँ भगवान् ने ३० वर्ष की आयु तक अपना जीवन बिताया था, इस नगर के बाहर स्थित नायसंडवण में भगवान् ने दीक्षा ली, यहाँ से थलमार्ग से कर्मारग्राम पहुँचे, यहीं रात्रि बिताई। अगले दिन प्रातःकाल कर्मारग्राम से विहार करके कोल्लागसन्निवेश में गये।

सम्भवतः डाक्टर साहब को भ्रान्ति इसलिये हुई है क्योंकि कुण्डपुर में ज्ञातकुल के क्षत्रिय रहते थे और कोल्लाग में भी ज्ञातकुल के क्षत्रिय; इसलिए उन्होंने दोनों को एक समझकर वर्णन कर दिया।

(६) डॉ० जाकोबी का विचार है कि त्रिशला माता को जैनग्रन्थों में सर्वत्र क्षत्रियाणी रूप में लिखा गया है, देवीरूप में नहीं। हम यह ऊपर बता चुके हैं कि क्षत्रिय का अर्थ कोश और टीकाकारों के अनुसार ‘राजा’ भी होता है, उसी सम्बन्ध में क्षत्रियाणी का अर्थ देवी या रानी हो जायेगा। सामान्यतः भारतीय शब्द प्रयोग परम्परा यह है कि क्षत्रिय-वंश से सम्बन्ध होने के कारण नाम के पीछे पुनः-पुनः क्षत्रिय का प्रयोग नहीं किया जाता, परन्तु यदि क्षत्रियवंश से सम्बन्ध होने पर वीरोचित कार्य करता है अथवा राजकुल से सम्बद्ध होता है तो कहा जाता है कि ‘क्षत्रिय ही तो है’। उसका सम्मान प्रगट करने के लिये क्षत्रियशब्द का प्रयोग किया जाता है।

इसके अतिरिक्त जैनग्रन्थों में त्रिशला माता को देवी रूप में बहुत स्थलों पर वर्णन किया गया है। ऊपर क्षत्रियकुण्ड वाले प्रकरण में हमने आचार्य पूज्यपाद विरचित दशभक्ति से एक श्लोक उद्धृत किया था, उसमें माता त्रिशला के लिए देवीशब्द का प्रयोग किया गया है। वह पंक्ति इस प्रकार है—

‘देव्यां प्रियकारिण्यां सुस्वप्नान् संप्रदर्श्य विभुः।’

अन्य ग्रन्थों में भी देवी का प्रयोग किया गया है—

(१) त्रिशष्टिशलाकापुरुषचरित्र के पर्व १० सर्ग २ में—

(क) दधार त्रिशलादेवी मुदिता गर्भमद्भुतम्।३३।

(ख) उपसृत्यागतो देव्याश्चावस्वापिकां ददौ।५४।

(ग) देव्याः पार्श्वे च भगवत्प्रतिरूपं निधाय सः।५५।

(ङ) उवाच त्रिशलादेवी सदने नस्त्वमागमः।१४१।

(२) महावीरचरियं में क्रमशः पत्र २८ और ३३ पर निम्न स्थलों पर देवी का प्रयोग है।

(क) तस्स घरे तं साहर तिसलादेवीए कुच्छिंसि।५१।

(ख) सिद्धत्यो य नरिन्दो तिसलादेवी य रायलोओ या६८।

(७) डॉ० हार्नले के अनुसार तो सन्निवेश का अर्थ मुहल्ला है और डॉ० जाकोबी के मतानुसार उसका अर्थ 'पड़ाव' है। यहाँ दोनों ने शब्द के अर्थ का अनपयुक्त प्रयोग किया है, क्योंकि सन्निवेश के अर्थ बहुत से होते हैं और यहाँ यह अर्थ 'ग्राम' से है।

(क) पाइअसद्महण्णवो के पृष्ठ १०५४ पर सन्निवेश के अर्थ में दिये हैं—

(१) नगर के बाहर का प्रवेश, (२) गाँव, नगर आदि स्थान। (४) ग्राम, गाँव आदि। (५) रचना आदि।

(ख) भगवतीसूत्र के प्रथम खण्ड, पृष्ठ ८५ पर टीकाकार ने सन्निवेश का अर्थ इस प्रकार लिखा है— 'सन्निवेशों घोषादिः, एषां द्वन्द्वस्ततस्तेषु, अथवा ग्रामादयो ये सन्निवेशास्ते तथा तेषु।'

(ग) निशीथचूर्णि में सन्निवेश का अर्थ दिया है—

'सत्यावासगत्याणं सण्णिवेसो गामो वा पीडितो संनिविट्ठो जत्तागतो वा लोगो सन्निविट्ठो सो सण्णिवेसं भण्णति।'

अभिधानराजेन्द्र, भाग सप्तम, पृष्ठ ३०७.

(घ) बृहत्कल्पसटीक, विभाग-२, पत्र ३४२-३४५ पर सन्निवेश का अर्थ दिया है— 'निवेशो नाम यत्र सार्थ आवासितः, आदि ग्रहणेन ग्रामो वा अन्यत्र प्रस्थितः सन् यत्रान्तरावासमधिवसति, यात्रायां वा गतो लोको यत्र तिष्ठति, एष सर्वोऽपि निवेश उच्यते।''११

(८) उवासगदसाओ में प्रयुक्त उच्चनीचमज्झिमकुलाइं के आधार पर डॉ० हार्नले ने वाणियागाम के तीन भाग करने का प्रयत्न किया है। दुल्व में आये वैशाली के वर्णन के साथ उसका मेल बैठाने का प्रयत्न करके वैशाली और वाणियागाम को एक बताने

का प्रयत्न किया है। जैन शास्त्रों में साधु के लिए नियम है कि साधु कहीं भी— ग्राम, नगर, सत्रिवेश या कर्बट आदि में भिक्षार्थ जावे, वहाँ बिना वर्ग और वर्णविभेद के ऊँच, नीच और मध्यम कुलों में भिक्षा ग्रहण करे। जिस प्रकरण को डाक्टरसाहब ने उद्धृत किया है वहाँ भी भगवान् ने गौतमस्वामी को भिक्षा के लिए अनुज्ञा देते हुए ऊँच, नीच और मध्यम सभी वर्गों में भिक्षाग्रहण करने का आदेश दिया है। **दशवैकालिकसूत्र हारिभद्रीयटीका**, पत्र १६३ में साधु को निर्देश है— “गोचरः’ उत्तमाधम-मध्यमकुलेष्वरक्तद्विष्टस्य भिक्षाटनम्’ इसलिए इसे आधार बनाने का प्रयास व्यर्थ है। **अन्तगडदसाओ** में भी यह कहा गया है कि भगवान् ने पुलासपुर, द्वारका आदि में ऊँच, नीच और मध्यम कुलों में भिक्षा ग्रहण का आदेश दिया। **भगवतीसूत्र** आदि अन्य ग्रन्थों में भी ऐसा ही वर्णन आता है। इनकी तुलना दुल्व में आये वैशाली के प्रकरण से की जा सकती है?

इसी भाँति श्रीमती स्टीवेन्सन ने डॉ० हार्नले की गलतियों को दुहराने के साथ एक और भयंकर भूल यह भी कर दी है कि भगवान् को वैश्य-कुलोत्पन्न बताया है (देखें **हार्ट ऑफ जैनज्म**, पृष्ठ २१-२) परन्तु इस स्थापना की किसी भी प्रमाण से पुष्टि नहीं होती।

आधुनिक मान्यता

आजकल क्षत्रियकुण्ड को कहाँ माना जाता है, इसके लिए हमें **श्री मुम्बई जैनस्वयंसेवक मण्डल रजतमहोत्सव स्मारकग्रन्थ**, सम्वत् २००१, पृष्ठ ५० से परिचय प्राप्त हो जाता है। वहाँ लिखा है— ‘लिच्छवाड और क्षत्रियकुण्ड-लक्खीसराय जंकशन उतर कर या तो बैलगाड़ी से अथवा मोटरबस द्वारा १८ मील दूर इस गाँव में आते हैं। बड़ी धर्मशाला के बीच में श्रीवीरप्रभु का मनोहर देवालय है। धर्मशाला से दक्षिण हाथ में क्षत्रियकुण्ड पहाड़ की ओर जाने का रास्ता पड़ता है, तलहटी २ मील है। वहाँ आमने-सामने दो छोटे-छोटे देवालय हैं। यहीं से पर्वत की चढ़ाई शुरू होती है। कठिन आधा रास्ता जाने के बाद और अधिक कठिन पथरीला मार्ग आता है। शेर, चीता का निवास होने से उजाला हो जाने के बाद चढ़ना अधिक सुरक्षित है। सपाट मैदान के बीच में किले वाला श्रीवीरप्रभु का देवालय है। यहीं पर अन्तिम तीर्थंकर (महावीरस्वामी) का चवन, जन्म और दीक्षारूप तीन कल्याणक हुए थे।’

जैनसिद्धान्तभास्कर, भाग १०, किरण २, पृष्ठ ६० पर दिगम्बरों की मान्यता इस प्रकार दी है— “नालन्दा से सटा हुआ लगभग दो मील की दूरी पर एक कुण्डलपुर नामक गाँव’ भगवान् महावीर की जन्मभूमि है।

ये मान्यताएँ कुछ भ्रमों पर आश्रित हैं। जैसा कि हम ऊपर निर्देश कर चुके हैं कि भगवान् के विशेषणों-विदेह, वैदेहदत्त, विदेहजात्य और विदेहसुकुमाल तथा

वैशालिक-से यही प्रतीत होता है कि भगवान् का विदेहान्तर्गत वैशाली के साथ बहुत कुछ सम्बन्ध है और उसके अतिनिकटस्थ स्थान में उनकी जन्मभूमि होना सम्भव है। इसके अतिरिक्त उनके बहुशालचैत्य में स्थिति से भी उनका इस स्थान से सम्बन्ध प्रतीत होता है और वैशाली में किये गये बारह वर्षावास भी इसी का प्रतिपादन करते हैं। मुनिकल्याणविजयजी ने अपने पुस्तक **श्रमण भगवान् महावीर** में इसी स्थापना की पुष्टि की है। आप उसी पुस्तक की भूमिका में पृष्ठ २७ पर लिखते हैं—

(१) भगवान् की दीक्षा के दूसरे दिन कोल्लाकसन्निवेश में पारणा करने का उल्लेख है। जैनसूत्रों के अनुसार कोल्लाक-सन्निवेश दो थे— एक वाणिज्यगांव के निकट और दूसरा राजगृह के समीप। यदि भगवान् का जन्म-स्थान आजकल का क्षत्रियकुण्ड होता तो दूसरे दिन कोल्लाक में पारणा होना असम्भव था, क्योंकि राजगृह वाला कोल्लाक-सन्निवेश वहाँ से कोई चालीस मील दूर पश्चिम में पड़ता था और वाणिज्यग्राम वाला कोल्लाक इससे भी बहुत दूर। इससे यही मानना तर्कसंगत होगा कि भगवान् ने वैशाली के निकटवर्ती क्षत्रियकुण्ड के ज्ञातखण्डवन में प्रव्रज्या ली और दूसरे दिन वाणिज्यग्राम के समीपवर्ती कोल्लाक में पारणा किया।

(२) क्षत्रियकुण्ड में दीक्षा लेकर भगवान् ने कर्मारग्राम, कोल्लाकसन्निवेश, मोराकसन्निवेश आदि में विहार कर अस्थिकग्राम में वर्षा चातुर्मास बिताया और चातुर्मास के बाद भी मोराक, वाचाला, कनकखल आश्रमपद और श्वेविका आदि स्थानों में विचरने के उपरान्त राजगृह की ओर प्रयाण किया और दूसरा वर्षावास राजगृह में किया था।

उक्त विहार-वर्णन में दो मुद्दे ऐसे हैं जो आधुनिक क्षत्रियकुण्ड असली क्षत्रियकुण्ड नहीं है, ऐसा सिद्ध करते हैं। एक तो भगवान् प्रथम चातुर्मास के बाद श्वेतविका नगरी की तरफ जाते हैं और दूसरा यह कि उधर से विहार करने के बाद आप गंगानदी उतरकर राजगृह जाते हैं।

श्वेतविका श्रावस्ती से कपिलवस्तु की तरफ जाते समय मार्ग में पड़ती थी। यह भूमिप्रदेश कोशल के पूर्वोत्तर में और विदेह के पश्चिम में पड़ता था और वहाँ से राजगृह की तरफ जाते समय बीच में गंगा पार करनी पड़ती थी, यह भी निश्चित है। आधुनिक क्षत्रियकुण्डपुर के आसपास न तो श्वेतविकानगरी थी और न उधर से राजगृह जाते समय गंगा ही पार करनी पड़ती थी। इससे ज्ञात होता है कि भगवान् की जन्मभूमि आधुनिक क्षत्रियकुण्ड जो आजकल पूर्व बिहार में गिद्धौर स्टेट में और पूर्वकालीन प्रादेशिक सीमानुसार अंगदेश में पड़ता है— नहीं है, किन्तु गंगा से उत्तर की ओर उत्तर बिहार में कहीं थी और वह स्थान पूर्वोक्त प्रमाणों के अनुसार वैशाली के निकटवर्ती क्षत्रियकुण्ड ही हो सकता है। — **श्रमणभगवान् महावीर**

(३) अभिधानराजेन्द्र, भाग ६ पृष्ठ १३६७ पर लिखा है—

**बहिआ य णायसंडे आपुच्छित्ताण नायए सव्वे।
दिवसे मुहुत्तसेसे कम्भारगामं समणुपत्तो।।**

बहिंधा च कुण्डपुरात् ज्ञातखण्ड उद्याने, आपृच्छ्य ज्ञातकान् स्वजनान्; सर्वान्-यथासन्निहितान्, तस्मात् निर्गतः, कर्मारग्राम गमनायेति वाक्यशेषः। तत्र च पथद्वयम्। तत्र च एको जलेन, अपरः स्थल्याम्, तत्र भगवान् स्थल्यां गतवान्, गच्छंश्च दिवसे मुहूर्त्तशेषेकर्मारग्रामं समनुप्राप्त इति गाथार्थः।..... तद्विवसं सामिस्स छट्टपारणयं, तओ भगवं विहरमाणे गओ कोल्लागसण्णिवेसे, तत्थ य भिक्खट्ठा पविट्ठो बहुलमाहणगेहं, जेणामेव कुल्लाएसिन्नवेसे बहुले माहणे। तेण महुधयसंजुत्तेण परमण्णेण पडिलाभिओ।

अर्थात् कुण्डपुर के बाहर के ज्ञातखण्ड उद्यान में अपने ज्ञातिक बन्धुओं से पूछकर कर्मारग्राम की ओर चल दिये। वहाँ जाने के दो रास्ते थे— एक जलमार्ग, दूसरा स्थलमार्ग। भगवान् स्थल-मार्ग से चले और दिन समाप्त होने में एक मुहूर्त्तशेष होने पर वहाँ पहुँचे। (रात में कर्मारग्राम रहे, दूसरे दिन)..... कोल्लाग में प्रवेश करने का दिन षष्ठपारणा (दो उपवासों की पारणा) का था, कोल्लागसन्निवेश में जाने पर भगवान् वहाँ भिक्षार्थ बहुल नाटक ब्राह्मण के घर में प्रविष्ट हुए। वहाँ बहुलब्राह्मण ने मधुघृतयुक्त खीर से पारणा कराया।

कुण्डपुर (क्षत्रियकुण्ड) से कर्मारग्राम जाने के लिये भगवान् को नदी पार करनी पड़ती थी। त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र में लिखा है—

ततः प्रतस्थे भगवान् ग्राम वाणिजकं प्रति।

मार्गे गण्डकिकां नाम नदीं नावोत्तार च।।

त्रि०ष०पु०च०, दशमपर्व, सर्ग ४, श्लोक १३९.

अर्थात् वैशाली से वाणिजकग्राम की ओर जाने के लिए भगवान् ने गण्डकी को पार किया। इससे प्रतीत होता है कि ये सब ग्राम एक दूसरे निकट थे— वैशाली, कुण्डपुर, कर्मारग्राम, कोल्लाग पास-पास थे।

(४) वैशाली और वाणिजकग्राम निकटस्थ थे।

वेसालिं नगरिं वाणियगाम च नीसाए दुवालस अन्तरावासे वासावासं उवागए।..... वैशाल्याः नगर्याः वाणिज्यग्रामस्य च निश्रया द्वादश चतुर्मासकानि वर्षावासार्थमुपागतः।

अभिधानराजेन्द्र, भाग ६, पृष्ठ १३८४.

(५) अभिधानराजेन्द्र, भाग २, पृष्ठ १०९ से ११२ में वाणिज्यग्राम, द्विपलाशचैत्य और कोल्लागसन्निवेश को निकट-निकट बताया है।

“तेण कालेणं तेणं समएणं वाणियग्गामे णामं णयरे होत्था।..... वण्णओ तस्स णं वाणियग्गामस्स णयरस्स बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए दूयपलासे चेइए।..... तस्स णं वाणियग्गामस्स वहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए तत्थ णं कोल्लागए णामं सन्निवेशेहोत्था।..... वाणियग्गामे णयरे मज्झंमज्झेणं णिग्गच्छइ २ ता जेणेव कोल्लाए सन्निवेशे जेणेव नायकुले जेणेव पोसहसाला तेणेव उवागच्छइ।..... तं एणं से भगवं गोयमे वाणियग्गामे नगरे जाव भिक्षायरिय जाव अडमाणो अहापज्जत्तं भत्तपाणं संमं पडि २ वाणि ० पडिनिग्गच्छइ २ ता कोल्लायस्स सन्निवेशस्स अदूरसामंतेणं वीतिवयमाणे बहुजणसदं णिसामेइ बहुजणो अण्णमण्णस्स एवमाइक्खइ।

अर्थात् वाणिज्यग्राम के बाहर उत्तरपूर्व द्विपलाशचैत्य था, उसी वाणिज्यग्राम के उत्तरपूर्व में कोल्लागसन्निवेश था।..... वाणिज्यग्राम नगर के बीच में से निकल जहाँ कोल्लागसन्निवेश है, जहाँ ज्ञातकुल है, जहाँ पोषधशाला है, वहाँ (आनन्द श्रावक) आये।..... — भगवान् गौतम ने भिक्षा लेने के बाद वाणिज्यग्राम से वापिस लौटते हुए कोल्लागसन्निवेश के निकट आपस में विचार विमर्श करते बहुत से लोगों को देखा।

उपसंहार

अब हम संक्षेप में इस परिणाम पर पहुँचते हैं—

(१) आधुनिक स्थान जिसे क्षत्रियकुण्ड कहा जाता है और जिसे लिच्छुआइ के पास बताया जाता है, मुंगेर जिले के अन्तर्गत है। महाभारत में इस प्रदेश को एक स्वतन्त्र राज्य ‘मोदगिरि’ के नाम से उल्लेख किया है, जो कि बाद में अंगदेश से मिला दिया गया था। अर्थात् प्राचीन ऐतिहासिक युग में यह स्थान विदेह में न होकर अंग देश अथवा मोदगिरि-अन्तर्गत था। इसलिए भगवान् की जन्मभूमि यह स्थान नहीं हो सकती।

(२) आधुनिक क्षत्रियकुण्ड पर्वत पर है जब कि प्राचीन क्षत्रियकुण्ड के साथ शास्त्रों में पर्वत का कोई वर्णन नहीं मिलता। वैशाली के आसपास क्योंकि पहाड़ नहीं हैं इसलिए भी वही स्थान भगवान् का जन्मस्थान अधिक सम्भव प्रतीत होता है।

(३) आधुनिक क्षत्रियकुण्ड की तलहटी में एक नाला बहता है जो कि गण्डकी नहीं है। गण्डकी नदी आज भी वैशाली के पास बहती है।

(४) शास्त्रों में क्षत्रियकुण्ड को वैशाली के निकट बताया है जबकि आधुनिक स्थान के निकट वैशाली नहीं है।

(५) विदेह देश तो गंगा के उत्तर में है जबकि आधुनिक क्षत्रियकुण्ड गंगा के दक्षिण में है।

इनसे यह स्पष्ट है कि भ्रांतिवश लिच्छुआइ के निकट पर्वत के ऊपर के स्थान

को क्षत्रियकुण्ड मान लिया गया है। यहाँ भगवान् का कोई भी कल्याणक-चवन, जन्म और दीक्षा-नहीं हुआ।

शास्त्रों के अनुसार हमारी यह सम्मति है कि जो स्थान आजकर बसाढ नाम से प्रसिद्ध है वही प्राचीन वैशाली है, इसी के निकट क्षत्रियकुण्डग्राम था जहाँ भगवान् के तीन कल्याणक हुए थे।^{१२} इसी स्थान के निकट आज भी वाणियागाँव, कूमनछपरागाछी और कोल्हुआ मौहूद हैं। आजकल यह क्षत्रियकुण्ड स्थान वासुकुण्ड नाम से प्रसिद्ध है। पुरातत्त्व विभाग भी वासुकुण्ड को ही प्राचीन क्षत्रियकुण्ड मानता है। यहाँ के स्थानीय लोग भी यही समझते हैं कि भगवान् का जन्म यहीं हुआ था। सन १९४१ में हमने स्वयं वहाँ तीन-चार दिन रहकर बसाढ, कूमनछपरागाछी, कोल्हुआ, वाणियागाँव और अशोकस्तम्भ आदि का निरीक्षण किया था। नदी का प्रवाह बदल जाने से वाणियागाँव, कोल्लाग और कर्मरग्राम नदी के पूर्वभाग में आ गये हैं।

सन्दर्भ

१. पार्श्वनाथचरितम् (श्रीहेमविजयगणि विरचित) में पृष्ठ ९० पर इसे 'वृत्त' रूप में लिखा गया है। क्योंकि प्राकृत रूप 'वट्ट' है; उसके संस्कृत में वर्त्त और वृत्त दोनों रूप बनते हैं। सम्भवतः इसी कारण लेखक ने वृत्त का प्रयोग किया है। काव्यमीमांसा तथा बृहत्संहिता आदि में 'वर्त्तक' देश का वर्णन है। इसलिये हमारी सम्मति में यहाँ 'वर्त्त' रूप ही अधिक ठीक है।
२. इसी में मल्लिनाथ भगवान्, श्री नमिनाथ भगवान्, अकम्पित गणधर और नमिनाम के प्रत्येक बुद्ध हुए हैं। यहीं महावीर स्वामी ने ६ चौमासे किये।
३. The Videhas are mentioned in the Brahmana portion of the Vedas as a people in a very advanced stage of civilisation. The part of the country where they lived appears to have been known by the name of Videha even in the still more ancient times of the Samhitas, for the Yajurveda Samhitas mention the cows of Videha, which appears to have been particularly famous in ancient India.

-- Tribes in Ancient India, page 235.

ब्राह्मण ग्रन्थों में विदेहों को उच्च संस्कृति और सभ्यता वाला बतलाया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि विदेह नाम संहिताओं से भी पहले का है, क्योंकि यजुर्वेद संहिता में विदेह की गौओं का उल्लेख है, जो कि प्राचीन भारत में विशेष रूप से विख्यात प्रतीत होती है।

४. राइस डेविड्स के अनुसार विदेह की राजधानी मिथिला वैशाली से उत्तर पश्चिम में ३५ मील पर थी (देखें, **बुद्धिस्ट इण्डिया**, पृष्ठ २६) जातकों के अनुसार चम्पा से मिथिला १६ योजना दूर थी।
५. डॉ० त्रिभुवनदास ने अपनी पुस्तक **प्राचीनभारतवर्ष** में अङ्गदेश को मध्यदेश में बताया है। इसी पुस्तक के भाग प्रथम पृष्ठ ४६ के नक्शे के अनुसार यदि कूणिय राजा का मार्ग पता चलाना चाहेंतो राजा कूणिय को मगधदेश के बीच में से होकर विदेह जाना पड़ा होगा। ऊपर के **निरयावलियाओ** के निर्देशानुसार अङ्ग से विदेह जाने के लिये बीच में कोई देश नहीं पड़ता। इसलिये डॉ० साहब की स्थापना केवलमात्र कल्पना ही है।
६. **दिव्यावदान** में इसका रूप 'लिच्छवि' है, परन्तु **महावस्तु** में इसी को 'लेच्छरी' रूप में लिखा है। बौद्धग्रन्थों का जो अनुवाद चीनी भाषा में हुआ था, उनमें 'लिच्छवी' और 'लेच्छवी' दोनों रूप हैं। **सूत्रकृताङ्ग** और **कल्पसूत्र** आदि जैनशास्त्रों में इसका प्राकृत रूप 'लेच्छइ' है, जिसका टीकाकारों के अनुसार संस्कृत रूप 'लेच्छवि' है। कुल्लुकभट्ट और राघवानन्द आदि बंगाली टीकाकारों ने इसे 'निच्छवि' लिखा है जो कि सम्भवतः प्राचीन बंगला के 'ल' और 'न' के सादृश्य से भ्रांति हो गई प्रतीत होती है। **मनुसंहिता** में जौली और बुहलर दोनों ने लिच्छवि पाठ रखा है। (देखें, **ट्राइब्स इन एन्शियण्ट इण्डिया**, पृष्ठ २९४-६)। कुल्लुकभट्ट से मेधातिथि ६०० वर्ष पूर्व और गोविन्दराज ३०० वर्ष पूर्व हुए हैं; इन दोनों ने 'लिच्छवि' पाठ दिया है। **पाइअसइमहण्णवो** में 'लिच्छवि और लेच्छइ' दोनों पर्यायवाची हैं और लेच्छइ का संस्कृत रूप 'लेच्छकि' है।
- लिच्छवि और वज्जी (सं० वृजि) पर्यायवाची हैं (देखें **ट्रा०इ०ए० इण्डिया**, पृष्ठ ३११)।
- मनु ने लिच्छवियों को ब्रात्य लिखा है, (**मनुस्मृति**, अध्याय १०, श्लोक १०) अर्थात् लिच्छवि, मनु के मत से हीन क्षत्रिय थे। परन्तु लिच्छवि हीन क्षत्रिय नहीं थे। मनु ने उन्हें ब्रात्य इसलिये लिखा प्रतीत होता है क्योंकि ये लोग ब्राह्मणधर्म के अनुयायी न होकर अर्हतों और चैत्यों की पूजा करते थे। इसका वर्णन अथर्ववेद में भी मिलता है।
७. ज्ञात के लिए प्राकृत में नाय, नात और नाथ शब्द प्रयुक्त हुए हैं। ज्ञातशब्द का भी प्रयोग बहुत कम स्थानों पर है। देखें, **बृहत्कल्पवृत्तिसहित**, विभाग ३, पत्र ९१२-१४।
८. कनिंघम की **एन्शियन्ट ज्योग्राफी ऑफ इण्डिया** (सम्पादक श्री सुरेन्द्रनाथ मजुमदार) में पृष्ठ ६५७ पर १ मील को ५.९२५ या ६ ली के लगभग माना

है। एक योजन में ८ मील गिने जाते हैं।

९. आजकल भी ऐसा ही है।
१०. **श्रमण भगवान् महावीर** नामक पुस्तक के पृष्ठ पाँच पर स्थिति इस प्रकार बताई गई है— “वैशाली के पश्चिम परिसर गण्डकी नदी बहती थी। उसके पश्चिम तट पर स्थित ब्राह्मणकुण्डपुर, क्षत्रियकुण्डपुर, वाणिज्यग्राम, कर्मारग्राम और कोल्लाकसन्नवेश जैसे अनेक रमणीय उपनगर और शाखापुर अपनी अतुलसमृद्धि से वैशाली की श्रीवृद्धि कर रहे थे।” हमारी सम्मति में यह स्थिति ठीक नहीं है।

श्री बलदेव उपाध्याय ने **धर्म और दर्शन** में पृष्ठ ८५ पर इसी मान्यता को दोहराया है। प्रतीत होता है कि विद्वान् लेखक भी उसी भ्रांति के शिकार हुए हैं।

११. **श्री महावीर कथा** (सम्पादक : गोपालदास जीवाभाई पटेल) में पृष्ठ ७९ से ८५ के बीच डॉ० हार्नले के आधार पर राजा सिद्धार्थ को सामान्य क्षत्रिय बताते हुए भी उसके राजत्व को स्वीकार कर लिया है। (देखें पृष्ठ ७९)। इसी प्रकार विदेह, मिथिला, वैशाली और वाणिज्यग्राम को एक मान लिया है, जिसका ऊपर प्रतिवाद कर दिया गया है एवं पृष्ठ ८१ पर ‘कुल’ का अर्थ घर किया है जो कि ठीक नहीं है। इसका अर्थ ‘घराना’ हो सकता है घर नहीं। पृष्ठ २८९ पर आनन्द को ज्ञातकुल का लिखा गया है जो कि नितान्त भ्रान्तिजनक है; आनन्द कौटुम्बिक था, न कि ज्ञातक।
१२. इसी वैशाली में जो कुण्डग्राम है वही श्रीमहावीरस्वामी का जन्मस्थान है। वहाँ पर तीर्थकरों की मूर्तियों के निकलने से भी यह बात प्रगट है।
प्राचीनजैनस्मारक, ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद जी, पृष्ठ २८.



भगवान् महावीर के जन्मस्थान पर नया प्रकाश

मूल आलेख- श्री अजय कुमार सिन्हा
अनुवादक*- महेन्द्र कुमार नाहटा

जैनों के चौबीसवें व अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान् महावीर ने जैनधर्म की सुदीर्घ-परम्परा को और सुदृढ़ बनाया। अपने पूर्ववर्ती तीर्थङ्करों की तुलना में प्राचीन जैन ग्रन्थों में उनके जीवनवृत्त का विस्तार से पूर्ण उल्लेख मिलता है। आचाराङ्गसूत्र, जो श्वेताम्बर-परम्परा का सम्भवतः प्राचीनतम आगम ग्रन्थ है, में भगवान् महावीर के एक ब्राह्मणी- देवानन्दा की कुक्षि में प्रवेश से लेकर क्षत्रियकुण्डग्राम के क्षत्रिय शासक राजा सिद्धार्थ की पत्नी त्रिशला में गर्भान्तरण का पूर्ण उल्लेख उपलब्ध होता है। कल्पसूत्र में भी ऐसा ही वर्णन उपलब्ध होता है।

भगवान् महावीर के जन्मस्थान क्षत्रियकुण्डग्राम की भौगोलिक स्थिति के बारे में ■■■ मतभेद है। दिगम्बर सम्प्रदाय कुण्डलपुर को उनके जन्मस्थान के रूप में पूजित करता है, वहीं श्वेताम्बर सम्प्रदाय लछवाड़ के निकट जन्मस्थान को उनकी जन्मभूमि के रूप में वन्दना करता है। कुछ पाश्चात्य एवं भारतीय इतिहासविद् वैशाली को भगवान् महावीर की जन्मस्थली मानते हैं।

लेखक, जो एक पुरातत्त्वविद् है, ने उक्त सन्दर्भित तीनों स्थानों— कुण्डलपुर, लछवाड़ एवं वैशाली का सर्वेक्षण किया ताकि वास्तविक सत्य उद्घाटित हो सके। साहित्यिक, भूतत्व सम्बन्धी, भौगोलिक, पुरातत्त्व, भाषायी एवं ऐतिहासिक सन्दर्भों/प्रमाणों के आधार पर मैंने अपने निष्कर्ष स्थापित किये हैं।

साहित्यिक सन्दर्भ मूलतः आचाराङ्गसूत्र और कल्पसूत्र में सुरक्षित हैं। भगवान् महावीर ने ब्राह्मण कुण्डग्राम में निवास करने वाले ब्राह्मण ऋषभदेव की पत्नी देवानन्दा की कुक्षि में प्रवेश पाया था। कल्पसूत्र के अनुसार देवानन्दा ने निम्नलिखित चौदह वस्तुएँ स्वप्न में देखीं— हाथी, वृषभ, सिंह, गजलक्ष्मी, मालाओं का जोड़ा, चन्द्रमा, सूर्य, ध्वजपताका, मंगल कलश, पद्म सरोवर, सागर, देव विमान, रत्नराशि एवं प्रज्वलित अग्नि। तब देवराज शक्र (इन्द्र) के मस्तिष्क में यह विचार आया 'ऐसा कभी नहीं हुआ है, न ऐसा होता है कि अर्हत्, चक्रवर्ती, बलदेव या वासुदेव भूतकाल में, वर्तमान में अथवा भविष्य में किसी क्षत्रिय कुल के अलावा अन्य किसी कुल में उत्पन्न

*. पुरातत्त्व विभाग, पटना. **. २०, अगस्त क्रांति मार्ग, नई दिल्ली.

हों, वे इक्ष्वाकु कुल के परिवार में अथवा सिर्फ क्षत्रिय कुल में जन्म लेते हैं। तब उन्होंने शस्त्रदल के सेनापति हरिणगमेशी को आदेश दिया कि देवानन्दा की कुक्षि से भ्रूण का हस्तान्तरण ज्ञातृवंशीय राजा सिद्धार्थ की पत्नी रानी त्रिशला की कुक्षि में कर दिया जाये। आदेश का शीघ्र ही पालन किया गया। **आचाराङ्ग** और **कल्पसूत्र** दोनों के अनुसार भगवान् महावीर का जन्म चैत्र शुक्ला त्रयोदशी जब चन्द्रमा उत्तराफाल्गुणी नक्षत्र में था, को हुआ। महाराज सिद्धार्थ ने राजपुत्र का जन्मोत्सव बड़ी धूमधाम से मनाया, जिसे देखने के लिये स्वर्ग से कुछ किन्नरियाँ समीपवर्ती पहाड़ी पर आयी थीं। उनका नामकरण हुआ वर्द्धमान- उत्तरोत्तर वृद्धि पाने वाला, क्योंकि परिवार के कोष में उनके जन्म से ही वृद्धि होने लगी थी। कहा जाता है कि लोगों द्वारा उन्हें श्रमण कहा जाता था, क्योंकि वे हमेशा चिन्तनमग्न रहते थे तथा उन्हें महावीर भी कहा जाता था, क्योंकि वे आपदाओं एवं भय अवस्था में दृढ़ रहते थे। सिर्फ तीस वर्ष की आयु में उन्होंने अपना राजप्रासाद त्याग दिया और नयासांदा की वाटिका में पहुँचे, जो उनके गृह नगर के निकट अवस्थित था। वहाँ एक अशोक वृक्ष के नीचे उन्होंने अपने अलंकरण, वस्त्राभूषण आदि सभी बहुमूल्य वस्तुएँ त्याग दीं तथा पांच बार में मुट्ठी से अपने केश लोंच लिये। इसके पश्चात् वे कुमारसन्निवेश आये तथा अगले दिन कोल्लागसन्निवेश पहुँचे। कोल्लाग से वे मौरका पहुँचे एवं ८ महीने पश्चात् वापस कोल्लाग लौटे। उसके पश्चात् उन्होंने अस्थिग्राम का भ्रमण किया तथा पुनः मौरका लौट आये। उन्होंने अपना प्रथम वर्षावास अस्थिग्राम में बिताया, दूसरा मौरका में तथा तीसरा चम्पा में। चम्पा जाते हुए वे स्वर्णखाला भी गये। अपने आठ वर्षों के पद भ्रमण में, वे लोहागल्ल शहर पहुँचे, जहाँ नगर रक्षकों ने उन्हें कारागार में डाल दिया। उनके कारागार जाने की सूचना अस्थिग्राम में निवास करने वाले उनके मित्र उप्पल को प्राप्त हुई, तो तुरन्त उसने लोहागल्ल के लिये प्रस्थान किया एवं राजकुमार वर्द्धमान को कारागार से मुक्त करवाया। ग्यारह वर्ष समाप्ति पश्चात् उन्होंने चम्पा से प्रस्थान किया तथा जम्भियग्राम पधारे। तत्पश्चात् उन्होंने १२ योजन (करीब ४८ मील) का भ्रमण किया तथा पावापुरी पहुँचे। वे पुनः जम्भियग्राम आये और ऋजुवालुका नदी के उत्तरी तट पर एक 'शमक' के खेत में स्थित एक शाल वृक्ष के नीचे गहन ध्यानमग्न हो गये। उन्होंने राजगृह में १४ वर्षावास तथा वैशाली में १२ वर्षावास व्यतीत किये। सिर्फ ७२ वर्ष की आयु में पावापुरी में उनका देहावसान हुआ। शीघ्र ही उनके देहावसान का समाचार क्षत्रियकुण्ड तक पहुँचते ही उनके अग्रज- महाराज नन्दिवर्द्धन तुरन्त वहाँ पहुँच गये।

इन साहित्यिक तथ्यों का मूल्यांकन हमें भूगर्भीय, भौगोलिक, ऐतिहासिक तथा भाषायी साक्ष्यों के सन्दर्भ में करना चाहिए। कतिपय पश्चिमी विद्वानों यथा वी० ए० स्मिथ, हार्नले, जैकोबी, जैकी शार्पेन्टियर आदि तथा कुछ भारतीय विद्वानों के० पी० जैन, वाई० मिश्रा आदि की वैशाली को भगवान् महावीर की जन्मस्थली मानने की धारणा निर्मूल सिद्ध होती है, क्योंकि इसके समीप कोई पहाड़ी अवस्थित नहीं है। इसके अलावा

वे वैशाली के निकट ब्राह्मण कुण्डग्राम, क्षत्रिय कुण्डग्राम, मौरका, मुमारा, कोल्लाग, अस्थग्राम, जाम्भियग्राम, सुवर्णखाला, लोहागल्ल आदि नहीं इंगित कर पाये हैं। उन्होंने वासुकुण्ड को क्षत्रिय कुण्डग्राम तथा कोल्हुआ को कोल्लाग के रूप में माना है, जो गलत प्रतीत होता है। पावापुरी तथा वैशाली के मध्य की दूरी पावापुरी और लछवाड़ के मध्य की दूरी से अधिक है। लछवाड़ से व्यक्ति घोड़े पर बैठकर एक दिन में पावापुरी पहुँच सकता है। उपरोक्त विद्वानों ने लछवाड़ के निकट स्थित महानकुण्डघाट, कुमार, कोल्लगा, अस्थवान, जमुई, लोहारा, मउरा आदि ग्रामों को खोजने का कष्ट नहीं किया, जो क्रमशः ब्राह्मण कुण्डग्राम, क्षत्रिय कुण्डग्राम, कुमारा, कोल्लाग, आतिथ्यग्राम, जाम्भियग्राम, लोहागल्ल, मौरका आदि थे। ये सभी स्थान वर्तमान लछवाड़ कोठी से बीस मील की परिधि में अवस्थित हैं। जन्मस्थल के निकट एक भग्न दुर्ग को देखा जा सकता है, जो भगवान् महावीर के पिता राजा सिद्धार्थ से सम्बन्धित हो सकता है। यह अनेक पहाड़ियों की गोद में अवस्थित है। भगवान् महावीर के जन्म का दूसरा विवादित स्थान कुण्डलपुर भी पहाड़ियों से दूरी पर स्थित है। ये सभी प्रमाण लछवाड़ को भगवान् महावीर के जन्मस्थान होने का समर्थन करते हैं।

ऐतिहासिक तथ्य भी इस सन्दर्भ में वैशाली के विपरीत हैं। वैशाली के राजा चेटक के सात पुत्रियां थीं— प्रभावती, पद्मावती, मृगावती, शिवा, ज्येष्ठा, सुज्येष्ठा एवं चेल्लणा तथा एक बहिन त्रिशला थी। त्रिशला का विवाह क्षत्रियकुण्ड के राजा सिद्धार्थ के साथ हुआ था, प्रभावती का वत्स के राजा उदयन के साथ, पद्मावती का चम्पा के राजा दधिवाहन के साथ, मृगावती का कौशाम्बी के राजा शतानीक के साथ, शिवा का उज्जैन के राजा चण्डप्रद्योत के साथ, ज्येष्ठा का राजा के साथ, चेल्लणा का राजगृह के राजा श्रेणिक बिम्बसार के साथ हुआ। सुज्येष्ठा अविवाहित रही एवं श्रमणी बन गयी। चेटक एक शक्तिशाली राजा माने जाते थे, जिनकी तुलना मगध के राजा अजातशत्रु से की जाती थी, जो आपस में एक-दूसरे से सम्बन्धित भी थे। अतः हम यह पाते हैं कि भगवान् महावीर को उत्तर भारत में अपने मौसरे भाइयों की सहायता से अपने सिद्धान्तों के प्रचार-प्रसार में लाभदायक स्थिति प्राप्त थी। ये बड़े राजसी सम्बन्ध यह प्रमाणित करते हैं कि क्षत्रियकुण्ड एक महत्त्वपूर्ण साम्राज्य था एवं इसे वैशाली के राजा चेटक के अधीनस्थ नहीं माना जा सकता। इसके अलावा राजा अजातशत्रु ने वैशाली पर गम्भीर सैन्य आक्रमण किया तथा हलों (हलों की तरह तीक्ष्ण धार वाले अस्त्रों) की सहायता से इसे ध्वंस कर दिया। इससे यह प्रमाणित होता है कि वैशाली के राज्य को मगध के सम्राट् ने जीत लिया था। यह घटना अवश्य ही भगवान् महावीर के जीवनकाल में घटित हुई। भगवान् महावीर के अग्रज राजा नन्दिवर्द्धन का क्षत्रियकुण्ड ग्राम में बचा रहना लछवाड़ को उनके जन्मस्थान के रूप में स्वीकार करने को बाध्य करते हैं। अंग पर पहले ही राजा अजातशत्रु ने आधिपत्य स्थापित कर लिया था। राजा नन्दिवर्द्धन का क्षत्रियकुण्ड ग्राम का दुर्ग बहत सूदृढ़ था, जिसके कारण यह मगध

आधिपत्य में नहीं आ सका। भगवान् महावीर ने प्रारम्भ काल में- मुख्यतः केवलज्ञान प्राप्ति के पूर्व काल में, अंग और मगध साम्राज्यों में ही विहार कर अपने सिद्धान्तों का प्रचार किया। उन्होंने स्थानीय बोली- अर्द्धमागधी में अपने सिद्धान्तों का निरूपण तथा प्रचार किया। यदि वे वैशाली से सम्बन्धित होते तो उनकी भाषा वैगड़ होती। यह भाषायी तथ्य भी भगवान् महावीर के वास्तविक जन्मस्थान के सन्धान पर रोशनी डाल सकता है। लछवाड़ के निकट का क्षेत्र मागधी क्षेत्र के अन्तर्गत आता है।

पुरातत्त्व की दृष्टि से, कुछ भारतीय विद्वान् वैशाली में हुई खुदाई में भगवान् महावीर की कुछ प्रतिमाओं के मिलने के कारण इस स्थान को उनकी जन्मस्थली मानते हैं, परन्तु वर्तमान लेखक को लछवाड़ के निकट भगवान् महावीर की अनेकों उत्कीर्ण एवं अनुत्कीर्ण प्रस्तर मूर्तियां मिली हैं। मूल गर्भगृह में भगवान् महावीर की पद्मासन में श्यामवर्णीय मनोरम प्रस्तर प्रतिमा निश्चित रूप से १०वीं-११वीं सदी की है, जो विशाल आकार की है, परन्तु ऐसा कोई प्राचीन जैन भग्नावशेष वैशाली के निकट प्राप्त नहीं हुआ। लछवाड़ के निकट स्थित मन्दिरों में पूजा की जाने वाली भगवान् महावीर की अनेक प्रतिमायें १०वीं से १५वीं सदी की हैं। इससे यह प्रमाणित होता है कि यह स्थान भगवान् महावीर के जन्मस्थान के रूप में विख्यात था। यह विशेष रूप से ध्यान रखना चाहिए कि परम्पराएँ आसानी से लुप्त नहीं होती। यही परम्परा लछवाड़ में दूरस्थ स्थानों के हजारों जैन तीर्थ यात्रियों को आकर्षित करती थी। खरतरगच्छ के महान् जैन आचार्य जिनप्रभसूरि (१४वीं सदी) ने इन स्थानों की यात्रा भी की थी। उन्होंने अपनी रचनाओं में वर्णन किया है कि ब्राह्मण कुण्डग्राम तथा क्षत्रियकुण्ड ग्राम से राजगृह तथा पावापुरी की दूरी बहुत अधिक नहीं थी। १७वीं सदी के जैन कवि हंससोम ने भगवान् महावीर के जन्मस्थान से काकंदी (नौवें तीर्थङ्कर भगवान् सुविधिनाथ का जन्मस्थान) की दूरी सिर्फ ५ कोस (१० मील) बताया है। १७वीं सदी के श्वेताम्बर मुनि सौभाग्यविजय ने क्षत्रियकुण्डग्राम तथा ब्राह्मणकुण्डग्राम के पहाड़ियों के मध्य में होने का उल्लेख किया है। विभिन्न जैन तीर्थयात्रियों के इन वर्णनात्मक यात्रा वृत्तों का विशेष धार्मिक महत्त्व है। बहुयारी नदी के निकट मुर्शिदाबाद के राय धनपत सिंह ने सन् १८६३ में एक विशाल धर्मशाला का निर्माण भी करवाया था।

निःसन्देह भगवान् महावीर का वैशाली के लिच्छवियों से निकट सम्बन्ध था। 'लछवाड़' का नाम भी लिच्छवियों के कारण पड़ा। ऐसा लगता है कि कुछ लिच्छवी राजकुमारी त्रिशाला के साथ इस स्थान पर आये एवं वहीं बस गये। कालान्तर में यह स्थान लछवाड़ के नाम से जाना जाने लगा।

उपरोक्त तथ्यों के अनुशीलन से यह स्पष्टतः प्रमाणित होता है कि लछवाड़ के निकट जन्मस्थान ही भगवान् महावीर का वास्तविक जन्मस्थल है।

सन्दर्भ

- *. ए०के० चटर्जी, ए कम्प्रिहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ जैनियम (कोलकाता, १९७८).
- *. जी०सी० चौधरी, पालिटिकल हिस्ट्री ऑफ नार्दर्न इण्डिया फ्राम जैन सोर्सेज, (अमृतसर, १९६३).
- *. आर०आर० दिवाकर (सम्पादक), बिहार थ्रू द एजेज.
- *. एन०एल० दे, ज्योग्राफिकल डिक्शनरी ऑफ ऐंश्येण्ट एण्ड मेडिवल इण्डिया,
- *. ए०एफ०आर० हार्नले (सम्पा०), उवासगदसाओ।
- *. एच० जैकोबी (सम्पा०), कल्पसूत्र, (लन्दन, १८८२).
- *. एच० जैकोबी (सम्पा०), कल्पसूत्र (लिपजिग, १८७०).
- *. जे०सी० जैन, लाइफ इन ऐंश्येण्ट इण्डिया ऐज डेपिक्टेड इन जैन कैनन्स (बम्बई, १९४७).
- *. बी०सी० लॉ, महावीर : हिज लाइफ एण्ड टीचिंग्स (लन्दन, १९३७).
- *. एम०एल० मेहता एवं के०आर० चन्द्र, प्राकृतप्रापरनेम्स, भाग २ (अहमदाबाद, १९७०).
- *. वाई० मिश्रा, एन अर्ली हिस्ट्री ऑफ वैशाली, (बनारस, १९६२).
- *. डी०आर० पाटिल, दि एण्टिक्वेरियन्स रिमेन्स ऑफ बिहार (पटना, १९६३).
- *. ई०जे० रेप्सन (सम्पा०) दि कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, खण्ड-२ (कैम्ब्रिज, १९३२).
- *. पी०सी० रायचौधरी, दि बिहार डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, मुंगेर (पटना, १९६०)
- *. पी०सी० रायचौधरी, जैनियम इन बिहार .
- *. सी०जे० शाह, जैनियम इन नार्थ इण्डिया (बम्बई, १९३२).
- *. बी०पी० सिन्हा (सम्पा०), द कम्प्रिहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ बिहार, खण्ड-१ (पटना, १९७४).
- *. ए०के० सिन्हा, मुंगेर डिस्ट्रिक्ट थ्रू एजेज (पटना, १९७२) .
- *. वी०ए० स्मिथ, अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया .
- *. यू० ठाकुर, स्टडीज इन जैनियम एण्ड बुद्धियम इन मिथिला (बनारस, १९६४).



जैन तान्त्रिक साधना में सरस्वती

(जैन प्रबन्धों के विशेष सन्दर्भ में)

डॉ० अशोक कुमार सिंह

यदि तन्त्रशास्त्र या तान्त्रिकचर्या का मूल या अन्तस्तत्त्व यह माना जाय कि इसका लक्ष्य भगवान् या ईष्ट के पास पहुँचने की अपेक्षा भगवान् या इष्ट को ही आराधक के पास ले आना है तो इस अर्थ में तन्त्र साधना का क्षेत्र बहुत व्यापक हो जाता है और इष्ट देव या देवी के प्रत्यक्षीकरण अथवा उन्हें प्रसन्न करने के लिये जो भी क्रियाएँ की जाती हैं वे सब तन्त्र-साधना की सीमा के अन्तर्गत आते हैं। इस दृष्टि से देव, देवियों के प्रत्यक्षीकरण के निमित्त किये गये उपवास, व्रत, स्तुति, न्यास, मुद्रा, मन्त्र-जाप आदि भी मोटे तौर पर तन्त्र-साधना में ही समाहित हैं और इसी परिप्रेक्ष्य में जैन तन्त्र-साधना को देखा जाना चाहिए और निश्चित रूप से जैन-परम्परा में तान्त्रिक-साधना के तत्त्व विद्यमान हैं।

मानव की अन्तःशक्तियाँ असीम और अनन्त हैं। इन अन्तःशक्तियों को जागृत करने के लिये भारतीयों में प्राचीनकाल से ही किसी न किसी रूप में तन्त्र-साधना विद्यमान रही है। रासन फिलिप ने अपनी पुस्तक 'द आर्ट ऑव तन्त्र' में कहा है कि तन्त्र केवल धर्म या विश्वास ही नहीं वरन् एक विशेष प्रकार की जीवन पद्धति भी है। निवृत्तिमार्गी श्रमण-परम्परा का पोषक जैन धर्म मूलतः तन्त्र और मन्त्र का विरोधी था, परन्तु वैदिक और बौद्ध तान्त्रिक-साधना के प्रभाव से जैन धर्म में भी तन्त्र साधना का समावेश हुआ। सम्भवतः यही कारण है कि जैन वाङ्मय में मन्त्रवाद और विद्या के सम्बन्ध में परस्पर विरोधी अवधारणाएँ प्राप्त होती हैं। एक ओर चतुर्थ जैन अङ्ग 'समवाओं'^१ में मन्त्र और विद्या-साधना को पापश्रुत में समाविष्ट किया गया, जिसका व्यवहार जैन श्रमणों के लिये निषिद्ध था, तो दूसरी ओर छठे अङ्ग 'णायधम्मकहाओ'^२ में गणधर सुधर्मा की, विद्या और मन्त्र दोनों का ज्ञाता कहकर, प्रशंसा की गयी है तथा 'विशेषावश्यकभाष्य'^३ में आर्य खपुट को प्रशस्त भाव में विद्यासम्राट् कहा गया है। जैन ग्रन्थों में स्पष्ट कहा गया है विद्या और मन्त्रों के द्वारा, जो जैनधर्म का उत्कर्ष किया जाता है, वह प्रभावना अङ्ग कहलाता है, तत्त्वज्ञानियों को यह करना चाहिए। मिथ्यात्व के उत्कर्ष को बढ़ाने वाले

*. वरिष्ठ प्रवक्ता, पार्श्वनाथ विद्यापीठ.

मिथ्यादृष्टियों का अपकर्ष करने के लिये जो चामत्कारिक क्रियायें हैं, वे भी महात्माओं को करनी चाहिए।

यही कारण है मोक्षमार्गाभिमुख जैनधर्म व्यवहार में अलौकिक शक्तियों द्वारा राजाओं, प्रतिपक्षियों और जनसामान्य को प्रभावित करने का प्रयास हुआ। जैनधर्म में तन्त्र मुख्यतः मन्त्रवाद के रूप में था और तान्त्रिक-साधना के धिनौने आचरणपक्ष को इसमें कभी मान्यता नहीं मिली। यहाँ मन्त्रवाद के साथ ही शारीरिक, मानसिक और आत्मा की शान्ति तथा पवित्रता के लिये विद्याशक्ति को भी महत्त्व दिया गया। जैन-परम्परा में विद्वान् मन्त्र और विद्या को पृथक्-पृथक् मानते हैं। मन्त्र द्वारा देवों का आह्वान किया जाता है जबकि विद्या, देवियों की साधना से सम्बन्धित है, परन्तु वस्तुतः दिव्य शक्तियों से सम्बन्धित दोनों ही पद्धतियाँ मूलतः एक हैं।

विद्याओं का उल्लेख प्रारम्भिक आगमग्रन्थों में ही नहीं अपितु पूर्व साहित्य में भी प्राप्त होता है। परम्परागत मान्यता है कि तेंडिसवें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ की परम्परा का साहित्य, जो महावीर से पूर्ववर्ती होने के कारण पूर्वसाहित्य के नाम से जाना जाता है उसका दसवाँ पूर्व विद्यानुप्रवाद^४ पूर्णतः मन्त्र और विद्याओं से सम्बन्धित था। जैन-परम्परा में विद्याओं की कुल संख्या ४८ हजार बतायी गयी है। विद्वानों के अनुसार इनमें से १६ विद्याओं को लेकर आठवीं शती ई० में महाविद्याओं की संख्या नियत हुई। इन्हीं महाविद्याओं में से कुछ को ८-९वीं शती ई० में २४ यक्षिणियों में सम्मिलित किया गया।

जैनधर्म में श्रुतविद्या के रूप में सरस्वती की आराधना अत्यन्त प्राचीन है। 'निर्वाणकलिका'^५ में जैन द्वादशाङ्गी को श्रुतदेवता का अवयव और १४ पूर्व ग्रन्थों को उनका आभूषण बताया गया है। सरस्वती के चारों हाथों की कल्पना भी जैनागमों के धर्मकथानुयोग, द्रव्यानुयोग, चरणानुयोग और करणानुयोग रूप चार अनुयोगों के आधार पर की गयी है। वैदिक-परम्परा के विष्णुधर्मोत्तरपुराण में भी देवी सरस्वती की भुजाओं तथा उनमें धारणा किये गये उपकरणों के चित्रण में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद को देवी की चार भुजाएँ बताया गया है। इन प्राचीन जैन-पारम्परिक मान्यताओं के साथ ही जैन साहित्य से भी सरस्वतीपूजन की प्राचीनता की पुष्टि होती है। पञ्चम अङ्ग ग्रन्थ व्याख्याप्रज्ञप्ति (दूसरी-तीसरी शती), शिवशर्माकृत पाक्षिकसूत्र लगभग पाँचवीं शती ई०, महानिशीथसूत्र, द्वादशारण्यचक्रवृत्ति (लगभग ६७५ ई०), हरिभद्रसूरिकृत पञ्चाशक (लगभग ७७५ ई०), संसार दावानल स्तोत्र, तथा बप्पभट्टिसूरिकृत 'शारदास्तोत्र' (लगभग ८वीं शती ई० का तीसरा चरण) के साहित्यिक सन्दर्भ उक्त तथ के प्रमाण हैं। पुरातात्विक सन्दर्भों में मथुरा से प्राप्त प्राचीनतम कुषाणकालीन (१३२ या १३९ ई०) सरस्वती प्रतिमा, सरस्वती आराधना के प्राचीनकाल से प्रचलन को सिद्ध करती है। जैनमन्दिरों, विशेषतः पश्चिम भारत के मन्दिरों

पर, सरस्वती के अनेकशः निरूपण से भी सरस्वती पूजन की लोकप्रियता सिद्ध होती है। श्वेताम्बर-परम्परा में ज्ञानपञ्चमी और दिगम्बर-परम्परा में श्रुतपञ्चमी का आयोजन भी सरस्वती की लोकप्रियता का ही साक्षी है। जहाँ तक दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदाय में सरस्वती पूजन की लोकप्रियता का प्रश्न है, श्वेताम्बर सम्प्रदाय में सरस्वतीपूजन अधिक लोकप्रिय था। सम्भवतः यही कारण है कि बादामी, ऐहोल एवम् एलोरा जैसे दिगम्बर जैनस्थलों पर सरस्वती की मूर्तियाँ नहीं बनीं।^६

जैन-परम्परा में पूर्व मध्यकाल में श्वेताम्बर सम्प्रदाय में सरस्वती की साधना शक्ति के रूप में भी की गयी, जिसमें कालान्तर में तन्त्र का भी प्रवेश हुआ। पूर्वमध्यकालीन प्रबन्धों में सरस्वती की मान्त्रिक एवं तान्त्रिक-साधना के फलस्वरूप विभिन्न शक्तियाँ प्राप्त करने के बहुत से दृष्टान्त हैं। सरस्वती की मान्त्रिक एवं तान्त्रिक-साधनाओं से असाधारण कवि और वादी बनने के साथ ही अन्य प्रकार की विद्याशक्तियाँ प्राप्त होती थीं। जैन-परम्परा में सरस्वती सिद्धि के लिये मन्त्रगर्भित स्तोत्रों, मन्त्रों एवं यन्त्रों की रचना के साथ-साथ व्यवस्थित अनुष्ठान विधि का प्रचलन हो चुका था।

मध्ययुगीन जैन साहित्य में आचार्य वृद्धवादी, बप्पभट्टिसूरि, मल्लवादी सूरि, हेमचन्द्र, मल्लिषेण, नरचन्द्रसूरि आदि जैन आचार्यों द्वारा सरस्वती का साक्षात्कार करने तथा उनसे शक्ति प्राप्त करने का उल्लेख है। ये वृत्तान्त नेमिचन्द्रसूरिकृत आख्यानकमणिकोश, प्रभाचन्द्रकृत प्रभावकचरित (१२५० ई०), मेरुतुङ्गकृत प्रबन्धचिन्तामणि (१३०५ ई०), राजशेखरसूरिकृत प्रबन्धकोश (१३४८ ई०), पुरातनप्रबन्धसंग्रह (अज्ञात कर्तृक), जिनमण्डनकृत कुमारपालचरित आदि में उपलब्ध हैं। इन प्रबन्धों में सरस्वती आराधना का लक्ष्य, अलौकिक कवित्व शक्ति प्राप्त करना, प्रतिद्वन्दी वादी को पराजित करना आदि था। इन प्रबन्धों से यह ज्ञात होता है कि कश्मीर को ब्राह्मीदेश कहा जाता था और मान्यता थी कि सरस्वती यहाँ सशरीर निवास करती थी और आह्वान करने पर मानवी रूप में उपस्थित होकर अनुग्रह करती थीं। जैनाचार्य सरस्वती की कृपा प्राप्त करने तथा अपनी कृतियों को सरस्वती से स्वीकार कराने हेतु कश्मीर यात्रा करते थे।^७

उल्लेखनीय है कि वैदिक साहित्य में वर्णित सरस्वती आराधना के प्रयोजन जैसे रक्षा, समृद्धि, धन-प्राप्ति, सन्तान-प्राप्ति, शारीरिक बाधा नाश, व्याधिनाश, कृमि-कीटों का नाश, विष-शमन आदि का जैन-परम्परा में सर्वथा अभाव है।

प्रबन्ध ग्रन्थ प्रभावकचरित और प्रबन्धकोश में एक कथा वृद्धवादी सूरि (लगभग चौथी शती ई०) से सम्बन्धित है, जिन्होंने इक्कीस दिनों के उपवास द्वारा जिनालय में सरस्वती का आह्वान किया था। उनकी कठिन आराधना से प्रसन्न होकर सरस्वती ने सभी विद्याओं (सर्वविद्यासिद्ध) में पारङ्गत होने का वरदान दिया था। सरस्वती के

वरदान के बाद वृद्धवादी ने मान्त्रिक शक्ति द्वारा मूसल पर पुष्पों की वर्षा का सार्वजनिक प्रदर्शन किया।^८

प्रभावकचरित और प्रबन्धकोश के अनुसार ही गोपगिरि के शासक आमराज के दरबार के बौद्धवादी वर्धनकुञ्जर को पराजित करने के लिये जैन आचार्य बप्पभट्टसूरि ने सरस्वती का आहवान कर प्रत्यक्ष किया था। विवरण के अनुसार छः मास तक वाद का निर्णय न होने पर विजय के लिये बप्पभट्टि ने गुरुप्रदत्त मन्त्र से सरस्वती का आहवान किया। मन्त्र-शक्ति से अन्तरिक्ष गङ्गा में निर्वस्त्र स्नान कर रही सरस्वती वस्त्र धारण करना भूलकर बप्पभट्टि के समक्ष नग्न ही अवतरित हो गयीं। बप्पभट्टि ने देवी की स्तुति में १४ श्लोकों के स्तोत्रों की रचना की। स्तुति से प्रसन्न देवी ने वाद में विजय का मार्ग बताया। अदृश्य होने से पूर्व सरस्वती ने बप्पभट्टि को आदेश दिया कि वह इन १४ स्तोत्रों को दूसरे किसी के समक्ष न ही पाठ करे, न ही लिखित रूप में दें, क्योंकि ये स्तोत्र इतने शक्तिशाली हैं कि उन्हें साधक के समक्ष बार-बार उपस्थित होना पड़ेगा।

पुरातनप्रबन्धसंग्रह के अनुसार विभिन्न मतावलम्बी अपने-अपने दर्शन की श्रेष्ठता के सम्बन्ध में हुए विवाद के निर्णय के लिये राजा भोज के पास गये। भोज के आहवान पर प्रकट होकर देवी ने अर्हतधर्म (जैनधर्म) के आचरण का निर्णय दिया। वैदिक-परम्परा के अनुसार भी श्वेतकेतु ऋषि द्वारा मानवीरूप में सरस्वती का दर्शन करने का उल्लेख वनपर्व में प्राप्त होता है।

एक अन्य विवरण के अनुसार अन्तरिक्ष में विचरण करती हुई सरस्वती बौद्धों के साथ वाद में संलग्न जैन आचार्य मल्लवादी के कण्ठ में प्रविष्ट हो गयी थीं। फलस्वरूप मल्लवादी वाद में विजयी हुए। मल्लवादी की विलक्षण स्मरणशक्ति से प्रसन्न हो देवी ने एक श्लोक पढ़ने से ही सम्पूर्ण शास्त्र का अर्थ समझने का वरदान दिया। जैन प्रबन्धों के अनुसार देवी सरस्वती ने मल्लवादी को न्यायग्रन्थ 'नयचक्र' प्रदान किया।

मल्लवादी प्रसङ्ग में वर्णित सरस्वती का अन्तरिक्ष विचरण और कण्ठप्रवेश वैदिक साहित्य^९ में भी उल्लिखित है। सरस्वती अपने वाहन हंस पर अन्तरिक्ष में विचरण करती हैं। महाभारत के शान्तिपर्व में याज्ञवल्क्य कहते हैं कि उन्होंने एक बार यजुर्वेद सीखने के लिये तपस्या की थी, जिसके फलस्वरूप सूर्य प्रकट हुए और उनका अभिप्राय जानकर बोले कि तुम अपना मुख खोलो वाग्देवी सरस्वती तुम्हारे कण्ठ में प्रवेश करेगी। ऋषि ने वैसा ही किया और सरस्वती उनके कण्ठ में प्रविष्ट हो गयीं।

हेमचन्द्रसूरि (१२वीं शती ई०) भी अन्य चामत्कारिक शक्तियों के साथ ही सारस्वत शक्ति सम्पन्न थे। प्रभावकचरित^{१०} के अनुसार चौलुक्यराज जयसिंह ने हेमचन्द्र से उज्जैन के परमारशासक भोज के व्याकरण के समान ही एक व्याकरण ग्रन्थ की रचना का निवेदन किया था। इसी प्रसङ्ग में स्तुति से प्रसन्न होकर प्रत्यक्ष सरस्वती ने

पूर्वरचित व्याकरण ग्रन्थों को सन्दर्भ हेतु हेमचन्द्र को उपलब्ध कराने की आज्ञा दी। हेमचन्द्र का व्याकरण ग्रन्थ पूर्ण होने पर सरस्वती ने अपने कश्मीर स्थित मन्दिर के पुस्तकालय के लिये स्वीकार भी किया था। प्रबन्धकोश में उल्लेख है कि एक बार हेमचन्द्र ने चौलुक्य कुमारपाल का पूर्वभव जानने के लिये सरस्वती नदी के किनारे सरस्वती देवी का आहवान किया। तीन दिनों के ध्यान के पश्चात् सरस्वती (विद्या देवी) स्वयम् उपस्थित हुई और उन्होंने हेमचन्द्र को कुमारपाल के पूर्वभवों के बारे में बताया। 'भैरवपद्मावतीकल्प' एवं 'भारतीकल्प' के रचनाकार मल्लिषेणसूरि (११वीं शती) भी सारस्वत शक्ति सम्पन्न थे। 'वसन्तविलास' के रचनाकार सिद्धसारस्वत बालचन्द्रसूरि (लगभग प्रारम्भिक १३वीं शती) ने भी सफलतापूर्वक सरस्वती की मान्त्रिक साधना की थी।

प्रबन्धकोश^{११} के 'हरिहरप्रबन्ध' में भी सारस्वत शक्ति से सम्बन्धित एक कथा मिलती है। वस्तुपाल के दरबार में गौड़कवि हरिहर ने गुजरात के कवि सोमेश्वर को अपमानित किया था। सोमेश्वर ने १०८ श्लोकों की रचना की और उसे वस्तुपाल और हरिहर को सुनाया। स्तोत्र सुनकर हरिहर ने कहा कि यह मूल रचना न होकर भोजदेव की रचना की अनुकृति है और हरिहर ने सम्पूर्ण स्तोत्र को ही दुहरा दिया। बाद में हरिहर ने वस्तुपाल को यह बताया कि सारस्वत मन्त्र की साधना के फलस्वरूप प्राप्त अपूर्व स्मरण शक्ति के कारण ही वे १०८ श्लोकों, षट्पद काव्य तथा अन्य अनेक बातों को केवल एक बार सुनकर ही याद रखने में सक्षम थे। इसी कारण वे सोमेश्वर के १०८ श्लोकों की तत्काल पुनरावृत्ति कर सके थे।

जैन-परम्परा में तान्त्रिक शैली में सरस्वती-आराधना के बहुत से उल्लेख प्राप्त होते हैं। सरस्वती की साधना के लिये बहुत से स्तोत्रों और मन्त्रों की रचना की गयी। इनमें प्राप्त सरस्वती के स्वरूप, वाहन और आयुधों से सम्बन्धित विवरणों में भिन्नता है। सरस्वती, कहीं दो, चार या उससे अधिक भुजाओं सहित चित्रित है और विविध आयुधों से युक्त बतायी गयी हैं। श्वेताम्बर-परम्परा देवी को हंसवाहिनी मानती है जबकि दिगम्बर-परम्परा में वे मयूरवाहिनी हैं।

सरस्वती सम्बन्धी स्तोत्रों एवं ध्यान मन्त्रों एवं अन्य विवरणों आदि का अवलोकन करने पर एक महत्वपूर्ण तथ्य यह ज्ञात होता है कि इनमें सरस्वती की उत्पत्ति का कोई उल्लेख नहीं है। इसके विपरीत वैदिक साहित्य विशेषतः पुराणों में सरस्वती की उत्पत्ति सम्बन्धी कई कथानक प्राप्त होते हैं। कुछ पुराण सरस्वती को मूल प्रकृति का ही एक रूप बताते हैं, कहीं वह श्रीकृष्ण की शक्ति की जिह्वा से उत्पन्न बतायी जाती है। वायुपुराण के अनुसार ब्रह्मा के ही शरीर से महानाद करती हुई विश्वरूपा सरस्वती प्रकट हुई मानी गयी है और मत्स्यपुराण के आधार पर सरस्वती ब्रह्मा के शरीर से उत्पन्न हुई उनकी पुत्री बतायी जाती है।^{१२}

सरस्वती आराधना से सम्बन्धित स्तोत्रों एवं मन्त्रों की रचना का जहाँ तक प्रश्न है, सर्वप्रथम बप्पभट्टिसूरि के 'शारदास्तोत्र' एवं 'सिद्धसारस्वतीस्तव' प्राप्त होते हैं। इनके अतिरिक्त मल्लिषेणकृत सरस्वतीमन्त्रकल्प, हेमचन्द्रकृत 'सिद्धसारस्वतस्तव', जिनप्रभसूरिकृत 'शारदास्तवनम्', मुक्तिविमलगणिकृत 'सरस्वतीस्तोत्रम्' आदि लगभग ३० से अधिक स्तोत्र प्राप्त होते हैं। इन तान्त्रिक स्तोत्रों में शान्तिक, पौष्टिक, स्तम्भन, मारण, उच्चाटन जैसी तान्त्रिक साधनाओं का प्रचुर उल्लेख है।^{१३}

जैन-परम्परा में सरस्वती से सम्बन्धित मन्त्र भी अधिक संख्या में प्राप्त होते हैं। भद्रबाहुस्वामी, आचार्य बप्पभट्टिसूरि, हेमचन्द्र, मल्लिषेण, सोमतिलक, अभयदेव, जिनप्रभसूरि, सर्वदेवगणि और देवभद्रसूरि रचित सरस्वती मन्त्रों सहित लगभग ८० मन्त्र उपलब्ध होते हैं। इन मन्त्रों के जाप की विधि, मन्त्र-जाप संख्या तथा मन्त्र के फल के विषय में आचार्यों ने प्रसङ्गवश उल्लेख किया है।^{१४}

जैन स्तोत्रों में सरस्वती की साधना के लिये विभिन्न चामत्कारिक यन्त्रों के निर्माण से सम्बन्धित विस्तृत उल्लेख प्राप्त होते हैं। बप्पभट्टि और मल्लिषेण ने सरस्वती-यन्त्रपूजा विधि में अष्ट, द्वादश, षोडश, चौंसठ, १०८ तथा एक हजार पंखुड़ियों वाले पद्म पर बनाये जाने वाले यन्त्रों, होमकुण्ड में सम्पन्न विभिन्न तान्त्रिक विद्याओं एवं दस हजार, बारह हजार, एक लाख तथा इससे भी अधिक बार सरस्वती मन्त्रों के जाप की विधि बतायी है। 'सरस्वतीकल्प' में इन तान्त्रिक साधनाओं को 'सिद्धसारस्वतबीज' कहा गया है। उल्लेखनीय है कि नैषधकार श्रीहर्ष ने भी 'मन्त्रयुक्त सारस्वत चिन्तामणि यन्त्र' निर्मित किया था।^{१५}

ज्ञातव्य है कि सरस्वती के भयंकर स्वरूपों वाले साधना मन्त्रों की भी रचना हुई है। भारतीकल्प, अर्हदासकृत 'सरस्वतीकल्प', शुभचन्द्रकृत 'सारस्वतमन्त्रपूजा' (लगभग १०वीं शती ई०) एवं एकसन्धिकृत 'जिनसंहिता' में त्रिनेत्र एवं अर्धचन्द्र से युक्त जटाधारी सरस्वती को भयंकर स्वरूपा और हुंकारनाद करने वाली बताया गया है। कुछ जैन ग्रन्थों में सरस्वती के करों में अंकुश और पाश का उल्लेख भी उनके शक्तिस्वरूप को ही प्रकट करता है। जैन स्तोत्रों में सरस्वती के तान्त्रिक स्वरूप को प्रकट करने वाले विभिन्न नाम भी प्राप्त होते हैं जैसे— काली, कामाक्षी, कपालिनी, कौली, रौद्री, खङ्गिनी, कामरूपिणी, त्रिपुरसुन्दरी, जम्भिनी, स्तम्भिनी, शूलिनी, हुंकारा, चामुण्डा, भैरवी आदि। विद्यानुशासन (लगभग १५वीं शती) में भयंकर दर्शना त्रिनेत्र वागीश्वरी को तीक्ष्ण और लम्बे दाँतों तथा बाहर निकली हुई जिह्वा वाली बताया गया है।^{१६}

जैनधर्म में देवी के भयानक स्वरूप वाले वामाचार साधना के भी स्पष्ट सन्दर्भ हैं। इनमें स्त्रीमोहन तथा काम इच्छा पूर्ति से सम्बन्धित मन्त्र विशेषतः उल्लेखनीय हैं।

नवाक्षरी विद्या की तन्त्रसाधना 'सुभगायोना' की उपस्थिति में सम्पन्न होती थीं। वामाचार साधना को प्रतिपादित करने वाले 'भारतीकल्प' में सुन्दर स्त्रियों और देवांगनाओं को सम्मोहित करने वाले तथा शत्रुओं को अकालमृत्यु देने और प्रेतालय भेजने से सम्बन्धित यन्त्रों तथा मन्त्रों का भी वर्णन हुआ है। उच्चाटन मन्त्रों में फट्, बषट् और स्वाहा जैसी तान्त्रिक अभिव्यक्तियों का प्रयोग होता था। ये साधनाएँ श्मशान जैसे स्थलों पर की जाती थीं। इन साधनाओं से सम्बन्धित मन्त्रोच्चार सुनने में भयावह होते थे। इनमें देवी के पाश, अंकुश और बाण जैसे आयुधों से युक्त भयंकर स्वरूप का ध्यान किया गया है। ग्रन्थों में सरस्वती मन्त्र सिद्धि के समय आने वाली विभिन्न बाधाओं को दूर करने वाले सुरक्षा मन्त्रों के भी उल्लेख है।

जहाँ तक जैन सरस्वती के प्रतिमाओं में तन्त्र के प्रभाव का प्रश्न है तो निश्चित रूप से तन्त्र का प्रभाव अत्यल्प रहा है। जैन-परम्परा की मूर्तियों में सर्वदा सरस्वती का अनुग्रहकारी शान्तस्वरूप ही प्रदर्शित हुआ है। केवल कुछ ही उदाहरणों में विद्या, संगीत और अन्य ललितकलाओं की देवी सरस्वती के साथ शक्ति के कुछ तान्त्रिक भाव वाले लक्षण प्राप्त होते हैं।

सन्दर्भ :

१. **समवाओ**, सं० युवाचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्वभारती, लाडनू १९८४.
२. **ज्ञाताधर्मकथा** १/४, सं० मधुकर मुनि, जैनागम प्रकाशन समिति, व्यावर, १९८१.
३. **विशेषावश्यकभाष्य** गाथा ३५८९, सम्पा०-पं० दलसुख मालवणिया, एल०डी० सिरिज २१, अहमदाबाद, १९६८.
४. **देवेन्द्रमुनि शास्त्री**, जैन आगम साहित्य-मनन और मीमांसा, उदयपुर, पृष्ठ.
५. **निर्वाणकलिका**, पृष्ठ १७, द्रष्टव्य शाह, यू०पी० 'आइकनोग्राफी ऑफ जैन गार्डस सरस्वती', जर्नल आव यूनिवर्सिटी आव बाम्बे, खण्ड १०, मुम्बई, १९४१, पृष्ठ १९६.
६. शाह, यू०पी०, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ १९६.
७. **अशोक कुमार सिंह**, राजशेखर सूरिकृत प्रबन्धकोश का आलोचनात्मक अध्ययन, (शोधप्रबन्ध), पृष्ठ २६४-२६५.
८. **वृद्धवादि**, सिद्धसेन प्रबन्ध, प्रबन्धकोश, राजशेखर सिंधी जैन ग्रन्थमाला, कलकत्ता १९४०, पृष्ठ १३-१५.
९. **सुशीला खरे**, प्राचीन भारतीय संस्कृति में सरस्वती, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-५, १९६६, पृष्ठ २६.

१०. **प्रभावकचरित**, आचार्य प्रभाचन्द्र, सिंधी जैन ग्रन्थमाला, कलकता १९४०, पृष्ठ २१५.
११. **प्रबन्धकोश**, पूर्वोक्त, पृष्ठ ४७.
१२. सुशीला खरे, पूर्वोक्त, पृष्ठ २७ व ३३.
१३. मारुतिनन्दन तिवारी एवं कमलगिरि, **जैन विद्या के विविध आयाम**, पा०वि०, वाराणसी-५, १९९१, पृष्ठ १६३-६४.
१४. मुनि कुलचन्द्र विजय, **सिद्ध सरस्वती सिन्धु**, शंखेश्वर पार्श्वनाथ जैन मन्दिर, सूरत १९९४, पृष्ठ ११३-१३१.
१५. द्रष्टव्य, **जैन विद्या के विविध आयाम**, पृष्ठ १६४-१६५.
१६. वही, पृष्ठ १६४.
सिद्धसारस्वत सिन्धु; पूर्वोक्त, पृष्ठ १३२-१३४.
जैन विद्या के विविध आयाम, पूर्वोक्त, पृष्ठ १६५.



जैन धर्म के चतुर्विध संघों का पारस्परिक सहदायित्व

डॉ० अरुण प्रताप सिंह

धार्मिक विकास के इतिहास में संघ का एक विशिष्ट महत्त्व है। सुव्यवस्थित रूप से धर्म के प्रचार-प्रसार में यह अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करता है। जैन संघ भी इसका अपवाद नहीं था। प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव के काल से ही संघ के अस्तित्व की सूचना मिलती है; तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि संघ की अवधारणा बाद में विकसित हुई। जैनधर्म के प्राचीनतम ग्रन्थ आचाराङ्ग एवं बाद के दशवैकालिक आदि आचारगत ग्रन्थों में “भिक्षु वा भिक्षुणी” अथवा “निगंठ वा निगंठी वा” का प्रयोग ही प्रायः हुआ है। इससे हमें भिक्षु-भिक्षुणियों के समुदाय का ही संकेत प्राप्त होता है जिनको नियम-पालन का निर्देश दिया गया था। संघ शब्द का उल्लेख स्थानाङ्ग, समवायाङ्ग, भगवती, ज्ञाताधर्मकथा एवं प्रकीर्णकों में हुआ है, परन्तु इससे संघ का क्या अभिप्रेत है, स्पष्ट नहीं है। भगवती में चतुर्विध तीर्थ का उल्लेख है, सम्भवतः चतुर्विध संघ के सम्बन्ध में सबसे प्राचीन संकेत हमें यहीं प्राप्त होता है। दिगम्बर-परम्परा के ग्रन्थों सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक एवं भगवतीआराधना आदि में संघ का सन्दर्भ अनेक बार आया है। भगवतीआराधना में गुण-समूह का नाम संघ बताया गया है— संघो गुणसंघाओ।¹ इसी प्रकार तत्त्वार्थवार्तिक में दर्शन, ज्ञान और चारित्र में जो संघात को प्राप्त है, उसे संघ कहा गया है— “दंसणणाण चरित्ते संघायतो हवे संघो”।² दर्शन, ज्ञान और चारित्र— इन तीनों रत्नों से युक्त मुनि समूह का नाम संघ बताया गया है। जैनधर्म की दो मुख्य धारा— श्वेताम्बर एवं दिगम्बर— के अतिरिक्त एक तीसरी धारा यापनीय के नाम से प्रख्यात हुई। इसमें भी हमें कालान्तर में विकसित हुए गणों एवं अन्वयों की सूचना मिलती है, परन्तु प्रारम्भिक स्रोतों में केवल संघ शब्द ही प्राप्त होता है। सबसे प्राचीन स्रोत कदम्बवंश के नरेश रतिवर्मा का हल्सी अभिलेख है जिसमें “यापनीय संघेभ्यः” उल्लिखित है।³ इस बहुवचनात्मक प्रयोग से यह सिद्ध है कि इस सम्प्रदाय के अन्तर्गत भी कुछ गण या अन्वय थे (जैसाकि कालान्तर के अभिलेखों से सूचित भी होता है)। संघ स्पष्टतः एक अमूर्त राष्ट्रीय इकाई परिलक्षित होती है जिसमें अनेक गणों, गच्छों एवं कालान्तर में विकसित हुए विभिन्न शाखाओं एवं कुलों का समावेश था। यहाँ हमारा तात्पर्य भिक्षु-भिक्षुणी एवं श्रावक-श्राविका के उस समवेत संघ से है जिसे सामान्य शब्दावली में चतुर्विध संघ कहा गया। प्रस्तुत लेख का उद्देश्य इन्हीं

*. प्रवक्ता, इतिहास विभाग, श्री बजरंग महाविद्यालय, दादर आश्रम, बलिया.

चतुर्विध संघों के मध्य विकसित हुए पारस्परिक सहदायित्व की उज्ज्वल भावना को उजागर करना है।

जैनधर्म के विकास में संघों के पारस्परिक सम्बन्ध एवं उनके उत्तरदायित्वपूर्ण कर्तव्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहे हैं। पारस्परिक सौहार्दपूर्ण वातावरण में ही कोई धर्म पल्लवित एवं पुष्पित हो सकता है। निश्चित ही जैनधर्म में भिक्षु-संघ का भिक्षुणी-संघ के साथ तथा श्रमण संघ (भिक्षु एवं भिक्षुणी) का श्रावक संघ (श्रावक एवं श्राविका) के साथ अत्यन्त मधुर सम्बन्ध विकसित हुआ। इसी पारस्परिक सहभागिता का यह परिणाम था कि अनेक विपरीत परिस्थितियों में भी जैनधर्म की मूलधारा कोई मूलभूत परिवर्तन किये बिना अविरल बहती रही।

सामूहिक रूप से संघों के पारस्परिक सम्बन्धों पर विचार करने के पूर्व हमें श्रमण एवं श्रावक के व्यक्तिगत गुणों का ज्ञान प्राप्त कर लेना आवश्यक है। व्यक्तियों के समूह से ही संघ बनता है और संघ में किस प्रकार के व्यक्ति— पुरुष या स्त्री— का प्रवेश स्वीकृत था, इसकी चर्चा अनुपयुक्त नहीं होगी। संघ में प्रवेश के इच्छुक व्यक्ति को अपने माता-पिता, अन्य पारिवारिक सदस्यों अथवा अग्रज की अनुमति आवश्यक थी। उसे रोग-व्याधि, व्यक्तिगत अथवा राजकीय ऋण या कर्ज से मुक्त होना चाहिए ताकि संघ-प्रवेश के बाद कोई विवाद न खड़ा हो सके। किसी भी अवस्था में कोई नपुंसक स्वीकृत न हो जाये- इसका विशेष ध्यान रखा जाता था, क्योंकि यह माना गया था कि इसमें पुरुष एवं स्त्री— दोनों के वेद होते हैं और समयानुसार यह दोनों को दूषित कर सकता है। जैन आचार्यों द्वारा संघ प्रवेश के समय कितनी कड़ी परीक्षा ली जाती थी— नपुंसकों के कितने भेद-प्रभेदों को व्याख्यायित किया गया, पढ़ कर आश्चर्य होता है। एक मछली सारे तालाब को गन्दा कर देती है अर्थात् एक व्यक्ति की अच्छाइयों एवं बुराइयों से सम्पूर्ण संघ प्रभावित हो सकता था— इसका पूर्ण ज्ञान जैन आचार्यों को था। व्यक्तिगत गुणों एवं आदर्शों को विशेष पल्लवित किया जाता था। मुनि स्थूलिभद्र एवं श्रावक आनन्द के व्यक्तिगत गुण आज भी समादृत एवं प्रेरणादायी हैं। जैनधर्म की यह विशेषता रही है कि उसके मतावलम्बियों की संख्या कम तो रही, परन्तु ज्ञान एवं आचरण में वह सर्वश्रेष्ठ थी।

जैन-परम्परा का एक आदर्श श्रमण (भिक्षु अथवा भिक्षुणी) कौन हो सकता था— इसकी विस्तृत चर्चा उत्तराध्ययन एवं दशवैकालिक में वर्णित है।^४ एक आदर्श भिक्षु वह माना गया जो सम्यक् दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र्य से युक्त हो, इन्द्रियों को संयत रखने में समर्थ हो, सरल वृत्ति का हो, शास्त्रज्ञ एवं बुद्धिमान हो। जो मन-वचन-काया को वश में रखता हो, अल्पाहारी, परिग्रह त्यागी तथा मित्र एवं शत्रु से रहित हो— वह सच्चा श्रमण माना गया। वस्तुतः समत्व भाव की साधना के कारण ही श्रमण, श्रमण

कहलाता है। जैन विचारणा के अनुसार साधना के दो पक्ष हैं— आन्तरिक और बाह्य। श्रमण जीवन आन्तरिक साधना की दृष्टि से समत्व की साधना है, राग-द्वेष की वृत्तियों से ऊपर उठना है।^{१५} **उत्तराध्ययनसूत्र** में स्पष्ट कहा गया है कि मुण्डित होने से कोई श्रमण नहीं बनता, वरन् जो समत्व की साधना करता है, वही श्रमण होता है।^{१६}

इसी प्रकार आदर्श श्रावक की भी कल्पना की गयी, जो उच्च गुणों से युक्त हो। जैन-परम्परा में श्रावक का अर्थ प्राकृत 'सावय' से लिया गया है जिसका तात्पर्य बालक या शिशु से है; अर्थात् साधना के क्षेत्र में अभी जो बालक है, उसे ही श्रावक कहा गया है। श्रावक शब्द में प्रयुक्त तीनों अक्षरों की विवेचना में बताया गया है कि **श्र** श्रद्धा, **व** विवेक, **क** क्रिया अर्थात् जो श्रद्धापूर्वक विवेकयुक्त आचरण करता है, वह श्रावक है।^{१७} **उपासकदशाङ्ग** में आनन्द आदि जिन श्रावक एवं श्राविकाओं का चरित्र वर्णित है, वे ही जैन-परम्परा के आदर्श श्रावक माने गये।

अपने विकास के प्रारम्भिक काल से ही श्रावक संघ का श्रमण संघ के साथ एक आत्मीयपूर्ण भावनात्मक सम्बन्ध विकसित हुआ। प्रत्येक श्रावक भिक्षु-भिक्षुणी की सेवा-सुश्रुषा एवं आदर-सम्मान के लिये सर्वदा तत्पर रहता था। भिक्षु या भिक्षुणी के उपस्थित होने पर प्रत्येक श्रावक श्रद्धा एवं सम्मान के साथ अभिवादन करता था। **ज्ञातार्थकथा** में चोक्खा परिव्राजिका के आने पर राजा द्वारा सम्मान करने का उल्लेख है।^{१८} इसी प्रकार **उपासकदशाङ्ग** में श्रेष्ठि आनन्द रुग्णावस्था में भी गणधर गौतम का अभिवादन करता है।^{१९} श्रावकों ने धर्म के उपदेशकों के प्रति यथोचित सम्मान प्रदर्शित किया। श्रमण वर्ग भी इस आदर-सम्मान के प्रत्युत्तर में उन्हें आध्यात्मिक एवं भौतिक प्रगति के लिये आशीर्वाद देता था। परस्पर सम्मान की भावना ने एक दूसरे को प्रेम के धागे में बाँधे रखा और समान लक्ष्य की प्राप्ति के लिये प्रेरित किया।

श्रावक वर्ग का एक प्रमुख कार्य श्रमण वर्ग को भोजन एवं वस्त्रादि की चिन्ताओं से मुक्त करना था। श्रावक वर्ग के इस सहयोग का ही परिणाम था कि श्रमण वर्ग अपना प्रायः सम्पूर्ण समय आध्यात्मिक चिन्तन में व्यतीत कर सका। जैन आचार्यों की अति विशाल ज्ञान धरोहर इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। मानव जीवन के सभी व्यापारों का उन्होंने गहन अध्ययन किया और उसको सुन्दर ढंग से प्रस्तुत भी किया। अतिथि, चाहे वह भिक्षु हो या गृहस्थ, भारतवर्ष में सदैव पूज्य माना गया और जैनधर्म में तो "अतिथिसंविभाग" गृहस्थ के सर्वाधिक पवित्र कर्तव्यों में से एक था। चूँकि गृहस्थ भिक्षु-भिक्षुणियों के भोजन-औषधि एवं भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे, अतः उन्हें श्रमण-वर्ग का "माता-पिता" तक कहा गया।

यह अवश्य है कि संघ की ओर से श्रमण वर्ग को यह निर्देश दिया गया था कि वे गृहस्थों के ऊपर भार न बनें। श्रमण के भिक्षावृत्ति की तुलना भ्रमर से की गयी

है। जिस प्रकार भ्रमर फूलों को किसी प्रकार की पीड़ा न देता हुआ उसके रस को ग्रहण कर अपनी आवश्यकता की पूर्ति कर लेता है उसी प्रकार भिक्षु-भिक्षुणियों को गृहस्थों को किसी प्रकार की पीड़ा न देते हुए उनके द्वारा बनाये गये भोजन में से अपनी आवश्यकता की पूर्ति कर लेने का निर्देश दिया गया था।^{१०} भिक्षु-भिक्षुणी गृहस्थ द्वारा श्रुत आहार एवं पान की निन्दा नहीं कर सकते थे, उन्हें समभाव से ग्रहण करने का निर्देश दिया गया था।^{११} साथ ही, श्रमण वर्ग को यह भी अनुशासित किया गया था कि स्वादिष्ट भोजन की लालच में वे किसी सम्पन्न एवं समृद्ध घर में न जायें, अपितु उन्हें सलाह दी गयी थी कि वे धनी-निर्धन सभी घरों से थोड़ा-थोड़ा भोजन ग्रहण करें।^{१२}

भिक्षा की इस प्रवृत्ति ने श्रमण एवं श्रावक वर्ग के सम्बन्ध को मधुर बनाने में सेतु का काम किया। जहाँ श्रावक वर्ग मुनिजनों को सेवा एवं आहार प्रदान कर अपने दायित्व का निर्वहन करता था वहाँ मुनि वर्ग भी समाज के इस अवदान का धर्म एवं दर्शन में चिन्तन कर उसका सुन्दर प्रत्युत्तर देता था। श्रावक एवं श्रमण की इस परस्पर सहभागिता ने एक दूसरे को सम्पर्क में बनाये रखा तथा एक दूसरे के सुख-दुःख का भागी बनाया।

जैनधर्म के प्रचार-प्रसार में भी श्रावक वर्ग श्रमण-वर्ग के साथ ही परस्पर का सहभागी रहा है। चतुर्विध संघ में श्रावक-श्राविकाओं की संख्या सर्वदा भिक्षु-भिक्षुणियों की संख्या से ज्यादा रही है। कल्पसूत्र में प्रत्येक तीर्थङ्करों के समय के भिक्षु-भिक्षुणियों एवं श्रावक-श्राविकाओं की जो संख्या दी गयी है उससे उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि होती है। इस श्रावक-संघ में राजा-रंक, धनी-निर्धन, मन्त्री-सेवक सभी थे। इस संघ में राजा-मन्त्री के साथ ही सामान्य जनों का अद्भुत मिश्रण था। हमें जो अभिलेखिक सूचना प्राप्त होती है उससे कुछ महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष प्रकाश में आते हैं। कम से कम चतुर्थ शताब्दी ईसा पूर्व से हमें श्रावकों की जानकारी अभिलेखों से मिलनी प्रारम्भ हो जाती है। मगध सम्राट् नन्द स्वयं जैन धर्मावलम्बी प्रतीत होते हैं और उनके काल में जैनधर्म कलिंग तक पहुँच चुका था— इसकी पुष्टि खारवेल के हाथीगुम्फा अभिलेख से होती है। इसी अभिलेख से हमें दुर्घर्ष खारवेल के बारे में जानकारी प्राप्त होती है तथा जैनधर्म के प्रचार-प्रसार में उनके द्वारा कृत कार्यों की सूचना मिलती है।^{१३} यदि हम बौद्ध सिंहली ग्रन्थ महावंस की ऐतिहासिकता पर विश्वास करें तो सम्राट् अशोक के पूर्व ही जैनधर्म भारत की सीमाओं को लाँघकर श्रीलंका पहुँच चुका था।^{१४} इस महाअभियान में न केवल राजाओं एवं मन्त्रियों ने अपनी भूमिका निभायी, अपितु सामान्यजन की भूमिका कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण परिलक्षित होती है। यदि हम केवल कुषाणकालीन मथुरा के अभिलेखों का अध्ययन करें तो उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि होती है। यहाँ से प्राप्त अभिलेखों में लुहार, इत्र बेचने वाले, रंगकर्मी, सुनार, बढई, चर्मकार, नृतक, ग्राम प्रमुख आदि का नाम प्रचुरता से प्राप्त होता है। आश्चर्यजनकरूप से इन अभिलेखों में कई गणिकाओं का

उल्लेख हुआ है जिन्होंने आयागपट्ट, अर्हत् मन्दिर, स्तम्भ आदि निर्मित करवाकर चतुर्विध संघ को दान दिया था।^{१५}

स्पष्ट है, जैनधर्म को प्रसिद्ध करने, इसके प्रचार-प्रसार में श्रावकों की भूमिका अत्यन्त ही सराहनीय रही। श्रावक-श्राविकाओं ने श्रमण वर्ग के सुन्दर-सरल उपदेशों को अपने जीवन में आचरित कर उसको प्रभावी बनाने का प्रयास किया।

चतुर्विध संघ में श्रमण संघ को एक विशेष उत्तरदायित्व सौंपा गया। श्रमण संघ एक केन्द्रीय धुरी के रूप में स्थित था जिसके ऊपर सम्पूर्ण व्यवस्था के नियन्त्रण का भार था। चारों संघों में परम्पर सामञ्जस्य स्थापित करने का गुरुतर भार भी मुनि के ऊपर ही था। चूँकि श्रावक वर्ग ने मुनि वर्ग को भौतिक चिन्ताओं से मुक्त कर रखा था, अतः इनका मुख्य कर्तव्य नीति एवं धर्म के सम्बन्ध में चिन्तन एवं मनन करना था। नैतिक एवं सदाचार की शिक्षा देने के लिये ही भिक्षु-भिक्षुणियों को ग्राम-ग्राम एवं नगर-नगर भ्रमण करने का निर्देश था। जैन आगम साहित्य से स्पष्ट है कि भिक्षु-भिक्षुणियों का अधिकांश समय स्वाध्याय एवं धर्मोपदेश में ही व्यतीत होता था। दिन और रात्रि के चार-चार भाग किये गये थे और इनमें प्रथम, द्वितीय एवं चतुर्थ प्रहर ध्यान, स्वाध्याय एवं धर्मोपदेश के लिये था।^{१६} स्पष्ट है, मुनि वर्ग का अधिकांश समय धर्म एवं दर्शन के चिन्तन में ही व्यतीत होता था। यही कारण है कि जैन आचार्यों ने व्यक्ति, परिवार और कुल के साथ ही सम्पूर्ण राष्ट्र के उत्थान के सम्बन्ध में विचार किया और उसके लिये नीति-निर्देशक सिद्धान्तों का निर्माण किया। जैन आचार्यों द्वारा विवेचित १० धर्मों का उल्लेख हमें प्राचीन आगम **स्थानाङ्ग** में ही प्राप्त हो जाता है। इनमें ग्राम, नगर, राष्ट्र, कुल, गण, संघ आदि धर्मों की चर्चा की गयी है।^{१७} इस प्रकार श्रमण वर्ग श्रावकों की नैतिकता एवं सदाचार के प्रहरी के रूप में उपस्थित हुआ। श्रावक वर्ग में अनैतिकता का प्रसार न हो तथा वह सत्मार्ग की ओर उन्मुख हो, इसका प्रमुख दायित्व श्रमण वर्ग के ऊपर था। श्रमण वर्ग ने धर्म की सरल एवं स्पष्ट व्याख्या प्रस्तुत की। धर्म के प्रति श्रावक वर्ग की आस्था बनी रहे तथा उनमें तीर्थङ्करों एवं उनके उपदेशों के प्रति अश्रद्धा न उत्पन्न हो, श्रमण वर्ग को इसका विशेष ध्यान रखना था। इसी कारण उन्हें यह निर्देश दिया गया था कि वर्षाकाल के चार महीनों को छोड़कर शेष आठ महीने वे एक स्थान से दूसरे स्थान पर विचरण करें। इस का मुख्य उद्देश्य श्रावकों के मध्य धर्म एवं नैतिकता का उपदेश करना तथा उनसे अपना सम्पर्क जोड़ना था।

संक्षेप में, श्रमण संघ एवं श्रावक संघ के मध्य एक अटूट, गहरा और भावनात्मक सम्बन्ध कायम हुआ। दोनों पक्ष एक दूसरे की सुख-सुविधाओं के लिये प्रयत्नशील थे। दोनों ने एक दूसरे को दिया। श्रमण एवं श्रावक संघ की परस्पर सहभागिता में ही जैनधर्म की निरन्तरता का बीज छिपा हुआ है। प्राचीनकाल से लेकर आज तक, अपने में कोई मूलभूत परिवर्तन किये बिना, जैनधर्म की जो अजस्र धारा बह रही है— इसका

श्रेय श्रमण एवं श्रावक संघ के सदस्यों के परस्पर सम्बन्धों में निहित है। यहाँ पर बौद्धधर्म का सन्दर्भ देना असमीचीन नहीं होगा। अपने जन्मस्थल से बौद्धधर्म के पतन एवं जैनधर्म के निरन्तर विकास को इतिहासकारों ने इसी परिप्रेक्ष्य में देखा है। बौद्ध संघ के पतन का मूल कारण ही उसका अपने उपासकों से सम्बन्ध-विच्छेद होना था। द्वितीय-प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व से ही बौद्ध संघ में विहारों की स्थापना होने लगी थी। विहारों के निर्माण से भिक्षुओं का अपने उपासकों से सम्बन्ध टूट गया। सातवीं शताब्दी में आने वाले चीनीयात्री इत्सिंग ने नालन्दा महाविहार का उल्लेख किया है। उसने समीप के गांवों से बैलगाड़ियों में लदी खाद्य सामग्री को महाविहार में जाते हुए देखा था। जैन संघ में भी कालान्तर में भट्टारक सम्प्रदाय स्थापित हुआ, परन्तु जैन श्रमण संघ के अधिकांश सदस्य भिक्षावृत्ति का पालन करते रहे और जैन संघ में आज भी यह परम्परा कुछ परिवर्तन के साथ जीवित है। भिक्षावृत्ति से मुँह मोड़ने वाले सुविधाभोगी साधुओं की कड़ी आलोचना हम कालान्तर की शताब्दियों में भी सुनते हैं।^{१८} समाज से कभी भी साधुओं का सम्पर्क विच्छेद नहीं हुआ। इस यथार्थ सत्य को हम स्वर्गीय हरमन जैकोबी के शब्दों में व्यक्त कर सकते हैं—

It is evident that the lay-part of the community were not regarded as outsiders, as seems to have been the case in early Buddhism; their position was, from the beginning, well defined by religious duties and privileges; the bond which united them to the order of monks was an effective one. The state of a layman was one preliminary and, in many cases preparatory to the state of the monks..... It can not be doubted that the close union between laymen and monks brought about by the similarity of their religious duties differing not in kind but in degree has enabled Jainism to avoid fundamental changes within and to resist dangers from without for more than two thousand years, while Buddhism being less exacting as regards the laymen underwent the most extraordinary evaluations and finally disappeared altogether in the country of its origin.¹⁹

श्रावक एवं श्रमण संघ की इस सहभागिता ने जैनधर्म को विपरीत परिस्थितियों में जीवनदान दिया। संघ एवं समाज की रक्षा के लिये श्रमण एवं श्रावक सदैव प्रयत्नशील रहे। विपरीत परिस्थितियों में संघ एवं समाज की रक्षा के लिये अपवाद मार्ग का भी अवलम्बन लिया जा सकता था— इसका स्पष्ट निर्देश था। निशीथविशेषचूर्णि में अनेक कहानियों के माध्यम से उपर्युक्त तर्क को सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। संघ एवं समाज की रक्षा के निमित्त हिंसा एवं हत्या का सहारा लेना पड़े^{२०} अथवा

मन्त्र-तन्त्र, चमत्कार का प्रदर्शन करना पड़े^{२१}— तो वह भी स्वीकार्य था। संघ एवं समाज का संरक्षण अपरिहाय माना गया था, क्योंकि वह साधना की आधारभूमि है। इस प्रकार श्रमण एवं श्रावक दोनों ने एक दूसरे को सम्बल प्रदान किया।

यही नहीं, दोनों ने एक दूसरे पर नियन्त्रण करने का भी अधिकार प्राप्त किया। श्रमण वर्ग यदि बुरा आचरण करता था तो वह समाज की निन्दा का पात्र बनता था। श्रमण के ब्रह्मचर्य-स्खलन आदि अपराध करने पर उससे उसका वस्त्र-पात्र छीन कर उसे दण्ड दिया जाता था। यद्यपि ग्रन्थों से ऐसा कोई सन्दर्भ मैं प्राप्त नहीं कर सका, परन्तु डॉ० सागरमल जी जैन ने इसको व्यावहारिक उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। उन्होंने स्वयं एक शिथिल आचरण वाले भिक्षु को उसका वस्त्र-पात्र लेकर श्रमण संघ से बहिष्कृत करवाया तथा समाज के सहयोग से उसके सांसारिक जीवन की व्यवस्था करवायी। इस प्रकार श्रमण वर्ग के ऊपर समाज या श्रावकों का नियन्त्रण रहता था, जो उन्हें उच्चादर्शों को स्थापित करने के लिये प्रेरित करता था। आगमों से ऐसा उदाहरण प्राप्त होता है जब मुनिजनों को अपने गलत व्यवहार के लिये श्रावक से खेद प्रकट करना पड़ा। **उपासकदशाङ्ग** से स्पष्ट होता है कि श्रेष्ठि आनन्द के सम्मुख गलत तर्क देने पर स्वयं भगवान् महावीर ने अपने प्रधान शिष्य गणधर गौतम को आनन्द से क्षमा माँगने को कहा था।^{२२} ऐसा ही संघ, जिसे अपनी आलोचनाओं को सहन करने की क्षमता थी, प्रगति के पथ पर अग्रसर हो सकता था।

स्पष्ट है, जैनधर्म के प्रसार काल में श्रमण एवं श्रावक संघ के मध्य सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध विकसित हुए। अब हमें श्रावक संघ में श्रावक-श्राविका एवं श्रमण संघ में भिक्षु-भिक्षुणी के मध्य परस्पर सम्बन्धों की छानबीन करनी होगी। श्रावक संघ एवं श्राविका संघ के मध्य परस्पर क्या सम्बन्ध था— इसकी हमें कोई आगमिक सूचना नहीं प्राप्त होती। यदि हम आगमिक आख्यानों में प्रयुक्त कथाओं का विश्लेषण करें तो दोनों संघों के मध्य मधुर सम्बन्धों का निदर्शन प्राप्त होता है। आश्चर्यजनक रूप से यहाँ भी स्त्रियों (श्राविकाओं) की संख्या श्रावकों से ज्यादा है। सम्भवतः स्त्रियाँ सदैव से धर्मशील रही हैं। **उपासकदशाङ्ग** में रेवती आदि कुछ कलुषित विचार वाली स्त्रियों का अवश्य उल्लेख है,^{२३} परन्तु वे अपवादस्वरूप ही हैं। अभिलेखों से भी हमें उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि होती है। मथुरा के अभिलेखों में पत्नी, पुत्री एवं माताओं द्वारा जैन संघ को दान देने का बहुशः उल्लेख मिलता है।^{२४} हाथीगुम्फा अभिलेख में भी खारवेल की रानी द्वारा दान देने का उल्लेख है।^{२५} वस्तुतः जैन संघ द्वारा अनुमोदित श्रावक धर्म का पालन पति-पत्नी एवं परिवार के सभी सदस्यों ने श्रद्धापूर्वक किया।

जहाँ तक श्रमण संघ में भिक्षु एवं भिक्षुणी के मध्य सम्बन्ध का प्रश्न है, हमें गहराई से विचार करने की जरूरत है। आगमों का अनुशीलन करने से यह स्पष्ट होता है कि जैन संघ में भिक्षुणी की स्थिति निम्न थी। जैनधर्म के दिगम्बर सम्प्रदाय ने तो

स्त्री को तब तक मुक्ति की अधिकारी नहीं माना, जब तक वह पुरुष के रूप में पुनः जन्म न ले। इस सम्बन्ध में श्वेताम्बर सम्प्रदाय की विचारधारा अपेक्षाकृत उदार रही। इन्होंने नारी को न केवल मोक्ष का अधिकारी बताया अपितु यह भी स्वीकार किया कि नारी सर्वोच्च आध्यात्मिक गुण से सम्पन्न तीर्थङ्कर पद को प्राप्त कर सकती है। श्वेताम्बर जैन-परम्परा के आगम ग्रन्थों में प्रयुक्त “भिक्षु भिक्षुनी वा” तथा “निगगंठ निगगंठी वा” शब्द से भी यह द्योतित होता है कि अधिकांश नियम दोनों के लिये समान थे। परन्तु अधिकांश नियमों की समानता एवं सैद्धान्तिक उच्चादर्शों के बाद भी संघ में भिक्षु की तुलना में भिक्षुणी की स्थिति सदैव निम्न रही। संघ के नियमों के अनुसार तीन वर्ष का दीक्षित भिक्षु ३० वर्ष की दीक्षित भिक्षुणी का उपाध्याय बन सकता था तथा ५ वर्ष की दीक्षित भिक्षु ६० वर्ष की दीक्षित भिक्षुणी का आचार्य बन सकता था।^{२६} इसके अतिरिक्त संघ में आचार्य एवं उपाध्याय के पद केवल भिक्षुओं के लिये निर्धारित थे और कितनी भी योग्य भिक्षुणी क्यों न हो, वह इन उच्च पदों को धारण नहीं कर सकती थी। भिक्षुओं को यह विशेषाधिकार प्रारम्भ से ही प्राप्त रही। क्या यह आश्चर्यजनक नहीं कि भगवान् महावीर के ग्यारह गणधरों में कोई भी नारी नहीं थी जबकि संख्या एवं तपस्या में वे सदैव अग्रणी रहीं।

छेदसूत्रों से स्पष्ट होता है कि कालान्तर में जैन संघ में “पुरुषज्येष्ठधर्म” के सिद्धान्त को अपना लिया गया जिसके अनुसार भिक्षु-भिक्षुणी से प्रत्येक अवस्था में श्रेष्ठ था—

**सव्वाहिं संजतीहिं, कितीकम्मं संजताण कायव्वं।
पुरिसुत्तरितो धम्मो, सव्वजिणाणं पि तित्थम्मि।।^{२७}**

इसी प्रकार १०० वर्ष की दीक्षित भिक्षुणी को भी सद्यः प्रव्रजित भिक्षु की वन्दना करने का विधान था— वह इसकी अवहेलना नहीं कर सकती थी—

**वरिससय दिक्खिआए अज्जाए अज्जादिक्खिओ साहू।
अभिगमण वंदण नमसंणेण विणएण सो पुज्जो।।^{२८}**

इसी प्रकार उपदेश देने का अधिकार केवल भिक्षु को था। संघ के नियमानुसार कोई भिक्षुणी किसी भिक्षु को उपदेश नहीं दे सकती थी। अपवादस्वरूप भिक्षुणी राजीमती द्वारा भिक्षु रथनेमि को उपदेश देने का अन्यतम उदाहरण प्राप्त होता है।^{२९} राजीमती के प्रति बोधात्मक उपदेशों का ही यह परिणाम था कि रथनेमि की आँखें खुल गयीं और उन्होंने अपना शेष जीवन शाश्वत सत्य की खोज में लगाया। इसी प्रकार भिक्षुणी ब्राह्मी एवं सुन्दरी ने भी भिक्षु बाहुबलि को अहङ्काररूपी हाथी से नीचे उतरने का उपदेश दिया था;^{३०} किन्तु इन अपवादों के अतिरिक्त और कोई भिक्षुणी उपदेशक के रूप में नहीं मिलती। इसकी पुष्टि अभिलेखों से भी होती है। अभी तक प्राप्त किसी जैन अभिलेख

में किसी भिक्षुणी का उपदेशक के रूप में उल्लेख नहीं मिलता।

श्रमण संघ में भिक्षु की तुलना में भिक्षुणी की स्थिति निम्न अवश्य थी, परन्तु समाज में उनको वही सम्मान एवं आदर प्राप्त था, जो भिक्षु को था। ऐसा प्रतीत होता है कि सामाजिक जीवन में नारी की जो स्थिति थी, श्रमणसंघ में भी वही रूप प्रतिबिम्बित हुआ। आचार्य सामाजिक जगत् से प्रभावित हुए बिना न रह सके, आखिर वे भी समाज के ही अंग थे। प्रायः समान परिस्थितियों में विकसित बौद्ध संघ में भी हमें यही स्थिति दिखायी पड़ती है।^{३१} निम्न स्थिति के बावजूद भिक्षुणियाँ अपनी शिक्षा एवं तपस्या के बल पर श्रमण एवं श्रावक दोनों संघों में विशेष आदरणीय रहीं। भिक्षु संघ के साथ उनके सम्बन्ध सौहार्दपूर्ण रहे। साहित्य या अभिलेखों में दोनों के मध्य टकराहट के स्वर हमें कहीं नहीं सुनायी पड़ते।

जब हम श्रमण एवं श्रावक के पारस्परिक सम्बन्धों की विवेचना कर रहे हों तो यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि कौन-सी साधना श्रेष्ठ है? सामान्य रूप से श्रमण साधना श्रावक साधना से श्रेष्ठ मानी जाती है, परन्तु यदि हम निर्वाण या मोक्ष को व्यक्ति (चाहे वह श्रमण हो या श्रावक) का अन्तिम लक्ष्य या पुरुषार्थ मानें तो दोनों में कोई विशेष अन्तर नहीं रह जाता। श्रमण साधना का मार्ग तो मुक्ति-पथ की ओर जाता ही है, श्रावक साधना का पथ भी दिग्भ्रमित नहीं होता। श्रावक धर्म का पालन करते हुए अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचा जा सकता है और इसका पूरा विश्वास जैन आगम कराते हैं। **उत्तराध्ययनसूत्र** स्पष्ट रूप से इस शंका का समाधान प्रस्तुत करते हुए कहता है कि गृहस्थ जीवन से भी निर्वाण प्राप्त किया जा सकता है।^{३२} यही नहीं, साधना के पथ में कुछ गृहस्थ श्रमणों से श्रेष्ठ होते हैं— यह भी **उत्तराध्ययन** स्पष्ट करता है।^{३३} **उपासकदशाङ्ग** में श्रावक आनन्द का जो चरित्र वर्णित है, वह किसी भी मुनि के लिये स्पर्धा का विषय हो सकता है। हाँ, यह अवश्य है कि जैनधर्म की दिग्म्बर-परम्परा गृहस्थ मुक्ति का निषेध करती है। उसके अनुसार अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति के लिये मुनि धर्म अर्थात् दिग्म्बरत्व स्वीकार करना आवश्यक है, परन्तु “जैन धर्म की श्वेताम्बर-परम्परा में गृहस्थ धर्म को भी मोक्ष-प्रदाता माना गया है। श्रमण और गृहस्थ दोनों धर्म उसी लक्ष्य की ओर ले जाने वाले हैं, इतना ही नहीं, दोनों ही स्वतन्त्र रूप से उस परम लक्ष्य को प्राप्त करने में समर्थ भी माने गये हैं।”^{३४}

संक्षेप में, जैन धर्म के चतुर्विध संघ में भिक्षु-भिक्षुणी अर्थात् श्रमण संघ एवं श्रावक-श्राविका अर्थात् श्रावक संघ— इन दोनों का अपना विशिष्ट महत्त्व था। दोनों ने अपने लिये विहित कर्तव्यों एवं दायित्वों का निर्वाह करते हुए जैन धर्म के विकास में अपनी प्रशंसनीय भूमिका निभायी। विशाल जैनधर्मरूपी रथ के ये दोनों सबल एवं सुदृढ़ पहिये थे। दोनों के स्वस्थ रहने पर ही रथ अविराम गति से चल सकता था। एक पहिये की रुग्णता पूरे रथ की गति को व्यवधान में डाल सकती थी— इसका आभास

सबको था। श्रमण एवं श्रावक एक दूसरे के पूरक बने, एक दूसरे की आवश्यकता की पूर्ति की, एक दूसरे पर नियन्त्रण रखा और इस प्रकार दोनों ने समान लक्ष्य की प्राप्ति की।

सन्दर्भ

१. भगवतीआराधना, ७१४.
२. तत्त्वार्थवार्तिक, ६/१३/४.
३. *Epigraphia Indica*, Vol. X, p. 247.
एवं जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय, पृ० ३३.
४. उत्तराध्ययन, अध्याय १५; दशवैकालिक, अध्याय १०.
५. जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, सागरमल जैन, भाग २, पृ० ३२६-२७.
६. न वि मुण्डिण्ण समणो, न ओंकारेण बंधणो।
न मुणी रण्णवासेणं, कुसचीरेण न तावसो।।
समयाए समणो होइ, बंधचेरेण बंधणो।
नाणेण य मुणी होइ, तवेणं होइ तावसो।। उत्तराध्ययन, २५/३१-३२.
७. जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग २, पृ० २५८.
८. ज्ञाताधर्मकथा, पृ० ७४.
९. उपासकदशाङ्ग, प्रथम अध्याय
१०. जहा दुमस्स पुप्फेसु, भमरो आवियई रसं।
न य पुप्फं किलामेइ, सो य पीणेइ अप्पयं।।
एमेए समणा मुत्ता, जे लोए संति साहुणो।
विहंगमा व पुप्फेसु, दाण-भत्तेसणे रया।।
वयं च वित्तिं लब्भामो, न य कोइ उवहम्मइ।
अहागडेसु रीयंते, पुप्फेसु भमरा जहा।। दशवैकालिक, १/२-४.
११. वही, ५/२/१
१२. वही, ८/२३
१३. *Epigraphia Indica*, Vol. 20. p. 72.

१४. महावंस, १०/९५; ३३/४३.
15. *Epigraphia Indica*, Vol. II. p. 200.
१६. उत्तराध्ययन, २६/१२-१८.
१७. स्थानाङ्ग, १०/७६०.
१८. सम्बोधप्रकरण,
19. *Encyclopaedia of Religion and Ethics*, Vol. VII, p. 470.
२०. निशीथविशेषचूर्णि, २८९.
२१. वही, १७४३.
२२. उपासकदशाङ्ग, प्रथम अध्याय.
२३. वही, सप्तम अध्याय.
24. *Epigraphia Indica*, Vol. II. p. 198-212.
25. *Ibid*, Vol. 20, p. 72.
२६. “तिवासपरियाए समणे निगंथे तीसं वासपरियाए समणीए निगंथीए कप्पई उवज्झाएत्ताए उदिसित्तए” **ववहारसुत्तं**, ७/१९.
२७. बृहत्कल्पभाष्य, भाग ६, श्लोक ६३९९.
२८. कल्पसूत्र की कल्पलता टीका में उद्धृत गाथा, पृ० २.
२९. उत्तराध्ययन, २२वाँ अध्याय.
३०. आवश्यकचूर्णि, प्रथम भाग, पृ० २११.
३१. जैन एवं बौद्ध धर्म में भिक्षुणीसंघ, पृ० १९१-१९९.
३२. उत्तराध्ययन, ३६/४९.
३३. “संति एगेहिं भिक्खूहिं, गारत्या संजमुत्तरा” उत्तराध्ययन, ५/२०.
३४. जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का समीक्षात्मक अध्ययन, भाग २, पृ० २६०.



खरतरगच्छ-कीर्तिरत्नसूरि शाखा

का संक्षिप्त इतिहास

शिवप्रसाद

खरतरगच्छीय प्रभावक आचार्यों में कीर्तिरत्नसूरि का नाम उल्लेखनीय है। इनकी विशाल शिष्यसन्तति इनके नाम पर कीर्तिरत्नसूरिशाखा के नाम से विख्यात हुई। इस शाखा में हुए अनेक निस्पृह और विद्वान् मुनिजनों ने अपने धार्मिक और साहित्यिक क्रियाकलापों से खरतरगच्छ को जीवन्त और प्रभावशाली बनाने में अतुलनीय योगदान दिया। जहाँ खरतरगच्छ की विभिन्न शाखाएँ शताब्दियों पूर्व नामशेष हो गयी वहीं बीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण तक कीर्तिरत्नसूरिशाखा की निरन्तर विद्यमानता का श्रेय इस शाखा में समय-समय पर हुए विभिन्न प्रभावशाली मुनिजनों को है।

खरतरगच्छीय आचार्य जिनराजसूरि के पट्टधर प्रसिद्ध आचार्य जिनभद्रसूरि के शिष्य कीर्तिराज उपाध्याय अपरनाम कीर्तिरत्नसूरि द्वारा संस्कृत भाषा में निबद्ध **नेमिनाथ महाकाव्य** (रचनाकाल वि०सं० १४९५ से पूर्व) का जैन महाकाव्यों में विशिष्ट स्थान है।^१ इनके द्वारा रचित कुछ छोटी-छोटी कृतियाँ भी मिलती हैं।^२ अपनी रचनाओं में यद्यपि उन्होंने अपने गुरु-परम्परा आदि के बारे में कोई सूचना नहीं दी है; किन्तु इनकी परम्परा में हुए परवर्ती ग्रन्थकारों यथा कल्याणचन्द्रगणि,^३ ललितकीर्ति,^४ चन्द्रकीर्ति,^५ साधुकीर्ति^६ आदि ने इनके जीवन पर विस्तृत प्रकाश डाला है।

आचार्य कीर्तिरत्नसूरि के ५१ शिष्यों का उल्लेख प्राप्त होता है^७ जिसमें कल्याणचन्द्रगणि, लावण्यशील, गुणरत्न, हर्षविशाल आदि प्रमुख थे। कल्याणचन्द्रगणि द्वारा रचित **कीर्तिरत्नसूरिचउपड्ड, कीर्तिरत्नसूरिगीत** आदि कृतियाँ मिलती हैं।^८ इनका रचनाकाल वि०सं० १५२५ के पश्चात् माना जाता है। इनके शिष्यादि के बारे में कोई जानकारी नहीं मिलती। इसी प्रकार गुणरत्न के केवल एक ही शिष्य और प्रसिद्ध रचनाकार पद्ममन्दिरगणि^९ के बारे में तो उनकी अपनी कृतियों से जानकारी प्राप्त हो जाती है; किन्तु इनके शिष्य कौन थे, इस बारे में कोई सूचना प्राप्त नहीं होती। हर्षविशाल और लावण्यशील की शिष्य-सन्तति का अत्यधिक विस्तार हुआ। इनका अलग-अलग विवरण प्रस्तुत है—

*. प्रवक्ता, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी.

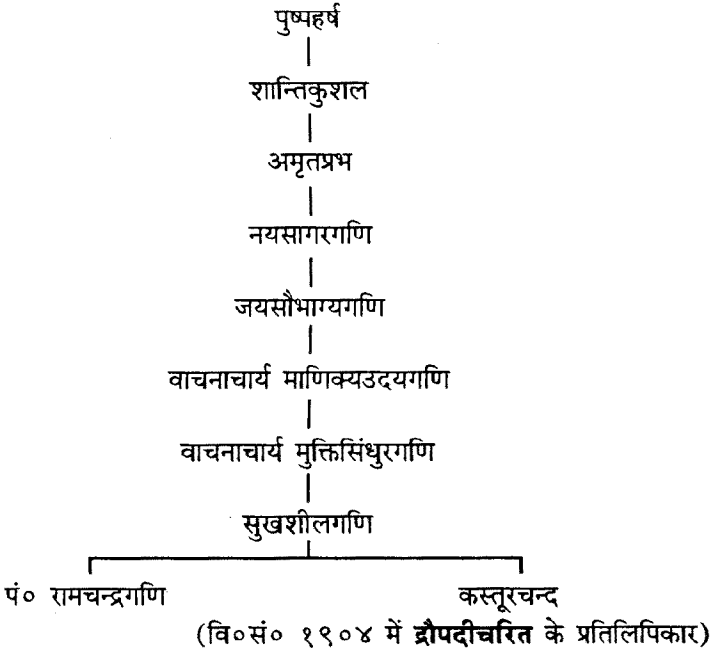
आचार्य कीर्तिरत्नसूरि के शिष्य हर्षविशाल द्वारा रचित कोई कृति तो नहीं मिलती; किन्तु इनकी परम्परा में हुए लब्धिकल्लोलगणि ने वि०सं० १६४८ में **जिनचन्द्रसूरिअकबरप्रतिबोधरास**^{१०} की रचना की। इनकी दूसरी कृति है **रिपुमर्दनरास** अपरनाम **भुवनानन्दरास** (रचनाकाल वि०सं० १६४९/ई०सं० १५८३) जिसकी प्रशस्ति में उन्होंने अपनी लम्बी गुर्वावली दी है,^{११} जो इस प्रकार है—

कीर्तिरत्नसूरि
|
हर्षविशाल
|
हर्षधर्म
|
साधुमन्दिर
|
विमलरंग
|
कुशलकल्लोल
|
लब्धिकल्लोल

(जिनचन्द्रसूरिअकबरप्रतिबोधरास वि०सं० १६४८,
रिपुमर्दनरास वि०सं० १६४९, कृतकर्षराजर्षिचौपाई
वि०सं० १६६५ आदि के रचनाकार)

लब्धिकल्लोल के एक शिष्य गंगादास ने वि०सं० १६७१ में **वंकचूलरास** की रचना की।^{१२} लब्धिकल्लोल के द्वितीय शिष्य ललितकीर्ति हुए, जिनके द्वारा रचित **कीर्तिरत्नसूरिगीतम्**,^{१३} जिसका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, नामक कृति प्राप्त होती है। ललितकीर्ति के चार शिष्यों के बारे में जानकारी प्राप्त होती है। इनके प्रथम शिष्य राजहर्ष द्वारा रचित **थावच्चासुगसेलगचौपाई** (रचनाकाल वि०सं० १७०३); **अरहन्नकचौपाई** (वि०सं० १७३२); **नेमिनाथफागु** आदि कृतियाँ मिलती हैं।^{१४} उक्त कृतियों की प्रशस्तियों में इन्होंने अपने गुरु ललितकीर्ति का सादर उल्लेख किया है। पुष्पहर्ष के दो शिष्यों शान्तिकुशल और अभयकुशल के बारे में जानकारी प्राप्त होती है। शान्तिकुशल द्वारा रचित यद्यपि कोई कृति नहीं मिलती; किन्तु उनके शिष्य पूर्णप्रभ ने वि०सं० १७८६ में **पुण्यदत्तसुभद्राचौपाई**, **गजसुकुमालचौपाई** आदि की रचना की।^{१५} पूर्णप्रभ के शिष्य मानरत्न हुए जिन्होंने वि०सं० १७९६ में **गोराबादलकथा** की प्रतिलिपि की।^{१६} इसी शाखा के जयसौभाग्यगणि के शिष्य पं० चारित्रउदय ने वि०सं० १८४९ में **श्रीपालराजारास** की रचना की।^{१७} इनके गुरुभ्राता माणिक्यउदय गणि ने वि०सं० १८३० में कवि जिनहर्ष रचित **कुमारपालरास** की प्रतिलिपि की।^{१८} पं० चारित्रउदय ने अपने कृति की प्रशस्ति में अपनी लम्बी गुर्वावली न देते हुए मात्र अपने गुरु का ही उल्लेख किया है, यही बात माणिक्यउदय द्वारा लिखित

कुमारपालरास की प्रशस्ति के बारे में भी कही जा सकती है; किन्तु इसी शाखा में हुए पं० रामचन्द्रगणि के गुरुभ्राता कस्तूरचन्द्र द्वारा वि०सं० १९०४ में की गयी द्रौपदीचरित की प्रतिलिपि की प्रशस्ति में इस शाखा की लम्बी गुर्वावली^{१९} प्राप्त होती है, जो निम्नानुसार है :



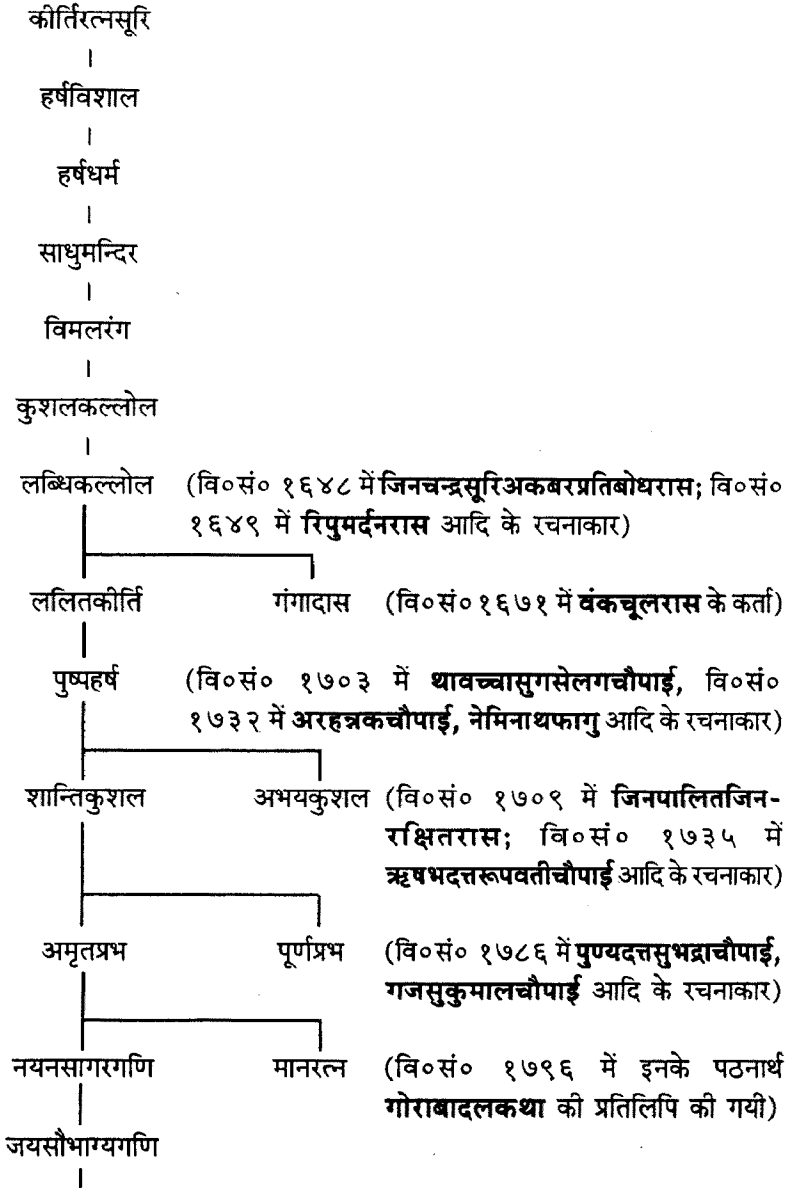
जैसा कि ऊपर हम देख चुके हैं पं० चारित्रउदय ने श्रीपालराजारास की प्रशस्ति में और माणिक्यउदयगणि ने कुमारपालराजारास की प्रतिलिपि की प्रशस्ति में अपने गुरु के रूप में जयसौभाग्यगणि का उल्लेख किया है। ऊपरकथित द्रौपदीचरित की प्रतिलिपि की प्रशस्ति में भी जयसौभाग्यगणि का नाम मिलता है अतः समसामयिकता और नामसाम्य के आधार पर उक्त प्रशस्तियों में उल्लिखित जयसौभाग्यगणि को एक ही व्यक्ति माना जा सकता है।

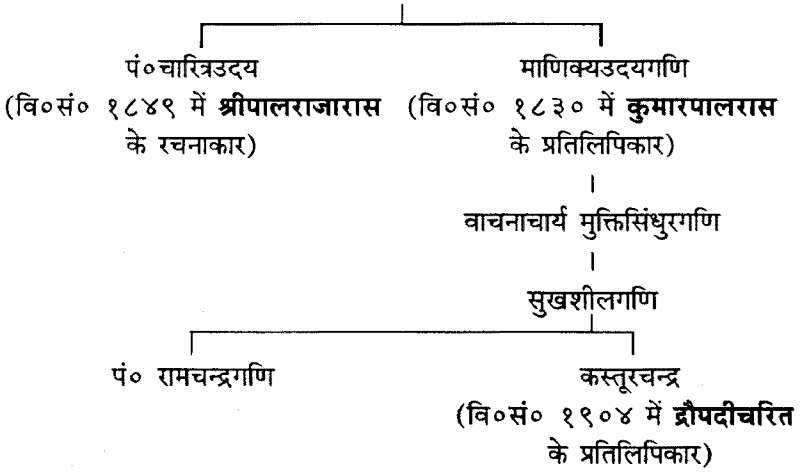
पुष्पहर्ष के द्वितीय शिष्य अभयकुशल हुए, जिन्होंने वि०सं० १७०९ में जिनपालितजिनरक्षितरास; वि०सं० १७३५ में हरिबलचौपाई; वि०सं०) १७३७ में ऋषभदत्तरूपयतीचौपाई आदि की रचना की।^{२०} उक्त कृतियों की प्रशस्तियों में उन्होंने अपने गुरु पुष्पहर्ष का सादर उल्लेख किया है।

उपरोक्त प्रशस्तियों में उल्लिखित छोटी-छोटी गुर्वावलियों के समायोजन से एक

विस्तृत गुर्वावली निर्मित होती है, जो निम्नानुसार है :

तालिका संख्या- १





वि०सं० १७०३ में थावच्चासुगसेलगचौपाई; अरहन्नकचौपाई आदि के रचनाकार राजहर्ष ने भी अपने कृतियों की प्रशस्ति में अपने गुरु के रूप में ललितकीर्ति का उल्लेख किया है।^{२१}

कीर्तिरत्नसूरिशाखा के ही पं० जयचन्द्र ने वि०सं० १७४२ में सिंहासनबत्तीसी की प्रतिलिपि तैयार की।^{२२} उसकी प्रशस्ति में उन्होंने अपनी गुरु-परम्परा दी है, जो इस प्रकार है—

ललितकीर्ति

|

विजयराजगणि

|

कमलहर्ष

|

पं० जयचन्द्र (वि०सं० १७४२/ई०सन् १६८६ में सिंहासनबत्तीसी के प्रतिलिपिकार)

इसी शाखा के मुनि भक्तिविशाल ने वि०सं० १७३७/ईस्वी सन् १६७१ में अंजनासुन्दरीरास की प्रतिलिपि^{२३} की, जिसकी प्रशस्ति में उन्होंने अपने गुरु-परम्परा का उल्लेख किया है, जो निम्नानुसार है—

ललितकीर्ति

|

हीरराज

|

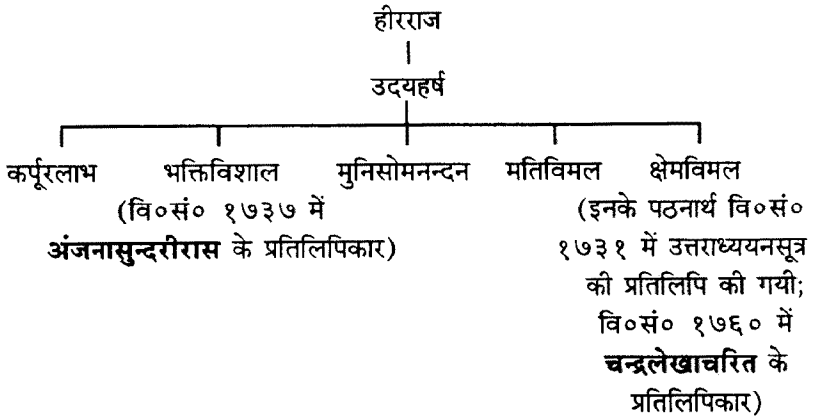
उदयहर्ष

|

भक्तिविशाल (वि०सं० १७३७/ईस्वी सन् १६७१ में अंजनासुन्दरीरास के प्रतिलिपिकार)

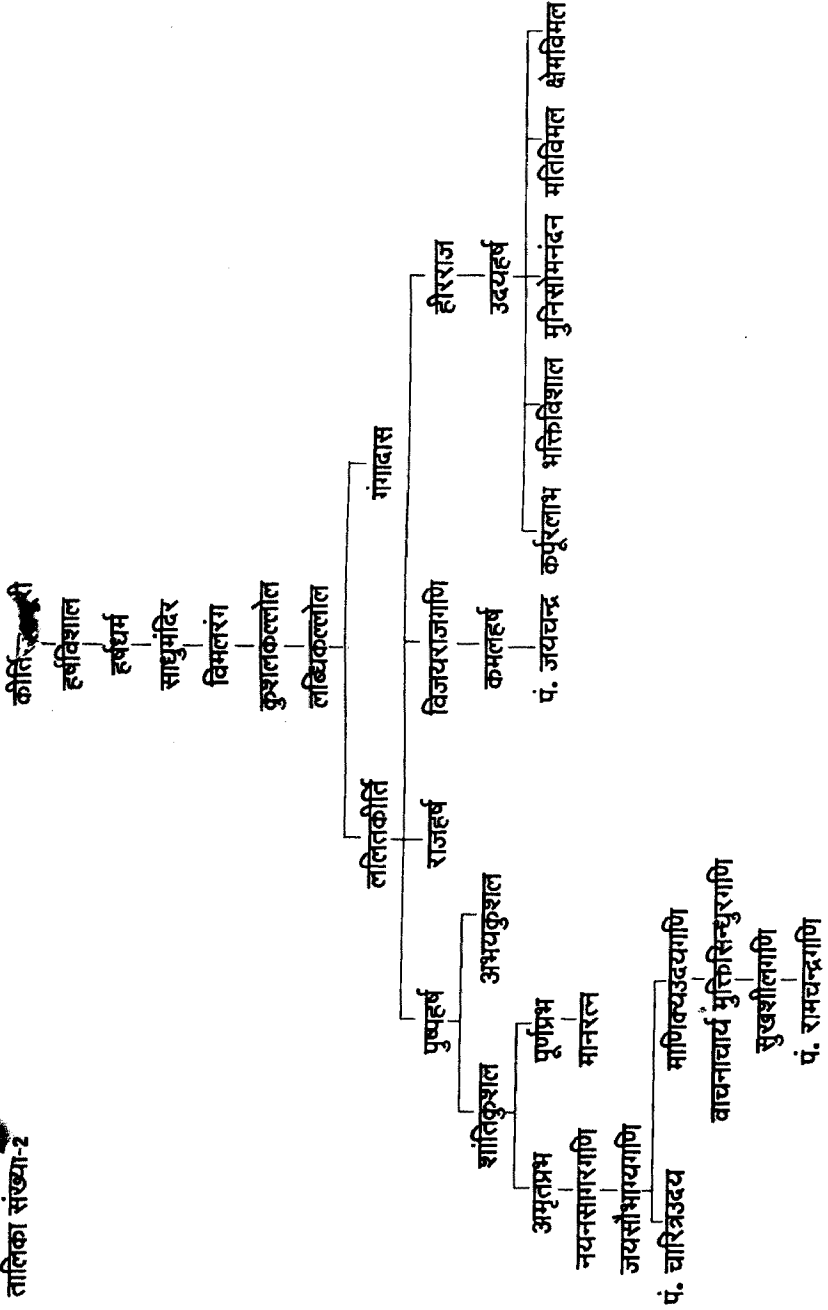
कीर्तिरत्नसूरि शाखा के ही एक मुनि क्षेमविमल के पठनार्थ वि०सं० १३७१ में उत्तराध्ययनसूत्र की प्रतिलिपि की गयी।^{२४} इसकी दाताप्रशस्ति में उक्त मुनि के अन्य सतीथ्यों— कर्पूरलाभ, मुनिसोमनन्दन, मतिविमल आदि का उल्लेख करते हुए उन्हें उदयहर्ष का शिष्य बतलाया गया है।^{२५} वि०सं० १७६० में लिखी गयी चन्द्रलेखाचरित की एक प्रति की प्रशस्ति^{२६} में प्रतिलिपिकार के रूप में भी क्षेमविमल का उल्लेख प्राप्त होता है।

इस प्रकार उदयहर्ष के कुल ५ शिष्यों का उल्लेख प्राप्त हो जाता है :



उपरोक्त विभिन्न प्रशस्तियों में उल्लिखित छोटी-छोटी गुणवर्तियों के परस्पर समायोजन से आचार्य कीर्तिरत्नसूरि के शिष्य हर्षविशाल की शिष्य-परम्परा की विस्तृत तालिका संगठित होती है, जो निम्नानुसार है—

द्रष्टव्य- तालिका संख्या- २



जैसाकि प्रारम्भ में कहा जा चुका है कि आचार्य कीर्तिरत्नसूरि के प्रमुख शिष्यों में लावण्यशील और हर्षविशाल की शिष्य-परम्परा लम्बे समय तक अस्तित्व में रही। हर्षविशाल की शिष्य-परम्परा के पश्चात् लावण्यशील की शिष्यसन्तति, जो आज तक चली आ रही है, का विवरण प्रस्तुत है :

आचार्य कीर्तिरत्नसूरि के शिष्य लावण्यशील की परम्परा में हुए उपाध्याय चन्द्रकीर्ति ने वि०सं० १६८२/ई०सन् १६२६ में **धर्मबुद्धिपापबुद्धिचौपाई** तथा वि०सं० १६८९/ई०सन् १६३३ में **यामिनीभानुमृगावतीचौपाई** की रचना की।^{२७} उक्त कृतियों के अन्त में रचनाकार ने प्रशस्ति के अन्तर्गत अपनी लम्बी गुर्वावली दी है, जो इस प्रकार है :

कीर्तिरत्नसूरि
|
लावण्यशील
|
पुण्यधीर
|
ज्ञानकीर्ति
|
गुणप्रमोद
|
समयकीर्ति
|
विनयकल्लोल
|
उपा० चन्द्रकीर्ति (वि०सं० १६८२ में **धर्मबुद्धिपापबुद्धिचौपाई** एवं वि०सं० १६८९ में **यामिनीभानुमृगावतीचौपाई** के रचनाकार)

उपाध्याय चन्द्रकीर्ति के एक शिष्य खेमराज हुए जिन्होंने वि०सं० १६८१/ई०सं० १६२५ में **नलदमयन्तीरास** की प्रतिलिपि तैयार की।^{२८} इसकी प्रशस्ति में उन्होंने अपनी गुरु-परम्परा का उल्लेख करते हुए अपने गुरु चन्द्रकीर्ति का सादर स्मरण किया है :

कीर्तिरत्नसूरि
|
लावण्यशील
|
पुण्यधीर
|
ज्ञानकीर्ति
|
गुणप्रमोद
|
समयकीर्ति

विनयकल्लोल
उपा० चन्द्रकीर्ति

खेमराज (वि०सं० १६८१ में नलदमयन्तीरास के प्रतिलिपिकार)

उपाध्याय चन्द्रकीर्ति के द्वितीय शिष्य सुमतिरंग भी अपने समय के प्रमुख रचनाकारों में से थे। इनके द्वारा रचित **योगशास्त्रभाषाचौपाई** (रचनाकाल वि०सं० १७२०/ई०सं० १६६४), **मोहविवेकरास** (वि०सं० १७२२/ई०सं० १६६६), **प्रबोधचिन्तामणि** अपरनाम **ज्ञानकलाचौपाई** (वि०सं० १७२२/ई०सं० १६६६), **जम्बूचौपाई** (वि०सं० १७२९/ई०सं० १६७३) आदि कई कृतियाँ प्राप्त होती हैं।^{२९}

उपाध्याय सुमतिरंग के प्रशिष्य एवं सुखलाभ के शिष्य पं० जिनहंस ने वि०सं० १७५६ में **आनन्दश्रावकसन्धि** नामक कृति की प्रतिलिपि की।^{३०} इसकी दाता प्रशस्ति में उन्होंने अपने शाखा की जो गुर्वावली दी है, वह इस प्रकार है :

चन्द्रकीर्ति
सुमतिरंग
सुखलाभ

पं० जिनहंस (वि०सं० १७५६ में **आनन्दश्रावकसन्धि** के प्रतिलिपिकार)

इसी शाखा के जयकीर्ति नामक मुनि ने वि०सं० १८६८/ई०सं० १८१२ में **श्रीपालचरित** की रचना की।^{३१} इसकी प्रशस्ति में उन्होंने अपनी गुरु-परम्परा की लम्बी सूची है, जो निम्नानुसार है^{३२}—

वा० चन्द्रकीर्ति
सुमतिरंग
सुखलाभ
पं० जिनहर्ष
माणिक्यमूर्ति
भावहर्ष
अमरविमल
आज्ञासुन्दर

महिमाहेम

जयकीर्ति (वि०सं० १८६८ में श्रीपालचरित के रचनाकार)

जयकीर्ति के गुरुभ्राता महिमाहेम की परम्परा में हर्षविजय, कल्याणसागर और कीर्तिधर्म हुए।^{३३} इसी प्रकार जयकीर्ति के शिष्य प्रतापसौभाग्य और दानविशाल से दो अलग-अलग शिष्य परम्पराएँ चलीं।^{३४} मुनि प्रतापसौभाग्य की परम्परा में बीसवीं शताब्दी के प्रमुख जैनाचार्य जिनकृपाचन्द्रसूरि हुए। महोपाध्याय विनयसागर ने विभिन्न साक्ष्यों के आधार पर इनकी गुरु-परम्परा दी है,^{३५} जो इस प्रकार है—

जयकीर्ति
|
प्रतापसौभाग्य
|
अभयचन्द्र
|
पं० अमृतसोम
|
युक्ति अमृत
|
जिनकृपाचन्द्रसूरि

वि०सं० १९७२ में इन्हें आचार्य पद प्राप्त हुआ और वि०सं० १९९४ में पालिताणा में इनका निधन हुआ। इनकी उपस्थिति में ३४ साधुओं का समुदाय था। इनके निधन के समय इनकी परम्परा के ७० साधु-साध्वी थे। इनकी परम्परा के कुछ शिष्यों के नाम ज्ञात हो सके हैं^{३६} जो इस प्रकार हैं— जयसागरसूरि, पं० आनन्दमुनि, उपा० सुखसागर, वाचक रायसागर, पं० जीतसागर, मयासागर, हेमसागर, विवेकसागर, मगनसागर, वर्धनसागर, उदयसागर, मंगलसागर, मतिसागर, कीर्तिसागर, तिलकभद्र आदि।

आचार्य जिनकृपाचन्द्रसूरि आगम साहित्य के विशिष्ट ज्ञाता थे। बीकानेर स्थित रांगडीचौक में इनका विशाल उपाश्रय विद्यमान है। इनके पट्टधर जिनजयसागरसूरि प्राकृत और संस्कृत साहित्य के प्रमुख विद्वान् थे।^{३७} इनके द्वारा संस्कृत भाषा में रचित **जिनकृपाचन्द्रसूरिचरित्र** नामक कृति प्राप्त होती है इसके अतिरिक्त इन्होंने कुछ ग्रन्थों का हिन्दी में भी अनुवाद किया था। जिनजयसागर के वि०सं० २००२ में निधन के पश्चात् उपाध्याय सुखसागरजी ने कीर्तिरत्नसूरिशाखा का नेतृत्व सम्भाला। जैन साहित्य के संरक्षण और प्रकाशन के क्षेत्र में इन्होंने अपूर्व योगदान दिया। प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता, **खण्डहरोँ का वैभव, खोज की पगदंडिया, शत्रुंजयवैभव** आदि प्रमुख कृतियों के रचनाकार मुनि कान्तिसागरजी महाराज उपाध्याय सुखसागरजी के ही शिष्य थे।^{३८} सितम्बर १९७० ई० में जयपुर में मुनि कान्तिसागर जी का देहान्त हुआ।

आज इस परम्परा में कोई साधु विद्यमान नहीं है।^{३९} बल्कि कुछ साध्वियाँ हैं जो मोहनलाल जी महाराज की परम्परा के श्रीजयानन्द मुनि की निश्रा में विचरण कर रही हैं।^{४०}

उक्त सभी साक्ष्यों के आधार पर आचार्य कीर्तिरत्नसूरि के शिष्य लावण्यशील की शिष्य परम्परा की जो तालिका बनती है, वह इस प्रकार है :

द्रष्टव्य- तालिका संख्या-३

सन्दर्भ

१. अगरचन्द नाहटा-भंवरलाल नाहटा, सम्पादक- **मणिधारीजिनचन्द्रसूरिअष्टम शताब्दीस्मृतिग्रन्थ**, दिल्ली १९७१ ई०सन्, पृष्ठ ५८ और आगे.
२. अगरचन्द नाहटा-भंवरलाल नाहटा, सम्पादक-**ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह**, पृ० ३६-४०
३. मोहनलाल दलीचन्द देसाई, सम्पा०-**जैनगूर्जरकविओ**, भाग १, नवीन संस्करण, सम्पा०, डॉ० जयन्त कोठारी, अहमदाबाद १९८६ ईस्वी, पृ० ४७७-७८.
४. **ऐतिहासिकजैनकाव्यसंग्रह**, पृ० २०७-०८.
- ५-६. इनके सम्बन्ध में इसी लेख के अन्तर्गत आगे प्रकाश डाला गया है।
७. **मणिधारीजिनचन्द्रसूरिअष्टमशताब्दीस्मृतिग्रन्थ**, पृ० ५७.
८. द्रष्टव्य, सन्दर्भ क्रमांक १.
९. **ऐतिहासिकजैनकाव्यसंग्रह**, पृ० ५५.
१०. मोहनलाल दलीचन्द देसाई, **जैनगूर्जरकविओ**, भाग २, नवीन संस्करण, सम्पा०-डॉ० जयन्त कोठारी, अहमदाबाद १९८७ ईस्वी, पृ० २४७ और आगे.
११. **रिपुमर्दनरास** अपरनाम **भुवनानन्दरास** की प्रशस्ति—
 पामी संघ तणउ आदेश, जाणी सम तणउ लवलेस।
 रिपुमर्दननउ रचीउ रास, भणतां गुणतां लीलविलास।।
 श्रीखरतरगच्छ-गयण-दिणंद, उदयउ श्री जिनचंद सूरीदा।
 वादी-गजभंजण केशरी, सानिधि तासु रच्चउ मई चरी।।
 कीर्तिरतनसूरि शाखइ जयउ, हर्षविशाल तसु वाचक थयउ।
 हर्षधर्म वाचक तसु सीस, साधुमंदिर तसु पाट जगीस।।
 विमलरंग तसु शिष्य सुजाण, सुगुण रयण गुण केसरी खांणि।
 तसु सुविनेय कुशलकल्लोल, सीस सुपरि कहइ लब्धिकल्लोल।।
 चन्द्रप्रभ जिन सानिधि करी, रच्चउ रास मुनि उलट धरी।

पालणपुर वर नयर मजारि, श्रीसरसति सामणि आधारि।
 संवत सोलगुणपंचासइ जांणि, विजयदशमी गुरुवारि बखाणि।
 तिणि दिन कीधउ अेह ज रास, सांभलता सवि पहुचउ आस।।
जैनगूर्जरकविओ, भाग २, पृ० २४९.

१२. वही, भाग १, पृ० १७१-७२.
 १३. द्रष्टव्य, सन्दर्भ क्रमांक ४.
 १४. **जैनगूर्जरकविओ**, भाग ४, पृ० ७१-७४, एवं १६६-६८.
 १५. वही, भाग ५, पृ० ३२३-२९.
 १६. वही, भाग २, पृ० १६-१७.
 १७. वही, भाग २, पृ० ९५.
 १८. वही, भाग ४, पृ० १०२.
 १९. वही, भाग ६, पृ० ८९-९०
 २०. वही, भाग ४, पृ० २६४-६८.
 भाग ५, पृ० २७-२८.
 २१. वही, भाग ४, पृ० ७१-७४, १६६-६८.
 २२. वही, भाग २, पृ० ४०.
 २३. वही, भाग ३, पृ० २०४.
 २४-२५. वही, भाग २, पृ० २४७.
 २६. वही, भाग ४, पृ० ४२३.
 २७. वही, भाग ३, पृ० २४९-५१.
 २८. वही, भाग २, पृ० ३३३.
 २९. वही, भाग ४, पृ० ३०१-३०५ एवं
 महोपाध्याय विनयसागर, **श्रीनाकोडापार्श्वनाथतीर्थ**, जयपुर १९८८ ई०स०,
 पृ० १८६-८८.
 ३०. **जैनगूर्जरकविओ**, भाग ३, पृ० २१५
 ३१. H.D. Velankar, *Jinaratnakosha*, Poona 1944 A.D., p. 397.
 ३२. A.P. Shah. Ed. *Catalogue of Sanskrit & Prakrit Mss. Muni Shree
 Punya Vijayji's Collection*, L.D. Series No. 6, Ahmedabad 1965
 A.D., Part II, pp. 85-86.

८६

३३-३४. विनयसागर, पूर्वोक्त, पृ० २२३-२४.

३५-३६. वही, पृ० २२४.

३७. वही, पृ० २२५, एवं

मणिधारीजिनचन्द्रसूरिअष्टमशताब्दीस्मृतिग्रन्थ, पृ० १६१-६२.

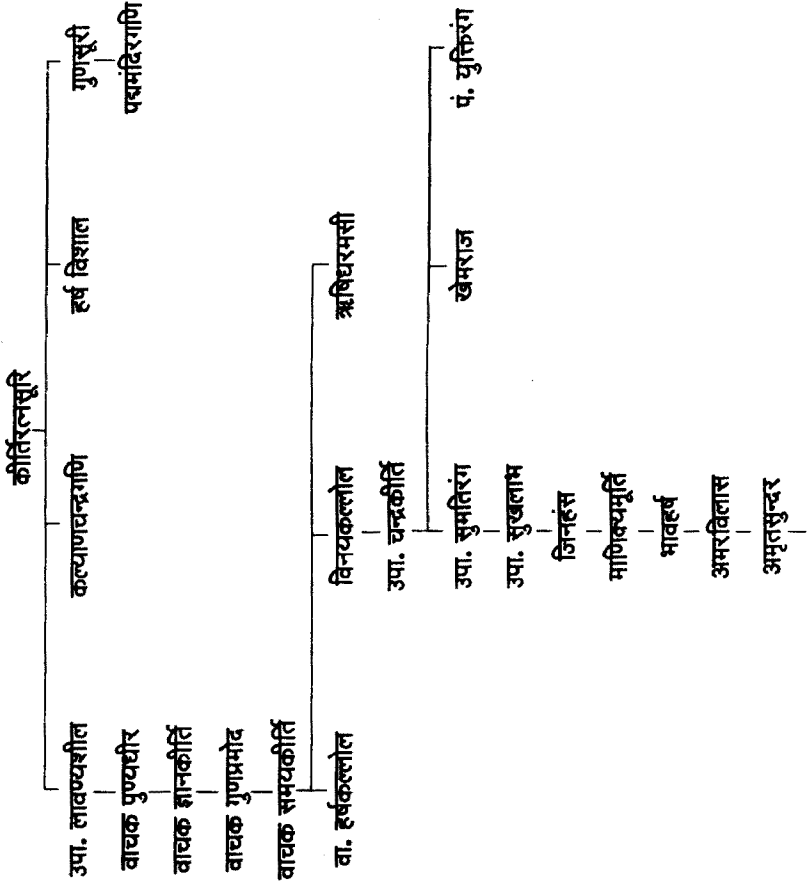
३८. वही, पृ० १६३-६५.

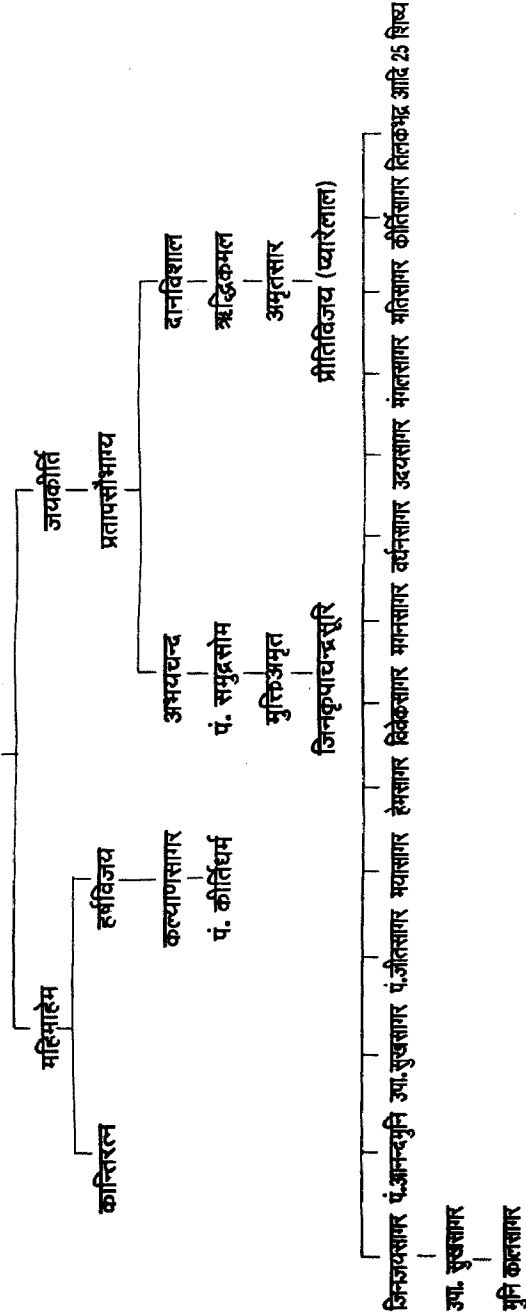
३९. विनयसागर, पूर्वोक्त, पृ० २२५ एवं

भंवरलाल नाहटा तथा विनयसागर, सम्पा०, खरतरगच्छ दीक्षा नन्दी सूची,
प्राकृत भारती अकादमी, पुष्प ६७, जयपुर १९९० ई०स०, पृ० २०३.

४०. वही, पृ० २०४.







देवलोक और त्रियञ्च में नाग

- भँवरलाल नाहटा *

समस्त ब्रह्माण्ड चौदह राजलोक में व्याप्त है। लोकाकाश में छः द्रव्य हैं, जबकि अलोकाकाश में केवल आकाश द्रव्य ही है। लोकाकाश में ही स्वर्ग, नरक, तिर्यच और मनुष्य गति के प्राणी हैं जबकि मनुष्य क्षेत्र ४५ लाख योजन के केवल ढाई द्वीप के सीमित क्षेत्र में है, अवशिष्ट असंख्य द्वीप- समुद्रों में मनुष्योत्तर पर्वत से लगाकर स्वयंभूरमण समुद्र पर्यन्त असंख्य योजन में नदी-पहाड़ों-समुद्रों और द्वीपों में शाश्वत जिनालयों एवं चतुर्विध देवों का ही निवास है। उनकी राजधानियाँ हैं। मनुष्य देहधारी लब्धि-सिद्धि संपन्न हो अथवा देव-विद्याधरों की सहायता से ही नंदीश्वरद्वीपादि तीर्थदर्शन यात्रा हेतु जाकर आ सकता है परन्तु वहाँ निवास नहीं कर सकता।

चौदह राजलोक के निम्न भाग में ७ नरक, मध्य भाग में मनुष्य लोक और उसके ऊपरी भाग में ५ ज्योतिषी देव, उनके ऊपर १२ देवलोक, ९ ग्रैवेयक तथा पाँच अनुत्तर विमान हैं जो वैमानिक देव, कहलाते हैं। ९ ग्रैवेयक और ५ अनुत्तर विमानवासी देवों के अधिपति इन्द्र नहीं होते, वे इसलिए अहमिन्द्र कहलाते हैं। १२ देवलोक के १२ इन्द्र, १० प्रकार के भवनपति में उत्तर के १० और दक्षिण के १० कुल २०, वाणव्यंतर के ८, व्यंतरों के ८, उत्तर दक्षिण के ८-८ कुल ३२, इस प्रकार ६४ केन्द्र होते हैं। वे तीर्थकरों के कल्याणक आदि विविध प्रसंगों में सर्वत्र आवागमन करते हैं, कल्पोपन्न हैं, कल्पातीत देव नहीं आते। अनुत्तर देवों की अवगाहना १ हाथ, नौ ग्रैवेयक की २ हाथ, नौवें से १२ वें तक ३ हाथ, ७ वें - ८ वें की ४ हाथ, पांचवें-छठें की ५ हाथ, तीसरे-चौथे की ६ हाथ और पहले-दूसरे की ७ हाथ होती है। जबकि आयुष्य ७वीं नरक तथा अनुत्तर विमान की ३३ सागरोपम की है जो क्रमशः घटते घटते सागरोपम-पत्योपम होते-होते देवों की कम से कम १० हजार वर्ष की आयु होती है।

भवनपति देव १० प्रकार के होते हैं- १. असुरकुमार, २. सुपर्णकुमार ५. अग्निकुमार, ६. वायुकुमार, ७. स्तनितकुमार, ८. उदधिकुमार, ९. द्वीपकुमार और १०. दिक्कुमार। इनके दक्षिण और उत्तर विभाग के कुल २० इंद्र होते हैं।

भवनपति देवों के रहने के स्थान रत्नप्रभा नामक प्रथम नरक के १८०००० योजन के मोटे स्तर में से ऊपर-नीचे के १०००-१००० योजन छोड़कर १७८००० योजन में १३ स्तर/प्रतर के बारह में घर जैसे भवनों और मण्डपों में निवास करते हैं। इसी कारण वे भवनपति कहलाते हैं। भवनपति देखने में सुन्दर, मनोहर, सुकुमार, मृदु

* ४, जगमोहन मल्लिक लेन, कलकत्ता ७००००७.

एवं मधुर गति वाले क्रीड़ाशील होते हैं। उनकी ऊंचाई सात हाथ और आयुष्य १ सागरोपम से भी अधिक होती है।

देवलोक में देवों के वाहन भी पशुरूप धारी देव ही होते हैं। यतः शक्रेन्द्र का वाहन ऐरावत, जो उनके पूर्वभव कार्तिक सेठ को अपमानित करने वाला तापस था। देवों के वाहन अपने शरीर की विक्रिया से तदनु रूप आवश्यकतानुसार रूप धारण कर लेते हैं एवं देव भी अपने मूल रूप से नहीं उत्तर वैक्रिय से पहिचान के लिए पूर्वरूप में दर्शन देते हैं।

दीवसागर पड़णायं नामक आगम सूत्र में मनुष्य क्षेत्र ढाई द्वीप से बाहर मनुष्योत्तर पर्वत के बाद जो करोड़ों योजन परिधि वाले द्वीप समुद्र हैं उनके रुचक, कुण्डल नन्दीश्वर द्वीपादि में शाश्वत जिनालय एवं इन्द्राणियों आदि की राजधानियाँ हैं। मानुषोत्तर पर्वत पर १६ शिखर हैं जिनमें १२ के नाम विविध रत्नमय लिखे हैं जिन पर नन्दिषेण, अमोघ, गोस्तूप, सुदर्शन तथा पत्योपम स्थिति वाले नागकुमार देव और सुपर्ण देव निवास करते हैं। नन्दीश्वर द्वीप के रतिकर पर्वत पर सौधर्म (शकेन्द्र) और ईशान देवलोक की ८ अग्र महीषियों की राजधानियाँ हैं। कुण्डल पर्वत पर भी १६ नागकुमार देव रहते हैं जिनके नाम इस प्रकार हैं—

१. त्रिशीर्ष, २. पंचशीर्ष, ३. सप्तशीर्ष, ४. महाभुज, ५. पद्मोत्तर, ६. पद्मसेन, ७. महापद्म, ८. वासुकि, ९. स्थिरहृदय, १०. मृदुहृदय, ११. श्रीवत्स, १२. स्वस्तिक, १३. सुन्दरनाग, १४. विशालक्ष, १५. पाण्डुरंग और १६. पाण्डुकेशी।

इनके लिए कुण्डल पर्वत के भीतर सौधर्म ईशान लोकपालों की सोलह-सोलह राजधानियाँ हैं। मानुषोत्तर पर्वत में चार तथा अरुण समुद्र में देवों के ६ आवास हैं। उन्हीं में उनकी उत्पत्ति होती है। असुरकुमारों, नागकुमारों व उदधिकुमारों का अरुणोदक समुद्र में आवास है और उन्हीं में उनकी उत्पत्ति होती है। द्वीपकुमारों एवं अग्निकुमारों के आवास अरुणवरद्वीप में हैं और उन्हीं में उनकी उत्पत्ति होती है।

जैनेतर लोग पृथ्वी शेषनाग पर टिकी हुई कहते हैं पर वस्तुतः वह घनवात और तनवात पर टिकी हुई है। अवधिज्ञान के असंख्य प्रकार हैं, मिथ्यादृष्टि का ज्ञान विभंग (अज्ञान) कहलाता है अतः जिन्होंने सीमित विभंग से भुवनपति के नागलोक को देखा है वे इसीलिए नाग/शेषनाग पर पृथ्वी टिकी हुई कहते हैं।

नाग लोक के देव साँप का रूप धारण करते हैं, इसलिए तिर्यञ्चगति के साँपों से उनका अनेक प्रकार का सम्बन्ध अनादि काल से है। सर्प विष उतारने में मंत्र-तंत्र झाड़ा-झपटा आदि में भुवनपति देव सहायक होते हैं, जो उवसगहर स्तोत्रादि से प्रसिद्ध

है। परिग्रहमोह के कारण मर के जो साँप हो जाते हैं वे खजाने की रक्षा करते हुए देखे जाते हैं। भाग्यहीन उत्तराधिकारी के लिए जमीन में गाड़ा हुआ धन भी कोयला रूप में परिणत हो जाता है। उग्र क्रोध कषाय वाला मर के साँप हो जाता है और वह अपने को हानि पहुँचाने वाले व्यक्ति से बैर का बदला लिए बिना नहीं छोड़ता। गारुड़िक लोग मंत्र बल से साँप आकृष्ट कर सर्पदंश के विष को वापस खींचकर निर्विष भी करा देते हैं किन्तु **दशवैकालिकसूत्र** के दूसरे अध्ययन की छठी गाथा के अनुसार अगंधनकुल का साँप अपना वमन किया हुआ विष वापस नहीं लेता अतः रहनेमि को बोध देते राजीमति कहती है—

अहँच भोयरायस्स तँचसिअंधकं व्रण्हणो मा कुले गंधणो हो मो, संजमं तिहुणो धर।
पक्खंदे जलियं जोइं, धूमकेउं दुरासयं निच्छति वंतयंभोत्तुं, कुले जाया अगंधणो।

एक कथानक में गुरु का शिष्य, जो समर्पित गुरुभक्त था, के रात्रि में सो जाने पर एक साँप आया और अपना वैर अदा करने के लिए शिष्य को काटने के लिए प्रस्तुत हुआ। गुरुमहाराज ने उसे बहुत समझाया पर वह अपने वैर का बदला लिए बिना किसी प्रकार राजी नहीं हुआ तो उस रक्त पिपासु को गुरुमहाराज ने खजूर के जैसे तीक्ष्ण पत्ते से सोए हुए शिष्य की छाती पर बैठकर उसका थोड़ा रक्त निकाल साँप को संतुष्ट किया।

श्री रत्नप्रभसूरि, श्री जिनदत्तसूरि आदि जैनाचार्यों द्वारा लाखों नए जैन बनाने के इतिहास में सर्पदंश से मृतप्रायः राजपुत्र, श्रेष्ठि-पुत्रादि को जीवित करने के उदाहरण अनेकशः पाये जाते हैं।

एक बार वंशावली का रिकार्ड रखने वाले बही भाटों से ज्ञात हुआ कि साँपों के भी भाट हुआ करते हैं। वे जातिवंत साँपों की बांबी पर जाकर साँपों के प्रिय संगीत वाद्ययंत्र द्वारा बजा कर साँपों को आकृष्ट करते हैं और उन्हें वंश का विरुद् सुनाते हैं। साँप बड़ी मस्ती से सुन कर उन्हें स्वर्ण-रौप्य मुद्रा, आभूषण, रत्न आदि ईनाम देते हैं। यह बात कहाँ तक सही है, कहा नहीं जा सकता किन्तु भवनपति देव कौतुकी होते हैं अतः कथंचित् सत्यांश अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

राजस्थान में गोगाजी, केशरियाजी, पाबूजी भभूतासिद्ध आदि की बड़ी मान्यता है। भाद्रपद सुदि ९ को गोगा नवमी में गोगाजी की पूजा में खीर का चढ़ावा होता है। गाँवों में उनकी चौकियां, देवालय आदि पाये जाते हैं। बीकानेर में गोगा दरवाजा है और पास में तालाब भी है। राजस्थान के सभी गाँवों में गोगा जी के थान होते हैं। किसी के सर्पदंश देने पर गोगाजी के थान पर दर्दी को लाकर रख दिया जाता था और एक-दो दिन में वह निर्विष होकर आ जाता था। सौराष्ट्र में भी गोगा पीर की मान्यता है और घटना भेद से कथाएँ भी प्रचलित हैं। राजस्थान में पर्ड, बाँडी, पीना आदि साँप पाये जाते हैं। साँपों की सैकड़ों जातियाँ हैं वे सभी विषधर नहीं होते। साँप देखते ही हर व्यक्ति भयाक्रांत हो जाता

है। और 'भय को मारे नी भयसाण मारै' कहावत के अनुसार मृत्यु तक हो जाती है।

भगवान् पार्श्वनाथ स्वामी के साथ कमठ का इकतरफा बैर कई भवों से चला आता था। एक बार हाथी के भव में कुक्कुट साँप ने काट खाया था। भगवान् जब राजकुमार थे तब कमठ तापस गंगातट पर पंचाग्नि तप करता था। भगवान् ने उसके अज्ञान तप को चुनौती देते हुए जलते काठ को चीरा कर उसमें अधजले साँप युगल को नवकार मंत्र सुनाया था जिससे वे धरणेन्द्र-पद्मावती (इंद्र-इंद्राणी) हुए। यह कथा सर्वत्र प्रसिद्ध है कि कमठ मर कर मेघमाली देव हुआ और उससे घनघोर वृष्टि द्वारा उपसर्ग किया तब धरणेन्द्र-पद्मावती ने प्रकट हो कर उन्हें मस्तक पर उठा लिया। कमठ को फटकारते हुए उसका बैर समाप्त कराया और वे भगवान् के परम भक्त इन्द्र-इन्द्राणी हुए।

नागलोक में हानि पहुँचाने से सागर चक्रवर्ती के साठ हजार पुत्रों को समाप्त करने की कथा प्रसिद्ध ही है।

लौद्रवाजी तीर्थ में शिखर की नीचे बाँबी में अधिष्ठाता साँप का स्थान है जो भक्त यात्रीजनों को दर्शन देता रहता है।

प्राचीन साहित्य में नागकुमार - भवनपति देवों आदि की अनेक कथाएं संप्राप्त हैं। कौशाम्बी नरेश शतानीक की रानी मृगावती को भारण्ड पक्षी उठाकर ले गया और गलयाचल पर छोड़ दिया। रानी ने वहाँ ऋषि आश्रम में राजकुमार उदयन को जन्म दिया। उदयन ने एक बार नाग को मारने के प्रस्तुत भील को रोककर मां का कंकण देकर उसकी रक्षा की। वह महर्द्धिक नागकुमार के रूप में प्रकट होकर कुमार का मित्र हो गया और उसे नागलोक में ले गया। कुछ दिन सम्मानपूर्वक रख कर संगीत वीणा-वादन विद्या का अभ्यास कराके एक वीणा के साथ अपनी मां के पास पहुँचा दिया।

आरामशोभा के चरित्र में भी इसी प्रकार विमाता से कष्ट पाती हुई जब वह जंगल में थी तो शिकारी से साँप की रक्षा की। वह नागकुमार देव था। उसने चिलमिलाती धूप में मस्तक पर वृक्ष की छाया रखना शुरु कर दिया। एक बार राजा ने उसे गुणवती और सुंदर देखकर पिता से मांग कर शादी कर ली। विमाता ने उसे प्रसव हेतु बुलाकर कुएं में डाल दिया और उसके पुत्र को अपनी पुत्री के साथ भेज दिया नाग कुमार देव ने कुएं में उसकी रक्षा की। उसे गुप्त रूप में राजमहल में पुत्र के साथ खेलने के लिए भेजता। राजा ने उसे पहचान कर रख लिया। वियोग समाप्त हो गया।

राजा प्रियंकर एक साधारण वणिक पुत्र था जिसके बड़े भाई ने, जो धरणेन्द्र के परिवार में देव हुआ था उपसर्गहर स्तोत्र के प्रभाव से उन्नति के शिखर पर पहुँचा कर राजा बना दिया, इसकी कथा प्रसिद्ध है।

जिनेश्वरसूरिकृत कथाकोशप्रकरण में जिनपूजाविषयक - नागदत्त कथा की प्रकाशित है जो इस प्रकार है-

चक्रपुर नगर के राजा महासेन और रानी पद्मश्री निर्ग्रन्थ प्रवचन के श्रद्धालु और जिन पूजारत धार्मिक थे। उनके मेघरथ नामक धर्मात्मा पुत्र था। उसका बत्तीस सुन्दर राजकन्याओं से विवाह हुआ था। एक दिन चतुर्दशी के पोषधोपवास में द्वार बंद कर रात्रि में भूमि पर सोया हुआ था जिसे काले नाग ने डस लिया। विष व्याप्त होने से वह पंचत्व प्राप्त हो गया। प्रातः काल शैयापालक ने द्वार खोलकर उसे मरा हुआ पाया। सर्वत्र हाहाकार छा गया, राजा ने निर्विष कर जीवन दान करने वाले को हजार ग्राम और लाख सोनैया देने की घोषणा की। गारुड़िक लोग आकर प्रयत्न करने लगे। यथाशक्ति प्रयत्न करते उन्होंने निम्नोक्त गाथाओं की बात कही और राजकुमार को जीवित करने का निष्फल प्रयत्न किया-

पादाँगुठे पृष्ठे गुल्फे जानुनि रांग नाभितटे ।

हृदये स्तनेअथ कण्ठे पवन गतौ नयनयोः क्रमशः ॥

ध्रुशंख श्रवणेष्वय शिरसि च जीवोहि वसति जन्तूनाम् ।

तत्रैवच याति विषं सर्वेषां तनु भृतां नूनम्॥

प्रतिपदमारम्य तिथिं क्रमो ह्ययं भवति दक्षिणे भागे ।

पुंसस्तथाङ्ग नायावामे समुद्दिष्टम्॥

शरीर के अंगों पर तिथि विभाग से पुरुष-स्त्री के विष व्याप्त अंग पर छार मलने से निर्विष हो जाना बतलाया। राजाज्ञा से मंत्र, जड़ी-बूटी सभी प्रयोग किये गये। गारुड़िकों ने ललाट के उर्द्ध नस पर प्रयोग किया। वाम नासिका छेदन, चार अंगुल डोरा बंधन, नाभि पर छार प्रक्षेप आदि विष उतारने के तत्कालीन गारुड़िक प्रचलित प्रयोग सब निष्फल हुए। सुबुद्धि मंत्री ने कहा- आप ज्ञानी हैं, मरा हुआ कभी जीवित नहीं होता, आखिर अन्तिम क्रिया अग्नि संस्कार अगर चंदन काष्ठ द्वारा किया गया।

सब परिवारादि को शोक व्याकुल देखकर उन्हें बोध देने के लिए मेघरथ साधु रूप में उपस्थित हुआ। परिचय पूछने पर देव ने प्रकट होकर कहा- मैं तुम्हारा पुत्र मेघरथ भवनपति निकाय के दक्षिण श्रेणी में धरणेन्द्र हुआ हूँ। पौषध में मर के वैमानिक में उत्पन्न होता किन्तु विष व्याप्त होने से भवनपति में उत्पन्न होकर तुम्हारे अनुराग वश यहां आया हूँ। हे माता! शोक दूर करो। पद्मश्री ने कहा इन बहुओं का क्या होगा? देव से कहा इन्हें अपने पास ले जाओ।

देव ने कहा हमें मांस-पित्त वाले शरीर की गंध भी असह्य है। राजा ने कहा— बेटा राज्य धुरा कौन संभालेगा? तब देव ने कहा तात! देवलोक से च्यवन कर पुण्यानुभाव से एक जीवात्मा आपके यहां उत्पन्न होकर सर्वज्ञ शासन का उन्नायक होगा। मैं नागराज हूँ। मेरे दिया हुआ उसका नाम नागदत्त रखना! नागराज स्वस्थान गया और पद्मश्री के यथासमय पुत्र नागदत्त का जन्म हुआ जिसका विस्तृत जीवनचरित्र आगे वहाँ विस्तार से लिखा है।

कुशल-निर्देश जून १९८३ के अंक में 'तक्षक नाग' शीर्षक एक कहानी प्रकाशित की थी तदनुसार कान्तिनगरी के राजा कनकसेन की रानी कनकलता की पुत्री कनकवती तरुणावस्था को प्राप्त हुई थी। उसी नगर में एक भारो नामक कठिहारा रहता था, जिसकी स्त्री बड़ी कर्कशा और झगड़ालू थी। उससे वह तंग आ गया था। इसी समय पाताललोक के पद्मनाग के पुत्र तक्षक नाग ने पिता से सैर करने के लिए मनुष्यलोक में आने की आज्ञा मांगी। पिता ने कहा— तुम मर्त्यलोक में भले जाओ किन्तु कोई अपने कुल की शोध करे वहाँ फिर न रुकना। तक्षक नाग मर्त्यलोक में आया और जहाँ कठियारा बैठा था वहाँ उसे जलती हुई गरम बालु पर रेंगते देखकर झगड़ालू पत्नी को मारने के उद्देश्य से घड़े का पानी गिराकर तक्षक नाग के सामने कर दिया। वह उसमें प्रविष्ट हो गया। पत्नी ने जब घड़ा खोल कर देखा तो उसमें आँवले जितने बड़े-बड़े ८१ मोतियों का हार पाया। पत्नी लाखों-करोड़ों की सम्पत्ति देखकर पति के अनुकूल हो गई। उसमें से दो-चार मोती ही गिरवी रखे जिसमें हवेली आदि खूब ठाठ-बाठ हो गया। कठिहारा राजमान्य अधिकारी हो गया। राजा ने हार लेकर उसे प्रचुर धन दे दिया। राजा ने उस हार को अपनी तरुण पुत्री कनकवती को दे दिया। वह उसे धारण किए रहती। वह तक्षक नाग तो था ही, दिन में हार और रात में जार हो जाता। जब पति संयोग से शारीरिक विकास देखा तो माँ के पूछने पर हार के ही जार होने की बात कही। राजा-रानी ने प्रच्छन्नतया प्रतीति कर उसके प्रियतम की जाति-परिचय पूछने को कहा।

कनकवती के आग्रहपूर्वक पूछने पर अपना परिचय देकर पितृ पद्मनाग की आज्ञानुसार तक्षक नाग सदा के लिए चला गया। राजकुमारी ने पति सुख-हार और जार दोनों खोये। **प्रभावकचरित्र** के भी मानतुंगसूरिप्रबन्ध में लिखा है कि नागराज धरणेन्द्र ने उनके मानसिक रोग को दूर करने के लिए 'नमिऊण पास विसहर वसह जिणफुलिंग' १८ अक्षरों का मंत्र दिया था। इसकी यंत्र-बृहच्चक्र लिखने की विधि में आठ पंखुड़ियों में पहले 'ऊँ ह्रीं श्रीं' और अंत में 'ह्रीं नमः' आलेखित करना चाहिए। पूरे यंत्र बृहच्चक्र की विधि में पंचपरमेष्ठी और त्रिरल, १६ विद्यादेवियों के नाम लिखे जाते हैं। २४ तीर्थकर, माताओं, दिग्पालों, नौ ग्रहों आदि के नाम भी लिखे जाते हैं। हमें विस्तार में न जाकर यहाँ के आठ नाग देवताओं के नाम उद्धृत करना अभीष्ट है जो इस प्रकार है—

(१) ऊँ अनन्ताय नमः, (२) ऊँ वासुव्याय नमः, (३) ऊँ तक्षकाय नमः, (४) ऊँ कर्कोटिकाय नमः, (५) ऊँ पद्याय नमः, (६) ऊँ महापद्माय नमः, (७) ऊँ शंखपालाय नमः, (८) ऊँ कुलिकाय नमः।

शास्त्रों में साँपों के १० कुल बताए हैं उनमें इन ८ नामों के साथ ९ विजय और १० जय के नाम हैं। भगवान् पार्श्वनाथ के नाम से पवित्र मन्त्र का जाप करने से सभी प्रकार के साँपों का विष नाश होता है। ऊपर दो मंत्रों का उल्लेख किया ही है।

लींबड़ी (गुजरात) में दो ब्राह्मण बन्धु रहते थे जिन्हें सर्प विष उतारने की विद्या प्राप्त थी। विधि यह थी कि 'पानरे पानरे' कह कर कपड़े के गांठ लगा देते थे, अतः वे पानरे महाराज के नाम से प्रसिद्ध हो गए। उन्होंने दस हजार से अधिक सर्प विष उतारे थे। शतावधानी श्री धीरजलाल टोकरसी शाह उनसे मिले थे।

श्री जिनकृपाचन्द्रसूरिजी महाराज ने कहा था कि एक बुढिया के हंस नामक पुत्र को जंगल में किसी साँप ने काट खाया, जिससे विष व्याप्त होकर वह बेहोश हो गया। उसकी माँ रात भर 'रे हंस रे हंस' नाम से विलाप करती रही। प्रातःकाल जब गारुड़िक ने देखा तो वह निर्विष हो गया था। उसने पूछा तुमने किसी मन्त्रवादी या औषधि का प्रयोग किया? ऐसे ही तो विष उतरता नहीं। बुढिया ने कहा, मैं 'रे हंस, रे हंस' कहते हुए रात भर विलाप करती रही। गारुड़िक ने कहा, यह विष उतारने का मंत्र है।

श्री जिनवल्लभसूरि जी महाराज हाँसी के श्रावण के पुत्र थे। ये चैत्यवासी आचार्य जिनेश्वरसूरि के मठ में रहकर विद्याध्ययन कर रहे थे। पिता का देहावसान हो जाने से माता ने उसका लालन-पालन किया था। बुद्धि में वे बड़े तेज थे। एक बार अध्ययन के पश्चात् घर पर जा रहे थे तब मार्ग में उन्हें एक टिप्पनक दिखाई दिया। उसमें सर्पाकर्षणी तथा सर्पमोक्षिनी नामक विद्यायें थीं। उसमें लिखे गये वर्णन के अनुसार जिनवल्लभ ने पहली विद्या के मन्त्र का उच्चारण किया। उसके प्रभाव से सर्वदिशाओं से साँप ही साँप आने लगे। विद्या का प्रभाव ज्ञात कर वे तनिक भी नहीं घबराये। उस समय सर्पमोक्षिणी दूसरी विद्या का यथाविधि उच्चारण कर उन आये हुए सर्पों को वैसे ही लौटा दिया।

विविधतीर्थकल्प के 'रत्नावाहपुरकल्प' में लिखा है कि वहाँ एक कुंभार का पुत्र मानवदेहधारी नागराज के साथ खेला करता था। नागराज उसे प्रतिदिन जाते समय अपनी पूंछ से सोने का ४ अंगुल हिस्सा काटने देता था। उसके पिता ने लोभवश ज्यादा पूंछ काटकर लाने के लिये मजबूर किया और उसने जब इनकार किया तो पिता ने बिल में प्रविष्ट होकर जाते नागकुमार का आधा शरीर काट डाला। नागकुमार ने क्रुद्ध होकर पिता पुत्र दोनों को फटकारते हुए काट खाया और तीव्र क्रोधावेश में समस्त कुंभारों के वंश का नाश कर दिया। उसके बाद वहाँ कोई भी कुंभार का काम करने वाला रहता नहीं।

वहां के लोग मिट्टी के बर्तन अन्य स्थानों से लाते हैं। वहां नागमूर्तियुक्त धर्मनाथ स्वामी की प्रतिमा सम्यग्दृष्टि यात्रियों द्वारा पूजी जाती है और जैनेतर लोग वर्षा न होने पर हजारों घड़े दूध से भगवान् का अभिषेक करते हैं जिससे उसी समय प्रचुर मेघवृष्टि हो जाती है। यह घटना ७०० वर्ष पूर्व लिखित है।

‘प्रतिष्ठानपुर-कल्प’ के अनुसार वहां दो विदेशी ब्राह्मण अपनी विधवा बहन के साथ आकर किसी कुंभार की शाला में रहने लगे। एक दिन उनकी बहन पानी के लिये गोदावरी नदी में गई तो उसके अद्वितीय सौन्दर्य को देखकर कामातुर अन्तर्हृद निवासी शेषनाग ने मनुष्य देहधारण कर साथ संभोग-केलि की। उसके सप्तधातुरहित होने पर भी भवितव्यता वश दिव्यशक्ति से शुक पुद्गल संचार द्वारा व गर्भवती हो गई। उसने गर्भकाल पूर्ण होने पर सातवाहन को जन्म दिया, वही बड़ा होने पर नागराज के सान्निध्य से प्रतिष्ठानपुर का राजा सातवाहन हुआ।

जैनेतर साहित्य में भी नागलोक की प्रचुर कहानियां मिलती हैं। रामबाबू नीरव ने **कथालोक**, जनवरी १५ के अंक में “श्रीकृष्ण और आशिका” शीर्षक कथा प्रसंग प्रकाशित किया है जिसमें प्रभास क्षेत्र के संदीपनी आश्रम में श्रीकृष्ण, बलराम और उद्धव के अध्ययन पूर्ण करने के पश्चात् उनकी उदासी का कारण पूछने पर यह ज्ञात कर कि उनका पुत्र श्वेतकेतु समुद्रीदस्यु पंचजन्य द्वारा अपहृत होने से वे दुःखी हैं। श्रीकृष्ण ने पुत्र को छुड़ा लाने का संकल्प किया और वे तीनों चल पड़े। समुद्र में वे जलयान द्वारा घूमते रहते और आर्यों को पकड़ कर सताने और उन्हें बेच देने वाले व्यवसायी शक्तिशाली असुर से उसके वाहन की खोज कर जा भिड़े और उसे मार कर पाताल लोक में जाकर नागमाता और यमराज के अधिकार से उन्हें विक्रीत श्वेतकेतु को तथा दस्यु के अधिकृत बहुत से मनुष्यों को छुड़ा लाये। इस विस्तृत वार्ता में नागकन्याओं का तथा नागमाता के क्रूर शासन का वर्णन है। आशिका उन्हीं की पुत्री थी।

भगवान् श्रीकृष्ण शलाकापुरुष/वासुदेव थे। उनके द्वारा कालियदमन की कथा सर्वत्र प्रसिद्ध है।

भुवनपति/नागकुमार आदि देवों के संबन्ध में ऊपर कुछ बताया जा चुका है, जैन कथानुयोग में और भी बहुत से ज्ञातव्य अनुशीलन करने से प्राप्त हो सकते हैं। श्री शान्तिसूरिजी ने **जीव-विचारप्रकरण** में निम्न गाथा में संक्षिप्त परिचय दिया है।

चउपय उरपरि सप्पा भुयपरिसप्पाय थलयरा तिविहा।

गो सप्य नउल पमुह, बोधव्वा ते समासेणां॥

स्थलचर (जमीन पर चलने वाले) त्रिर्यञ्च पंचेन्द्रिय जीव तीन प्रकार के होते हैं। चार पैरों वाले, छाती के बल पर चलने वाले तथा भुजाओं से चलने वाले संक्षेपन गोह, सांप, नकुल आदि जानना।

तिर्यञ्च सांप विषधर और निर्विष उभय प्रकार के होते हैं। मार्च १९९४ के मनोहर कहानियां से विदित होता है कि हजारों वन्य प्राणियों की छालें निर्दयतापूर्वक उतार कर एवं हड्डियां आदि भी हर साल भारत से तस्कर विदेश भेजते हैं जिनकी हत्या करके माल बिकता है। सांपों में गेहुआँ, कोबरा, अजगर, उड़न सांप, जलेबिया आदि हरे, नीले रंग के अनेक प्रकार के सांप हैं। करैत सांप एक लाभप्रद विषधर है। हमारे देश में पाये जाने वाले सभी सांप विषधर नहीं होते। भारत में २३३ प्रकार के सांप पाये जाते हैं, उनमें केवल ६९ प्रकार के जाति में विष पाया जाता है। इनमें से १६ जातियों के सांप ऐसे हैं जिनका विष अधिक प्रभावशाली होता है। इनमें करैत और दबोईयाँ हैं। करैत देखने में अधिक सुन्दर होता है, यह अपना बचाव बड़ी उग्रता से करता है। इनका विष बहुत तेज होता है। चमकदार काले अथवा नीले रंग की चमड़ी पर छोटी-छोटी सफेद रंग की आड़ी पट्टियाँ इसे बहुत आकर्षक बना देती हैं। ये सांप भारत, बंगला देश से लेकर पाकिस्तान, श्रीलंका तक पाये जाते हैं। ये छोटी-छोटी झाड़ियों में, मानव बस्ती के आस-पास पाये जाते हैं और घरों में प्रवेश करके अपना आवास बनाने की कोशिश करते हैं। प्रायः पानी के स्रोतों के आस-पास ही यह रहता है। यह अपने पर मुसीबत आने पर ही काटता है, अन्यथा यह सांप मेंढक, छिपकली, चूहे आदि ही खाता है। किन्तु कई बार अपनी जाति के सांपों को भी अपना भोजन बना लेता है। करैत नर मादा से लम्बा होता है। इनका प्रजनन काल फरवरी से मार्च के बीच में होता है। मई से जुलाई के बीच ये अण्डे देते हैं और वे अण्डे कई समूह में होते हैं। इसमें विष की शैलियाँ मस्तिष्क के ऊपरीभाग में होती हैं। जब विष छोड़ा जाता है तब वह तरल होने के कारण हल्का पीले रंग का होता है। किस सांप में कितना विष होता है यह उसकी शरीर के गठन आदि क्षमता पर निर्भर है।

करैत साँप अधिकांशतः विषैला होता है। इसके विष से अनेकों प्रकार की औषधियाँ तैयार होती हैं। कैसर में भी इसका विष काम में आता है।

देशी जीवों पर विदेशी लोगों की निगाहें बराबर लगी हुई हैं।* वे भारत से बड़ी मात्रा में जीवों का आयात करके उनकी हत्या करके विविध काम में लेते हैं। देश की जैविक संपत्ति का अरबों का होता हुआ नुकसान रोकना परमावश्यक है।

कतिपय उच्च कोटि के साँपों में मणिधारी साँप भी कथंचित् पाये जाते हैं। उसे प्राप्त करने वाले को पूरी सावधानी रखनी पड़ती है। कहा जाता है कि उस मणि के प्रभाव से जल प्रवाह भी मार्ग दे देता है। नेपाल में किसी के पास प्रभावशाली मणि होने और परीक्षा हेतु तस्त्री में पानी डालने पर मणि के प्रभाव से पानी दो भागों में हो गया। वह मणि पचीस लाख में देना चाहता था, ऐसा सुना गया।

हमारी सिलचर की दुकान में एक व्यक्ति सर्प-मणि लेकर आया, जिसका भाई अपनी जान गँवा चुका था। वह मणि चार लाख में देना चाहता था। हमने उसे कलकत्ता भेजने को कहा। वह रात भर रह कर प्रातः कहीं चला गया और वापस नहीं लौटा।

देवलोक/भवनपति नाग देवों और तिर्यच नागों का पारस्परिक सम्बन्ध अनादिकाल से है। अतः उभय प्रकार की प्रचलित कहानियाँ व ज्ञातव्य सिखाने के पश्चात् एतद्विषयक “नागविद्या” नामक मूल ग्रन्थ को देने से पूर्व उसका संक्षिप्त परिचय देना उपयुक्त होगा। इसमें नागलोक के नगरों, राजा-रानी, सर्पदंश के चपेट में आये कुमार आदि का भी विवरण है। सर्प विष से प्रभावित व्यक्ति के निर्विष होने के लिए कृत उपचार, पूजा विधि आदि सम्बन्धित ज्ञातव्य भी इसमें है।

इसकी भाषा राजस्थानी प्रधान है। गद्य, पद्य, वार्ता की भाषा तीन-चार सौ वर्ष से प्राचीन क्रमिक विकसित हो सकती है। बीच-बीच में संख्या कम भी आलेखित है। इसका रहस्य विशेषज्ञ ही बतला सकते हैं।

यह छोटा सा ग्रंथ मध्यप्रदेश के पण्डरिया स्थान में एक सज्जन के पास अस्त-व्यस्त पत्रों के गुटके में था जिसे व्यवस्थित कर नया विषय होने से प्रकाशित किया जा रहा है।

ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ

* सन् १९८८ में जीव संरक्षण विभाग ने छापा मारकर साँपों की २५८०० खालें बरामद की थी। १९९३ इंदिरा गांधी हवाई अड्डे पर कस्टम अधिकारियों ने स्वीडिश नागरिक से विविध साँपों की १८४८ खालें बरामद कीं जिसकी कीमत १० लाख थी। वह इस्तांबूल जा रहा था। ४ जुलाई १९९३ में स्पेशल स्टाफ के बी. एम. शर्मा ने जाकिर हुसैन को रेलवे स्टेशन पर गिरफ्तार किया। उसके बड़े ट्रंक में १३०० खालें बरामद कीं जिसमें उड़न साँप, जलेबिया आदि की नीले-हरे रंग की खालें भी थीं।

॥ ॐ नमो श्री नागाय नमः ॥

नाग-विद्या

राग-गोंडी

नगर हीरापुर पाटण भणियइ, माँहि टकेसर देवा
 नमणि करउं वर नाम ले नइ, करुं तुम्हारी सेव॥
 पारधि करुं तुम्हारी सेव॥
 वासिग राउ तेड़ाविया, काल कंकोड नइ तिथिरा कुरर
 अवि घण वेगे बोलाविआ।
 नाद वेद आणंद अधिक, करइ तुम्हारी सेव
 नगर हीरापुर पाटण भणियइ, माँहि टकेसर देव॥१॥

राउ देरासरि बइठों, आणे निरमल नीर।
 डंक गयुं भागीरथी, समुद्रहँ पैलइ तीरि।
 नीर लेवा डंक मोकलिउ, लागी अति घण वार
 आप सवारथ पाडिउं लोभी, समुद्रहँ पैलइ पारि॥२॥

सहस अठ्यासी तिहाँ देवता, जाइ तिणि वन बइठा
 गंग तणुं प्रवाह न आण्यउ, राउ देहरासरि बइठा॥३॥

राय मोकल्या छइ वाडी, आणे सुरही जाया
 आणे करणी केवडी, आणे रुडइ भावि॥४॥

आणे सुरही पात्री, आणे तुलछी नइ बाबची।
 कण कणवीर रात की जाइ, बिल करणउ केवइउं।
 राय मुल कंदनि सारी।
 पुष्प करंड भरी आवइ, तेह कां राय मोकल्या छै वाडी॥५॥

पूजा हटकेसर वडी, वल्या नीसाणे घाउ।
 नागणि करइ वधामणुंउ पन्नग करइ उच्छाह॥६॥

करइ उछाह तिहां पन्तग राजा, वासग नाग तेड़ाविया।
 अगर चंदन कपूर कस्तूरी होमइ, भगति करइतिहाँ भाविया॥७॥

अगर चंदन कपूर कस्तूरी, फिरिकि संजूती तिहां भरी।
बेउं करि जोड़ी पेजलि वीनवइ, पूजाहट केसरि चडी॥८॥

इति प्रथम पूजा देहराभर मांडगी

विधि पूजोपचार आमनाय मांडणी विधि विचार संबंध प्रथम संपूर्णः समजनिः॥
अथ प्रथम पवित्र वाजोठ पाटलं अपूर्व मांडीयइ पारवाली नइ उत्तम जले करीनइ
पछइ केसर कपूर अगर सूकड़ि कस्तूरी ए पांच मिश्रित गोशीर्ष चंदनइ करी नइ पाटल
तथा बाजवटइ साथीयउ आलेखीयइ पछइ लीडटी ३ आलखीयइ आगलि॥

ने फूल केसर कपूरादि पूजा सर्व ऊपरि चडावणी पछइ श्रीगुरुभ्यो नमः श्रीपरम
गुरुभ्यो नमः॥ श्री परापर गुरुभ्योनमः॥ श्री परमेष्ठी गुरुभ्यो नमः॥ सर्वाशा परिपूरकाय
श्रीमान् महागणपति चिंतामणए नमः सकल विघ्नवल्ली विध्वंशन कुठाराय॥
श्री सिद्धिनाथायनमः॥ सिवैसिमें देहि स्वाहा॥

अविरल मदजल निवहं, भ्रमरकलानेक सेवित कपोल
अभिमत फलं दातारं, कामेशं गणपति वंदे स्वाहा॥

इति नागराज पूजन विधिः॥

॥ श्री धन्वंतरये नमः ॥

पूरब दिशि नव गमण पाटण, उत्तरा वनहि मझारि।
लक्ष्मीकरण राजा पारधि खेलइ, बहइ तुरंग पयालि।
पारधि पायालि द्वारि सवि रंग मिलिया झिलिमिलि कुंडल कानि।
रमइ झीलइं मिल्यां अहो विष डंक सुणि हो आदि कहाणी॥१॥

लक्ष्मीकरण राजा लीलादे राणी, अहो विष डंक सुणिहो आदि कहाणी॥२॥

कवण सुकेरी बेट की कवण पुरुष तौ जोइ
काल कंकोड़ छइ माहरो भाई। अहो विष डंक सुणिहो आदि कहाणी॥३॥

नारद ऋषि संप्राप्ता ऋषि भणीउ उकार। तिहिं कर कंकणि बंधिओ।
अहो विष डंक सुणिहो आदि कहाणी। लक्ष्मीकरण राजा लीलादे राणी॥४॥

अहो विष डंक नारद ऋषि संप्राप्ता, ऋषि दीयउ आशीर्वाद।
तुम्ह कुल होज्यो बेटकु, देज्यो पेहुलि नामा॥५॥

अहो विष डंक सुणिहो आदि कहाणी। लक्ष्मीकरण राजा लीलादे राणी॥
अहो विष डंक पेहुलि राजा धर्म नुं अवतार। आहे विष डंक सुणिहो आदि कहाणी॥६॥

भमरा रूपइ ताल्हई उछलीउ, रोइ लीलादेवि राणी।
प्रीउडो धरणीइ ढलीउ, भमरा रूपइ ताल्हइ ऊछलीउ॥७॥

अहो विष डंक सुणिहो आदि कहाणी।
लक्ष्मीकरण राजा, लीलादे राणी॥८॥

लक्ष्मीकरण राजा पूछइ पदमिनि ओ किकिओ भमरुं रगत लोचन ताहरुं।
ताल्हइ ओ वीरउ भमरला रूपइ ताल्हइ ओछलीओ॥९॥

पूरब दिवसि हुंतु आविओ वनमाली, माहरउ प्रिउडुं डसिओ नागिणि काली
भमरा रूपे ताल्हइ ओछलीउ॥१०॥

रोवइ लीलादेवि राणी, विवरी विवरी केस।
मांहरउ प्रीअडो लहुअडउ, हूं पिणि बाली वेस। भमरा रूपइ ताल्हइ ओछलीओ॥११॥

अन्न पान परिहरिआ नीर, लक्ष्मीकरण राजा ऊठिओ, तूठउ ताल्हइ ओ धीर।
भमरा रूपइ ताल्हइ ओ वीर॥१२॥

विषमादे राणी पूछइ बात, तम्हे किम डसीयउ आपा।
रुंखराइ नितुनितु वडुअलुं वाडली जाइ। कारिमि बेरिइ, ताल्हउ नीपाइ॥१३॥

विषमादे राणी पूछइ बात। संकेत मंत्रः॥
अन्न पुनरपि भोगदेव पूजा कर्त्तव्याः॥
बोरडी देखी नइ परीइष हसीओ, इअल रूपइ करि ताल्हग डसीओ॥
विषमादे राणी पूछइ बात॥१४॥

घडीआ जोणी सांढणी पल्हाणुं, वेगि करि धन्वंतरि आणुं॥
विषमा दे राणी पूछइ बात॥१५॥

जे जिण बांध्या ते तिणइ छूटइ। मरइ धन्वंतरि परीअषि खूटइ॥
 विषमा दे राणी पूछइ बाता॥४॥ संकेत
 ॥६०॥ नाग लोक मन हरखीआ, मनि भागुं विषवादा।
 कुंजहरणपुर मंडणुं, भरइ तिहां राउत भादा॥२॥

चालि

भाद राओत भारेवा लागुं, नव ग्रह पाय पधारिआ।
 भूमिउ डंक पडिउ महीमंडलि, भाद राउत तिहां भारिआ।
 खइहडियां मंदिर मिल्या सुर नर देव दैत्य तिणि निरखिआ
 भाद भारंतइ पृथ्वी भारी, नाग लोकमन हरखीआ॥३॥

पारधि॥ विसह नयरचा अनंत सामी, वीनतड़ी अवधारि।
 कांइ तूं पृथ्वी भारइ सामी, खागल पाटि बयसारि॥
 चालि चालि वयसारि सामी, अणंत राजा वेगि करी तेड़ावीआ।
 नक्षत्र माला त्रूट पडिस्यइ, चंद सूरज बेभारीया॥
 विष ऊलटिओ तणइ खागलि, कलिइ कोइ तिवार ए
 घूमिउ डंक पडिउ महिमंडली, चंद सूरजि वेऊं भारए॥४॥

पारधि॥ सीह नयर सिण गारीए, डंक न कीजइ वाढ।
 सवा कोडि फण जे विषय रसइ, कुमर जिन घंट ताढि चालि हो॥
 दाढ विष वरसेवा लागुं, आज किमइ ऊगरसिइ।
 जिम घंट भारंतइ अजीअन भारइ तूं विष तूटि मरेसइ॥
 हाकइ हणइ वेगि पचारइ, कुंअर जिम घंट भारइ।
 आठ अंग रुध्यां विष तोरइ, सीहनयर सिणगारीयइ॥५॥

पारधि॥ विसहनयर थिकुनीकलइ, विसमुं एकल वीर।
 विष गाजइ विष गडबडइ, बरसइ डंक सरीर।
 वरसइ डंक सरीरि अंगो मअंगइ मोडीइ।
 नव कुल नाग एकलइ भारया गुरुडइषजा त्रोडीआ॥
 छनू कोडि छणेंदभारया, कोड बहुतरि नागिणी।
 सपत पाताल धिक इं नारायणि विसह नयर थिकु नीकली॥६॥
 पारधि॥ पारखि राय नयर रुलीयामणुं डंक न कीजइ आलि।
 कुंअर पूछइ मारीआ, अमोघ सरोवर पालि।

चालि हो चालि अमोघ सरोवरपालि कूयरइ छर भारिआ॥

भणइ तिहां पेहुलि सुणि हो दाढा, राय नयर सिणगारिआ॥७॥

पारधि॥ त्रिभुवने नासंति विषं? कुंजहरण विष रुअडलुं देस नइ वारलाख अनइ त्रिण्ह सइ सइ ए। नेह तणु राजन नइ भणिइ छइ सेस भइ कुरंभ चडी प्रभु आवीयउए।

तास घर घरणीअ लीलादेवि राणी नइभादीओ कुंअर अलीलडउ ए।

तेणि पाटणि न सिंघ तलार नइ काल चोरा नवि संवरइए।

तीह तणुं राजनइ भणीह छइ सेस नइ स कुरंभि चडी नइ प्रभु आवियउ ए।

चालि २॥ कुरंभ चडी राजादिक आविओ। कुंज हरण पुर मंडणा। बारह लाख नइ त्रिणिसइ गामां

एनुं देस ति तान्हणापुरर विषेह तुरीअ हंसार व इणि परि पेहुति अक्ख ए।

पाए टोडर हाथि कटारुं राउत भाद सभादए। इकवीस मंडली एक तिहां।

हरपाल छइ आगलउ। सवा कोडि फण विष ज वरसइ कुंज हरणपुर मंडणउ

पाटणः त्रिभुवने नासंति विष?

विसहर नयर विष रुअडलं देस नइ चउदह लाख नइ सात सइ ए

तेह तणा राजान देव अनंत नइ गुरडि चडी प्रभु आवियउ ए

तास घर घरणी नइ भावल देवी राणी नइ खागल कुमर आलीलडउए

तेणि पाटणि अछइ सेस तलार नइ काल चोरो नवि संचरइ ए

तेह तणुं राजा नइ सूरिजहंस ते रथि चढी नइ प्रभु आवियउ ए॥

चालि हो चालि हो चालि रथ चडी राजा दिक आयु चडीय सारथि

अरणीआ रतमइ पाट जडीआ माणिक। जइ धुरि तुरीअ सजोडीया

अहिठाण पाटण सोवनमइ नगर सरवरपुरथी छाहीया

जाहइ देवी राणी कुंअर जिमघट सपत पातालइ समरी आ? ३४ पाटणः

त्रिभुवने नासंति विषं गच्छ गच्छ स्वाहाः॥३

दंस हरण विष रूवडलुं देस नइ चउदह लाख अनइ आठ सइ लेह तणुं राजान

नइ ताहीओ वीर नइ रिषभ चडी प्रभु आवियउ ए।

तास घर धरणी नइ विषमा देविराणी नइ एकल कुमर आलीलडउए

तेणि पाटणि सूरजितलार नइ काल चोरो नवि संचरइ ए

तेह तणुं राजान नइ ताल्हण वीर नइ वृषभ चडी नइ प्रभु आवियउ ए।

चालि चालि नइ सोवनमइ चंच नइ रूप मइ पंख तेहतणइ वृषभ वाहणा

चउद लाख आठसइ गामा एनुं देसति ताल्हणा अवढ सारावर वसंत कूअर

विप्र वेद स बहुगुणा कोसीसा मंदिर रतने जडीआ हार विषमादे राणीआं

चउदह सइ कलस वारसइ तोरण ताल्ह नयर पुर चंगीयां।

एक वीस भित्रीय छइ एकल वीर हंस हरण अति चंगीआं ३५ पाटणः॥

त्रिभुवने नासंति विषं गच्छ गच्छ॥

रायनगर रुअडलुं देस नइं असीइ लाख अनइ तेरसइ ए
 तेह तणउ राजान नइ वासिग राओनइ सवइ सिरी सु प्रभु आविओ ए।
 तास घर घरणीअ नागल देवि राणी अदूअर कुंयर आलीलइउ ए।
 तेणि पाटणि छइ ताल्हइओ तलार नइ काल चोरो नवि संचरइ ए।
 तेह तउ राजान नइ वासग राओ नइ शवसरी सउ प्रभु आवियउ ए
 चालि शिव सरी सु राजादिक आवीओ गिरुआ गुरवर खंडण पहरणइ
 फाली अंगि चोली बहुत पाउल पेखणा भीम मइ एक मनि हसी
 इणि परि बोलज अक्खए असीअ लाख अनइ तेरसइ जामां
 एता देसव संठए अमुक सरोवर पारिजात तरुअर कुअर दूछर
 तिहां तलइ एकवीस खित्री अछइ तिहां तणइ राय नयरपुर भीतर॥३६ पाटणः॥
 त्रिभुवने नासंति विषं गच्छ रे॥

नरपुर पाटण सुसील सरोवर निऊअ लाख अनइ नवसइ ए
 तेह तणउ राजान भणीइ छइ नील नइ संधि चडी प्रभु आवीयउ ए
 तास घर घरणी नइ सूडव दे राणी नइ पारिख कुमर आलीलइउं।
 तेणि पाटणि अछइ वासिग तलार नइ काल चोरो नवि संचरइ ए।
 चालि रे चालिरे॥ सिंह चडी प्रभु आवीयओ॥
 वाट वोट ससि खंडणा वाजंति तंती विकट भूती। अरे रे पडह तिह बाज णा।
 कंसाल तालह वंश काहल नील आगलि वज्जए
 सुहवि देवि राणी कुंअर पारिख मदन सिला तस भीति रे।
 एकवी धित्री अछइ तिणि पुरि राय नयर सभितरे ३७ पाटणः॥
 त्रिभुवने नासंति विषं गच्छ गच्छ॥
 खिति जल पवन नइ तेज आकासि नइ सूर नइ ससिहर ब्रह्मपुत्र
 नहीं तुम्हे बालूया चेत अचेत नइ तहीइ एक तरुअर एक आधि
 चालि रे चालि आदि आधिइ एक सरुअर मूल दृढ करि बद्धओ
 सुर असुर मिल्या तेत्रीसइ तिहितणुं पारत नाधउ खित जल पवन नही ससि सूरजि
 अलंकार पहूतउ भणइ ते पेहुलि सुणि हो ज्ञानी तरुअर दृढ करि बद्धउ ३८
 त्रिभुवने नासंति विषं गच्छ गच्छ॥

तेणि तेणि वृक्ष नइ दक्षण दिसि डाल नइ डाल बांधि पालणुं ए
 पुरुष एक पूठइ छइ। पूंअरा मात्र नइ सृष्टि आरंभण सोमनि धरइ ए
 चालि चालि रेरे पुरुष एक पालणइ पोंढइ सपत कल्पांतर सांभरइ
 आगम वेद पुराण वखाणइ सुख समाधि जीव मनि धरइ
 खिति जल पवन नहीं सिसि सूरज प्रलंकार पहूतुं
 भणइ ति पिहुलि सुणि हो ज्ञानी कहु किसि कारणि पुरुष तिहांसूत उ ३९ त्रिभुवने नासंति
 विषं॥

त्रिसि आकुलीओ दुहुं दिसि जोवइ नइ मझ नइ काल वेला भइ ए
 आवतां देखइ त्रिणि जणा अनइ स्त्रीअ पुरुष एक साथि सुणहड़ी ए
 चालि चालि स्त्रीअ पुरुष एक साथि सुण ही पीरो कति झरइ ए
 पची रसोई सुणिहो ज्ञानी पेहुलि इणि परि बोलइ ए
 पूरव दिसिइ दृष्टि नवि सूझइ बइठो वइ शाखा चडी। भणइ ति पेहुल सुणिहो ज्ञानी
 मारिकण्डरिषि सांसइ पडी त्रिभुवन नासंति विसं।
 कवण साडूंबडी कवण सा डूंब नइ कवण सा सुणहड़ी विषहर ए
 हुं तुम्ह पूछूं छुं जंगम देव नइ भांजि संदेह तूं ब्रह्म पुत्रो चालि।।
 तुम्ह गानी विषइ वाचा कालि काहाणी। कांइ न सणुं चहुं युग तणो आदि ते जाणी।।
 पेहुलि इणि परि बोलइ थावर जंगम कवण गुणहु तुम्ह पूछूं सुणहड़ी।
 अछइ ज्ञान तुं कहु विचारी कवण सा डूंब नइ डूंबडी ४० त्रिभुवने नासंति विषं गच्छ
 गच्छस्वाहा

सप तप सागर भीतर दीप एक अछइ नइ दीपनी तरि अछइ कुसुम नयरो।
 कुसुंभ भी वरउ कुसंभ भीतरि कुण्ड एक छइ नइ कुंड भीतरि सिलाका काचनी ए
 काली काली चउदिसि राति अध राति नइ काल जनम तोरउ भयु ए
 कालु कालु कूकर कुर कुसुम नइ वांन नइ पाय खणइ मुख छिति करइ ए
 ऊछउ ऊछउ जंगम बालाली लडं उंनल नइ बाल लिउ वृक्षि तलि नांखियउ
 ए त्रिभुवने नासंति विषं

रातु रातु सरोवर रातिली पालि नइ रातलुं जल तिहां नीपजइ ए
 रातुं रातुं पाटण रातलुं राजा नइ रातुं सिंहासण छइ बइसणइ ए।
 राता राता लोचन रगति गलि हार नइ राती गदा सो करि धरइए।
 वारु वारु आरंगदे कंत तुम्हारउ नइ आडी जवाहरड़ी कांइ चइइ ए।।
 हुं चडिसुं वाहड़ी सुकरि सुसंवाद नइ अभिनव परीक्षा भोला वियउ ए।
 गवरी पूछइ छइ सुणि जगनाथ नइ प्रियवीय सिसिउ हलाइ यउ ए।
 ताल्हइए आं धन्वन्तरि हूओ संवाद नइ धूणाहइ विष धइहइइ ए।
 दाकइ डूंगर उटकइ वास नइ मेरु शिखरे विष परजलइ ए ४१
 त्रिभुवने नासंति विष गच्छ गच्छ

अहो विष अमृत भणी कांइ न जाउ नइ मान सरोवर तणुं जल ऊठंउ डंक
 मान सरोवर जाउ नइ आणु नइ कमल सोवन्न मइ ए।
 सुवर्ण मइ कमलं सुगंध बहु गंधा सुर तेत्रीसइ वांदीया सर्ग गंगा
 हेमा जल पाणी तिणि ओदकि ओतपनीमा रे रे काल चेति डंक सूइति निरभरं।।
 उत्तम जल वखाणीइ जंगम पेखिवि मान सरोवरं ४२ त्रिभुवने नासंति विषं।।
 मानस सरोवर गंगो चु प्रवाह नइ एक डंक वहइ पूरव दिसइ ए
 सूर तेत्रीसइ करइ समान नइ ऊठ ऊठ डंक नयणे न पेरिवसि ऊठउ अंग पखालीइ

ऋष तप साझइ तेणइ सरोवरि वांदइ संजं त्रिकालीइ अमर चाऊ
 सुणि हो शंकर भाषित चाउ सरोवर कहीइ। छत्रु कोड़ि फजिंद नाहइ कोड़ि बहुतरि
 नागणि नाहइ ४३ त्रिभुवने नासंति विषं॥
 रर द्रह गंगइ सुर नर इंद्र नइ गुरम गोविंद नै दीठ सरे ते सर पालिहि
 हणमंत हाक तइ काल चेतन चेतइओ शशि झरहरइ ए।
 सेस उसेसहिंइतहुं करनइ काल कोप नीवारियइ ए।
 श्रवण संकितइ सुणि हो शंकर ऊठवि ऊदकदिवारी ए
 हरिहर ब्रह्मा नर इंद्र सेव करइ नेह ते सर ऊठी ऊठी डंक उदक दिवाक आज
 पिता हनु तुम्ह परं ४४ त्रिभुवने नासंति विषं॥छ॥
 चाहि रे चाहि निद्रापण भाजी नइ आछा तुं दिवा काल कहाणी नइ
 तूं दिवा हुंकार नइ ब्रह्म जगावइ नइ ब्रह्म पुत्र वदी ज्ञानी षिमी बाधाकाल कहाणीं
 कानि सुणइ सोल कला शशिकर झरइ बिन्दु वरसइ बहुगुण
 आछा दिन उधाड़ि डंक न गहि सूस नितु निरभरं विदच्चारि वरवाणे हो
 ऋजु ययु साम अथव्रणं ४५ त्रिभुवने नासंति विषं॥छ॥
 कनकादंती नगरीयं तणु नइ प्रवेस नइ काल कल्प लिंग वाचीयइ ए।
 तेह लिंग देउल दारिव दुआरि नइ हर हर केसरि पूजियइ ए
 तेह लिंग देउल दाखि दूआरि नइ आदि नील महसरं
 एकल मूरति चाहिं जंगम सोइज ब्रह्म हर हरं
 करधरी ऊठाड़ि कल काह तुं निरभरं।
 उत्तम जल वखाणि हो जंगम पेखनि मान सरोवरं ४६॥ त्रिभुवने नासंति विषं॥छ॥
 अमृत नइ सुणि विष लिंग ॐकार नइ रसन मइ खचित सिव जल हीरि ए।
 करइ देरासरि वासिग राउ नइ आणि न गंगा जलं। पुत्र आणि वेगि खेवि मला विसिवार
 नइ आण नीरस निरभरं। सहस फणि मणि लिंग पूजा कुंभ भरि गंग जलं।
 ढालि गाडू राइ ईसर राजा पूजइ हरिहरं। ब्रह्म ज्ञानी ध्यानलि चूकूं पेखवि नामल देवरं॥
 ४७ त्रिभुवने नासंति विषं॥छ॥
 खीर खंड मधु दधि घृत लेई, अनइ आणि पंचामृत ब्रह्म पुत्र खीरि न्हवण हटकेसर देव
 नइ
 करइ पायाल तणु राउ चालि। पायाल पन्नग राज पहुता, जंगम वीर निवारिया।
 वीर वंसे वीरघंट वाजइ नागनवकुल चालिया। आवर्ति पडीओ डंक जीवइ खयं आओ
 घण वरसइ सोल कला ससिहर झरइ। तुं तु सिवपुर सूनु किम करइ ४ त्रिभुवने नासंति
 विष गच्छ गच्छ
 मृगमद चंदन अगर अणावउ नइ कपूरि करानुं आरती ए।
 करइ देहरासर वासिग राओ नइ दीठउ पायाल त्या हां सहस फणुं।
 सहस फणामणि लिंग पूजुं दीठउ दुल्ल हो। त्रिहु देवि मूरति देव देवे दाधिअउ

ढालि गाडू राय ईसर राय पूजइ हरिहरं। ब्रह्मज्ञानी ध्यान न चूकुं पखवि देहरासर वरं ४९
त्रिभुवने नासंति विसं॥छ॥

भारइ भारइ वस हरण केरी नारि नइ अवढ सरोवर पालड़ी ए
दाझइ दाझइ जलचर जल हमझारि नइ॥ जलणि जलइ सरि पदमिनि ए।
नालि कमल सिउं पदमिणि दाझइ नइ विषमा देवि जंपइ सुर नर इन्द्र मरइ
इन्द्रासण चउदस भुवन विष कंपइ ऊलटिऊं भरल ब्रह्माण्ड चिलउंगइ
गगनंतरि डालड़ी वस हरण की नारी भारइ अवढि सरोवर पालड़ी॥५०॥
त्रिभुवने नासंति विषं॥

सदाभार विष कुंडल कानि नइ विषमल कंचुओ चूड़िलुं ए
नीला लाहल कंकण हार नइ नह सति वीटी विष झरइ ए॥ चालि
झरइ नहसति निसुणि वाला ताल्हणि कुंअर कामिनी। निसुणि जंगम पड़िसु अंगम
भणइ पायालह सामिनी। जस पाय नेउर रणझणोकार कारणि मारग रुअडूओ
सवा भारविष कुंडल काने विष मल कंचू चूड़िलुं॥५१॥

त्रिभुवने वासंति विषं त्रुटि त्रुटि स्वाहाः।

नयणे काजल मुखिहितं बोल नइ कुरल केश मोती जड्या ए।
पाटि सिन्दूर नइ ओढणि घाट नइ विष भरि चाली पदमिणि ए। चालि॥
विष नरा नइ देवि चाली कामिनी कमल सुकरि लीया
कुरंग नयणी मधुर वयणी सकल वाण सुगंधीआ
कपोल मंडल भमइ दीसइ, तेजि त्रिभुवन डारिआ
शृंगार करि नइ देवि चाली नयन काजल सारीआं॥५२॥
सात सखी मिलि करइ शृंगार नइ वंश हरणपुरि संचरइ ए॥५३॥
त्रिभुवने नासति विसं॥

सोवन मुंद्रडी झबकइ छइ ते सिवि हेम तासु अडित वाहा ही ए।
एकल कुमर उछंगिइ पुंढीओ काने कुंडल रतन मइ ए चालि २॥
रतन मइ कुंडल कानि झबकइ तेणि त्रिभुवन तारिआ।
सुर असुर मिलीआ तेत्रीसइ चउइ भुवन विषु वारीया
राजा तणी वाचा लेइ पिहलि नाग नवकुल विष वारीआ
एहस केत सुणि हो जंगम मांद राउत भरिणा डीआ॥५४॥
त्रिभुवने नासंति विषं॥छ॥

बाली बाली प्रीअड़ा बाकर खेल नइ खिणि एक जागइ खिणि प्रीअ सूइ ए
दीवडौ प्रीअड़उ विसहर डसीओ नइ नव योवन नव नेह भाव चालि॥
विसहर डसीउ कंत सेज छांडी धरणी दलीओ। रूठउ काल कृतान्त। अंगो अंगइ मेलवइ
मुख तंवल नलेति हा हा देव दया मणी वाकर किम खरंति॥५५॥
त्रिभुवने नासंति विषं गच्छ २॥

हार नेउर कर कंकण भांजइ नइ ओर नखि फाइइ छइ कंचूओ ए

करल केस धूणइ सा बाली नइ पान फूल सवि प्रीसिउं गया ए
हाहा देव अणाह ससि वयणीअ सांभलि प्री पुष्य वयण तिणि ठाइ फाटइ नही
आवअंभि सत्त खंड किमि न थाइ नान्हडीआ हुं कोइ न मूर्ई बाला पण कुझ मूआं।
दुख न देखत प्रीअ तणुं विसहर घंघ ली आंहा॥५६॥

त्रिभुवने नासंति विषं॥छः॥

रोवइ रोवइ बालीअ विरह करालीअ प्रीअ बिण धडीय म जीवणुं ए
सोहग सुंदर माहरउ बहु गुणवंत नइ कहु सखी मइ अपराध कीओ ए चालि इ।
कहु सखी मइ अपराध कीधउ कहुं जे भरि निरभर ठाइ।

बालइ योवन तरुण पणि मइं बांभण हणीआ गाइ
कइ मइ पीपल छेदिआ, कइ सरो फोडी पालि
रंगइ रमतां निसिह भरि, मुझ प्रीउडो डसीउ कालि॥५७॥

त्रिभुवने नासंति विषं॥

सखीय भणै सखी सरोवर जाओ नइ अंग पखालु नइ अंजल दीयउ ए
हुं न जाउ सरोवर अंग न पखालुं न कंठन मेल्हुं मा हरा प्रीय तणुं ए चालि॥
कंठ न मेल्हुं प्रीअ तणुं देव मेल्हापै मांड। लोक मांहिसयो मणी जण जण तमासइ राड।
अवसर मेहलु एकलुं सरसी सिवपुर जाऊं। कइ प्रीअडा सिउं महि मंडलइ मिलिउं
कइ साथइ सिपुरजासिउं॥५८॥

त्रिभुवने नासंति विषं॥छः॥

बाली बाली विसहर लागु हो देव नइ कालु भुयंगम प्रिउ डसीउ ए।
सिर होसु प्रीय समु तिल तिल देहज बालउं वाढी कए तल करुं जूनुआ मुहत विसहर
टीलां अस्त्री हत्या ब्रह्म हत्या बाल हत्या विस डोलि पासी जालि सुहंता
तास न साधुं बाली वेस हो बालि हा॥५९॥ त्रिभुवने नासंति विषं॥छः॥
बाली रे बाली रे पगे लेइ बयठां नइ साथ न मेल्हिसु प्रीय तणुं ए
करु सजायी मलावि सिउ वार नइ मुंड गुंथावुं सही तोडरुए मही तस मोडर मूंड गुंथाउंए
चरणामृत अणावुं सूकडि सोनुं अनइ सावटू गरथ भंडार उधाडो तेडावुं ब्राह्मण दान देवारां।
धान देइ जलि पइसुं हुं तुम्ह प्रीऊडा साथ न मेल्हओ बाली पद लेइ मरसइ॥६०॥

त्रिभुवने ना॥

पहिरि पहिरि चरणा नइ ओढणि घाटं नइ अरघ देऊ देव सूरजि जुहार नइ
सुर तेत्रीसह तिहां मिलइए।

भेर-भूंगल संख मादल नाद नीसाणे सवि मिल्या ए।

हरि हरि भगती जमहि विचाली रूप त्रिभुवन मांह ए।

हंसग मणि हीइ मलपंती पहिरणि चरणा सोह ए॥६१॥

त्रिभुवने नासंति विषं गच्छ गच्छ॥

तेइउ नवकुल नाग चालु पयालि भद्र पालक लागइबिहु जण तणा ए। कांइ राखु राखु

बालीअ अमि भरतार नइ जिम जगि हुइ अजुवालडुं एं
पातक लागइ बहु तणुं काहं डंक जगावए। अहि वंशमांहे ताल्ह बलवंत अमीय कलस
लेइ आवए। सत प्रमाणि सुणे ओ वासिग बाली कंत कुठावीओ॥६२॥

त्रिभुवने नासंति विषं।

पुहवलि पेहुलि जइ धर धोरी नइ धवल चंद घर कांइ सूइ ए
सजल लोक बहु अति घणा मिलिआ नइ बहु सउखुं कांइ झूरइ ए
बहूअ सइखुं कांइ फुरइ हुंतु फण पति राओ धवल चंद्रधर कांइ सूइ
ऊठीओ कामणि मनिहि उछह घरि घरि कूडी नइ मंगल च्यारि नइ ठामि ठामि वधावणुं
ए।

तालीआ तोरण वत्रमालि नइ मोती रा चोक पूरावियाउ ए॥६३॥

त्रिभुवने नासति विषं॥छः॥

खेइलइ पाटण वसइ सोनार नइ संकली घडाविणि प्रीयु गयउए।
सांकली घड़ावतां लागी वडी वार नइ हार घडावतां निसि भइ ए
सांकली घडावी प्रीयइउ मारगि चालिउ नइ कालीअ नागिणि प्रीअइउ डसीउए
थिरथिर प्रीअडा तुं कायर म होइ जे जब लगइ चाहंथीअ गारुडी ए।
जाइ जोऊं तिहांवलि सतरि सहस गुजराति नइ अढार लाख नइ बाणुं मालवुं ए
चाह जोवंती सोई दोइ जण मिलीआ नइ एक शिंकर बीजु सहस फणु
शंकर बइठउ तिहां जंपइ छइ जापन सहस फणुं नाग अमृत झरइए॥६४॥

त्रिभुवने नासंति विषं।

वालीआ वेद जिण जाली होलका आदि संकेत नुसुणि हो डाढा वालीआ
जइ रे जंगम वालू आ चेत अचेत आदि संकेत नु सुणि न सचेत वाली वेद
वालीओ धीरज काल कूट विष झंपइ वाजीअ लहरि विष त्रिभुवन कंपइ वालीआ
वे स्त्री रूपइ ताल्हण आविउ वाजीआ लहरि विष त्रिहु अण छायुं वालीआ कुपिउ
ताल्हण जिणि संखूओ भागु उडिओ गुरुड विष गगनि विजगुं बालीआ वेद जिणि
जालीओ लंका॥ त्रिभुवने नासंति विषं. ॥

बाली वेस प्रीयडउरे ताल्हण देइ अहि रात।

ऊभी कामणि विल विलइ रे जिम रायांगणे भाट

जिमरायांगणि भाट तिम वानर विछोही॥ कवण जराखइ राओ राणा घूमिओ नाह
पड़िउमही मंडण रुंध्या च्यारे गात्र। त्रिभुवने नासंति विषं.

चंदन चोली जउरि भीजइ आंसू नीर प्रवाह।

विष आठे अंगे संचरिओ प्रीअडो लहरइ जाइ।

निठुर नयणे न जोइयइ हंस गमणि मृग नयणि मुंध मधुर सरि रोवइ हीअइउ मोरु आस।
न मंडइ प्रिय जिम हरि जाइ चंदन चोली त्रिभुवने नासंति विषं।

जुंमइ जोसी बभण घाया, तउ प्रीय पहुतु कालि।

कइ पीपल मइ छेदिआ, कइ सर फोड़ी पालि।

कइ मइ हर माल उतारी कंत भयंगम डसीउ। नाह मुझ दुख विलगउमारी
कूं कूं कजल सिर सिंदूर उरि ऊतरिउ हार किइ मइ जोसी बंभण मार्या तूं प्रीउ
डसीउ कालि। त्रिभुवने नासंति विषं।

मोरी मोरी बेटकी माझिम राति नइ कांम भुंअंगमि डसीउलि ए।

पांच सात मिली सखी समाणी नइ डंक विधाता देवी मन हसी ए।

गोविंद गरुड़ गामी उपचार भलउं किहविष ब्रह्मा मिउ ए।

मोरी मोरी द्वारका पाटणि श्री कृष्ण राजा सोल सहस अंतेउरि राणी
साठि लाख कूअरा छइ परिदमो राजा भरि-भरि तूं आरे डंक न भरइए
गोरी गोरी हाथ पोअण पान नइ ऊपरि जंबू अबल सखी मोकलीय ओ
स्वामि पास तास त्रीय तणा वचन मोकलीओ छइ

स्वामी पासे तीस त्रीयतणा वचन संभारउ

पड़ि पड़ि तूं आरे डंक ना पड़इ मोरी मोरी सरग भवन हूंतउ बलवंति आणी ओ अंगणइ
सेपिओ पारिजातो।

तास वृक्ष तलि संकेत भइला मारि मारि र डंक नर मरइ ए मोरी मोरी

त्रिभुवने नासंति विषं।

ऊठि ऊठि रे डंक मम लायसि खेव देवकी नंदन गुरइ गामी एह आया सुर असुर मिल्या
समुद्र विलोयु। चउद रतन अमूलिक नीकलिओ ए। काम देह शंकरि विरह विष मारीला
तेत्रीस क्रोड़ि देवता अमृत पाया ऊठि ऊठि पन्नग पेवतां जिणिओं अमृत आणीओ तु
अंग भोजन करइ पंखीय राओ तास वाहणि पुराण पुरुषोत्तम त्रिभुवन नायक आपण पइ
देवि धाया।

ऊठि ऊठि जास चलणे लागी त्रिभुवन पावनी सुरसुरी गंगा सदा वहइ तास दरसणि मनि
ध्यान धरंती समरण करंता त्रिभुवन पातक नासइ ऊठि ऊठि गोविंद वंदावनी दशन
किरणा ओली कृपां कोमला स्वामी व्रत झाली तास वचचभणतां अमीय कलस भरीआ
शृंग त्रिलोचन डंक ऊपरि कलश ढालीआ ऊठि ऊठि। त्रिभुवने नासंति विषं। दोष पख
बाजी गुरड पुहता त्रिभुवन भय निनाद जास तणी हाकइ त्रिभुवन कंपइ रे भरम भागउ
भरतार दोष पंथा।

अरध ऊपनुं काशिप ऋषिनुं स्वामी बाल पणइ क्षुधाऊपनी भोजन छउ पश्चिम दिसइ
पपीया सरोवर वर गज कुंभ। ति पाठाइ दुख पंख। ऋषि ना वचन श्रवणे सुणी पुहता
सरोवर पालि त्रिणि पुरुष तेणइ जाणया ते डरीओ मन मांहि गुरड भणइ अम्हे किम न
बीहुं कइ पयसु पायालि दुख पंख वाजीआ एकणि करि कुंभ लीओरे बइठो वृक्षह डालि
शाखा भाजइ नइ ऋषि पुकारइ उडि गयुं आगासि दुख पखा रस खंची नइ रवि तिहां

रहीओ राहु तेहनउ अणगालि गुरइ भणइ पंखीओ सामी न्यानि निहालि निहालि गुरइ भणइ अम्हो भोजन करिस्यां बइठा अरि आधारि दोष पंख वाजीआ सरग भवन हूओ होला हइलउ धाक अमीह काजि। असुर नाग सुर नमीआ पइठः ठः कुण्डमांहि अमीअ धार घण व (द) रसण लागी ऊठि डंकनी जिसि जी दुख पंख वा त्रिभुवने नासंति विषं।

सोल वरस की गोरड़ी, बीस वरस कुं नाह। पवण निशि पर डसीओ, चंद गलिउ जिम राह। चंद गलिउ उजिम राह, नाह कुमिलाणा नयणा। राखि राखि हो ताल्ह कुमार, हुं शरणा गत तोरा। वीर (स) वरस कु नाह, सोल बरस की अगनि अंगूठइ लागी। कबि लग जाइ कपालि जागइ प्रीअ सूइ बेजण पडीआ जंजालि अलजु अंगि मुझ भरतारि कवण जो राजइ राय राणा। राखि राखि हो ताल्हण कुमार हुं सरणागत भारी मुझ अहि घात ऊआरइ। अगनि अंगूठए लागी। कदि लगइ जाइ कपालि। एक कामणि अउर बाली विछोही भरतार। डंक तणइ सिरि वरिसि ताल्हण अभीअ संचारि। राखि राखि हो ताल्ह कुमार। मुझ प्रीउ मरइ अखूटइ वाजइ लहरि विष घांघ। ताल्हण वलतुं रुदन करइ मुख घाउ मूकइ हउं भाऊं हटाली विछो भरतार एक कामणि उर बाली डाक सिउं डाक वाजइ बहु कांसी झमकार। चंद्ररोहिणी मिलिउ, धणि मिलिउ भरतार। तखिक राउ तूठउ ढाली अमी गयउ विष छांडी। अंक तणइ सिरि तूठउ ऊठिउ ताल्हण हूइ संति। मूधि मंगल तिहां छाजइ, बहु कांसी झमकार डाक डमरू बहु वाजइ। त्रिभुवने नासंति विषं। इति नाग विद्या संपूर्णाः॥

डंक ऊपरि केसर सूकडि कपूर कस्तूरिकादि लावणा पुष्प चढावणा भोग प्रचुर अखेवणा। गुरु पूजादि भगति करवी। इति विधानात् सिद्धि नान्यथा। ॐ ह्रां श्रीं झ्वां झ्वीं झ्वः। श्री तक्षकाय नमः स्वाहा॥ सं० ५३ वर्षे वैशाख सित १४ तिथौ।

ॐ नमो आदेश गुरु कुं। एक पलक दोपल पलीआ वरण्युं झाडुं महमद बंदीया तीन भुवन का लेऊं विछ छीन गजथवर डुक्कर दउं तीन तीन टक्कर तीन ताल जा जारे विष समद पाताल बतीसे बतीसे रंग एक बतीसे मोडे अंग एक बतीसे दाढज भरइ सवा लाख भार विष वस करइ विष वासै ते आया वीर नरवान किया सब शरीर ढोल के विष शबद विष।

सर्प के जहर उतरने के मंत्र

(१) ॐ नमो नाग वासकी सात समुद्र पवन पातर विष घोल संकर नाथ तुम्हो सुणौ कामी आछै आछै त्रांबा कुंडी भरी आणुं पाणी मुं विष कुंपा धरम की आज्ञा विष पाताल जा ब्रह्म जा वार रासी शिवा जा शंकर जा न खोज नाव चखो चख ऊतरि नहीं तो माथै मारूं त्रिण टाकर मोरी भक्ति गुरु की शक्ति फुरैः (इण मंत्रै वार १०८ पाणी मंत्री हाथ रा नख पग रा नख तालुअै छांटी माथै टाकर ३ मारीजै बाकी पाणी पाइजै सरप विष ऊतरै)

अंचलगच्छे मेरुतुंगसूरि आम्नाय वडनगरे सर्प विष उतारी श्रावक कियौ तिको आम्नाय छै।

(२) ॐ क्ल्व्यू वँ हॉ क्रौ क्षीं ह्रीं क्लीं ब्लूँ द्राँ द्रीं ज्वालामालिनि! झंकारिणि!
विषं निर्विषं कुरु कुरु स्थावर विषं निर्विषं कुरु कुरु स्थावर विषं
जङ्गमं जाठरं योगजं अपहर अपहर मण्डकं अमृतेन सिञ्जय उत्थापय
दण्डेना क्रम्य विषम विषं ठःठःठः स्वाहा।

जिस व्यक्ति को सर्प ने दंश दिया हो उसके माप का ही दण्ड लेकर उसे इस मंत्र से सात बार मंत्रित करना और उसके द्वारा दंशित व्यक्ति के सभी सांधाओं पर ताड़न करना अर्थात् वे ऊभे हो जाते हैं उसी प्रकार 'ॐ क्रौं ग्रो मृ ठःठःठः'

इस मंत्र से जल धारा देने से दंशित व्यक्ति ऊभे (खड़े) हो जाता है।

महा प्राभाविक् उवसग्गह्दरं स्तोत्र

यंत्रावली

७-विषमविषनिग्रहकर यंत्र



जैनधर्म, संस्कृति और कला के विकास में गंग,

राष्ट्रकूट और चालुक्य राजवंशों का योगदान

प्रो० भागचन्द्र जैन 'भास्कर'

जैनधर्म, संस्कृति और कला के विकास में गंग, राष्ट्रकूट और चालुक्य राजवंशों का विशेष योगदान रहा है। दक्षिणापथ (नर्मदा नदी के दक्षिणवर्ती भू-भाग) पर कर्नाटक प्रदेश में कटवप्र पर्वत पर स्थित श्रवणबेलगोल क्षेत्र के विकास में गंगवंशीय नरेशों का विशेष योगदान रहा है। अनुश्रुति के अनुसार इस वंशका सम्बन्ध तीर्थङ्कर आदिनाथ के इक्ष्वाकुवंशीय गंगेय से रहा है जिसकी वंश-परम्परा में जन्मे पद्मनाथ के पुत्र दद्विग और माधव क्रोंगुणिवर्म प्रथम (१८९-२५० ई०) ने आचार्य सिंहनन्दि की देखरेख में ९६००० संज्ञक गंगवाडि (मैसूर के दक्षिणी भाग में स्थित गंगडिकार या गंगवाडिकार) को अपना राज्य बनाया। दद्विग तो शासन-निर्माण-काल में ही चल बसा। अतः माधव को ही इस राज्य का प्रथम वास्तविक नरेश कहा जा सकता है।

गंगराज्य के निर्माण में आचार्य सिंहनन्दि की भूमिका निःसन्देह महत्त्वपूर्ण रही है। श्रवणबेलगोल के समीपस्थ हल्लिग्राम से प्राप्त शिलालेख में उन्हें गंगराज्य का निर्माता कहा गया है (जैन शिलालेख संग्रह, भाग १, क्रमांक ४८६, पृ० ३८२)। पार्श्वनाथ वसदि में एक स्तम्भ पर उत्कीर्ण शिलालेख भी इस तथ्य की पुष्टि करता है (वही, क्रम ५४, पद्य ९)। मैसूर राज्य के अन्तर्गत कल्लूरगुड्ड के सिद्धेश्वर मन्दिर से प्राप्त शिलालेख (११२२ ई०) में गंगराज्य की स्थापना का श्रेय आचार्य सिंहनन्दि को ही दिया गया है। उज्जैन के नरेश महीपाल के आक्रमण से त्रस्त होकर पद्मनाथ ने अपने दोनों पुत्र दद्विग और माधव को दक्षिण की ओर भेज दिया। वहाँ पेरूर में उनकी भेंट आचार्य सिंहनन्दि से हुई। सिंहनन्दि ने उन्हें पूरा सहयोग दिया। दोनों राजकुमारों ने उनके निर्देशानुसार पद्मावती देवी की भक्ति की। उसने उन्हें प्रकट होकर तलवार और राज्य प्रदान किया। तदनन्तर सिंहनन्दि ने उन्हें इस प्रकार शिक्षा दी—

‘यदि तुम अपने वचन को पूरा न करोगे, या जिन शासन को सहायता न दोगे, दूसरों की स्त्रियों का यदि अपहरण करोगे, मद्य-मांस का सेवन करोगे या नीचों की

*. पर्व-निदेशक. पार्श्वनाथ विद्यापीठ.

संगति में रहोगे, आवश्यक होने पर दूसरों को अपना धन नहीं दोगे और यदि युद्ध के मैदान में पीठ दिखाओगे तो तुम्हारा वंश नष्ट हो जायेगा।' इसी शिलालेख में इस राज्य का विस्तार भी दिया हुआ है— 'उच्च नन्दगिरि उनका किला था। कुवलाल राजधानी थी। ९६ हजार देशों पर आधिपत्य था। निर्दोष जिनेन्द्रदेव उनके देवता थे। युद्ध में विजय ही उनका साथी था। जैनमत उनका धर्म था और दक्षिण तथा माधव बड़े प्रेम के साथ पृथ्वी का शासन करते थे (वही, भाग २, लेख क्रमांक २९७)। उदयेन्द्रिण तथा कुच्चलू के दानपत्र भी इस घटना का उल्लेख करते हैं। एक अन्य शिलालेख के अनुसार माधव ने सिंहनन्दि की आज्ञा से उस शिलास्तम्भ को अपनी कृपाण के एक ही बार से काट डाला जो साम्राज्य की देवी के प्रवेश मार्ग को अवरुद्ध किये हुए था।

उपर्युक्त सभी शिलालेख बारहवीं शताब्दी के हैं जबकि गंगराज्य दूसरी से ग्यारहवीं शताब्दी तक ही रहा है। लगता है, चूंकि समूचा गंगराज्य जैनधर्म का प्रारम्भ से अन्त तक अनुयायी रहा है और उसने जैन संस्कृति का प्रचार-प्रसार कर जनकल्याण किया है, इसलिए उसके समाप्त होने पर भी जनमानस गंग राजाओं का विस्मरण नहीं कर सका। किसी के अस्तित्व में न रहने पर भी यदि कोई उसकी सत्कार्य-गाथा गाता है तो वही वास्तविक मूल्यांकन कहा जाना चाहिए। लुईराईस ने इस प्राचीन परम्परा को स्वीकारा है और सालेतोर ने शिलास्तम्भ की घटना को बौद्धधर्म से जोड़ा है (मैसूर गजेटियर, १ पृ० ३०८-१०, मिडिवल जैनज्म, पृ० १५)। सम्भव है, बौद्धधर्म सिंहनन्दि के काल में दक्षिण में लोकप्रिय हो गया हो और माधव ने उसके स्थान पर जैनधर्म को लोकप्रिय बनाया हो।

गंगवंश की प्रथम राजधानी मैसूरवर्ती पालार नदी के तट पर स्थित कुवलाल (कोलार) थी। बाद में उसे माधव के प्रपौत्र हरिवर्मन ने काबेर नदी के तट पर स्थित तलकाड में स्थानान्तरित किया और फिर श्रीपुरुष ने मान्यपुर (बेंगलोर के समीप) को अपनी राजधानी बनाया। हरिवर्मन के भाई आर्यवर्मन तथा कृष्णवर्मन ने इस वंश की क्रमशः पेरूर और कैवार शाखा का सूत्रपात किया।

इसके बाद हरिवर्मन के पुत्र विष्णुगोप, विष्णुगोप के पुत्र पृथ्वीगंग, पृथ्वीगंग के पुत्र तडंगल माधव 'तृतीय' और तडंगल माधव के पुत्र अविनीत कोगुणि (४००-४८२ ई०) क्रमशः राजा हुए। अविनीत एक पराक्रमी और धर्मात्मा नरेश था। विजयकीर्ति उसके राजगुरु थे। उसने अपने पुत्र दुर्विनीत की शिक्षा-दीक्षा सम्भवतः आचार्य देवनन्दि पूज्यपाद (४६४-५२४ ई०) के सान्निध्य में करायी। पूज्यपाद तलकाडु की प्रधान जैन बसदि के प्रधान भी थे। श्रवणबेलगोल के शिलालेख (क्रमांक १०५/२५४) के अनुसार पूज्यपाद का प्राथमिक नाम देवनन्दि था, जो उनके गुरु ने दिया था। बुद्धि की प्रकर्षता और गम्भीरता के कारण उन्हें जिनेन्द्रबुद्धि कहा जाता था। जब से देवताओं ने उनकी चरण वन्दना की तब से वे पूज्यपाद हो गये। पूज्यपाद के

अतिरिक्त इस समय तक गंगवंश के शासनकाल में वीरदेव, उच्चारणाचार्य, वप्पदेव, शिववर्मन्, यशोभद्र, प्रभाचन्द्र, श्रीदत्त, कवि परमेष्ठि आदि जैसे महान् जैनाचार्य हो चुके थे।

दुर्विनीत (४८२-५२२ ई०) गंगवंश का कदाचित् सर्वाधिक शक्तिशाली जैन नरेश था। उसने पल्लवों, कदम्बों तथा वानों को युद्ध में पराजित किया। वह स्वयं विद्वान् था और विद्वानों का आदर करने वाला था। पूज्यपाद उसके गुरु और भारवि उसके दरबारी कवि थे। उसने स्वयं बृहत्कथा का संस्कृत रूपान्तरण किया था। विद्वान् और शक्तिसम्पन्न होने के बावजूद उत्तरकाल में उसके उत्तराधिकारियों पर चालुक्य-नरेशों ने कुछ समय के लिये आधिपत्य जमा लिया। फिर भी गंगवंश को नामशेष नहीं किया जा सका। लगभग २०० वर्षों तक वह संघर्ष करता रहा। बाद में राष्ट्रकूट और चालुक्यों के बीच हुए आक्रमणों ने गंगनरेश श्रीपुरुष (७२६-७७६ ई०) को शक्ति केन्द्रित करने में काफी सहयोग दिया। श्रीपुरुष ने पल्लव, पाण्ड्य, वाण आदि नरेशों को पराजित कर उनसे राजनैतिक सम्बन्ध प्रस्थापित किये। श्रवणबेलगोल प्रशस्ति में इसके शासनकाल में हुए कतिपय आचार्यों का उल्लेख मिलता है। उनमें प्रमुख हैं— प्रभाचन्द्र, विमलचन्द्र, परवादिमल्ल, पुष्पसेन, अनन्तकीर्ति 'प्रथम', बृहद् अनन्तवीर्य, विद्यानन्दि आदि। इन आचार्यों ने कर्नाटक प्रदेश में रहकर जैन साहित्य और संस्कृति का भरपूर पल्लवन किया। आचार्य विद्यानन्दि ने 'श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र' की रचना श्रीपुर के पार्श्वनाथ जिनालय में श्रीपुरुष के समक्ष ही की थी।

श्रीपुरुष के बाद शिवमार 'द्वितीय' (७७६-८१५ ई०) तथा राचमल्ल सत्यवाक्य 'प्रथम' (८१५-८५३ ई०) राजा हुए। विद्यानन्दि ने इन दोनों के भी आश्रय में रहकर अपनी साहित्य सर्जना की। शिवमार 'द्वितीय' ने श्रवणबेलगोल की चन्द्रगिरि पहाड़ी पर एक सुन्दर जिनालय भी बनवाया था। चन्द्रनाथ वसदि के पास से प्राप्त एक पत्थर पर कन्नड़ में 'सिवमारन वसदि' अंकित है (जैन शिलालेख संग्रह, भाग १, पृ० ३२७)। उत्तरकाल में शिवमार को राष्ट्रकूट नरेशों से पराजय का मुंह देखना पड़ा। फलतः वह उनका सामन्त बन गया। कहा जाता है वह अमोघवर्ष 'प्रथम' (८१४-८७७ ई०) का पंचमहाशब्दधारी महामण्डलेश्वर था (जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेख नं० १८२)। गंगवंश की एक अन्य शाखा में पृथ्वीपति प्रथम अपराजित भी एक पराक्रमी जैन शासक रहा जिसके गुरु आचार्य अरिष्टनेमि थे। ये वही अरिष्टनेमि हैं जिनके समाधिमरण के अवसर पर पृथ्वीपति अपनी रानी कम्पिला के साथ श्रवणबेलगोल के कटवप्र पर्वत पर उपस्थित हुए थे।

गंगवंश अब पुनः उत्कर्ष की ओर बढ़ने लगा। राचमल्ल सत्यवाक्य ने बाण नरेश को पराजित किया, पल्लवों तथा राष्ट्रकूटों के साथ पारिवारिक सम्बन्ध स्थापित कर उन्हें मित्र बनाया। नीतिमार्ग (८५३-८७० ई०) ने भी यही नीति अपनायी। तदन्तर

राचमल्ल सत्यवाक्य 'द्वितीय' (८७०-९०७ ई०), महेन्द्रान्तक (९०७-९२० ई०), राचमल्ल सत्यवाक्य 'तृतीय' (९२०-९३८ ई०), बुतुग 'द्वितीय' (९३८-९५३ ई०), मरुलदेव (९५३-९६१ ई०) तथा मारसिंह पल्लवमल्ल (९६१-९७४ ई०) राजा हुए। इन राजाओं का पारिवारिक सम्बन्ध राष्ट्रकूटों से अधिक रहा है। बुतुग 'प्रथम' तो अमोघवर्ष 'प्रथम' का दामाद ही था। इन लोगों ने मिलकर वेंगी के चालुक्यों से संघर्ष किया। राचमल्ल 'द्वितीय' को चोलों के विरुद्ध अनेक युद्ध करने पड़े। राष्ट्रकूट इन गंग नरेशों को अपना अधीनस्थ सामन्त समझते थे। पर तथ्य यह है कि 'गंग' ही राष्ट्रकूटों के संरक्षक सिद्ध हुए हैं।

गंगराज मारसिंह बड़ा प्रतापी राजा था। श्रवणबेलगाल के कूगे ब्रह्मदेवस्तम्भ पर उत्कीर्ण शिलालेख (नं० ३८ (५९)) में कहा गया है कि मारसिंह ने राष्ट्रकूट नरेश कृष्णराज 'तृतीय' के लिये गुर्जर देश को जीता, कृष्णराज के विपक्षी अल्ल का मद चूर किया, विन्ध्य पर्वत की तली में रहने वाले किरातों के समूहों को जीता, मान्यखेट में नृप कृष्णराज के सेना की रक्षा की, इन्द्रराज 'चतुर्थ' का अभिषेक कराया, पातालमल्ल के कनिष्ठ भ्राता वज्जल को पराजित किया, वनवासी नरेश की धन-सम्पत्ति का अपहरण किया, माटूर वंश का मस्तक झुकाया, नोलम्ब कुल के नरेशों का सर्वनाश किया, काडुवट्टि जिस दुर्ग को नहीं जीत सका था, उस उच्चाङ्ग दुर्ग को स्वाधीन किया, श्वराधिपति नरग का संहार किया, चोल नरेश राजादित्य को जीता, तापी-तट, मान्यखेट, गोनूर, उच्चङ्ग, वनवासि व पाभसे के युद्ध जीते एवं चेर, चोल, पाण्ड्य, और पल्लव नरेशों को परास्त किया। इसलिए धर्म महाराजाधिराज, धर्मावतार, जगदेकवीर, माण्डलिक त्रिनेत्र, नोलम्बकुलान्तकदेव, गंगविद्याधर, गंगचूड़ामणि आदि विरुद्धों से वह अलंकृत था। वह जैनधर्म का परम भक्त था। उसके उत्थान के लिये उसने अनेक महत्वपूर्ण कार्य किये तथा अनेक जिन मन्दिर और मानस्तम्भ भी बनवाये। अन्त में यह भी लिखा है कि उसने अन्तिम काल में राज्य का परित्याग कर अजितसेन भट्टारक के पास तीन दिवस तक सल्लेखना व्रत का पालन कर बंकापुर में देहोत्सर्ग किया। कुडउलूर दानपत्र में भी उसे जिनभक्त तथा दर्शन, साहित्य और व्याकरण का पण्डित बताया गया है। उसके श्रुतगुरु ब्राह्मण श्रीधर भट्ट के पुत्र जैनाचार्य मुञ्जार्थ वादिद्यमंगल भट्ट थे।

मारसिंह के बाद गंगराज्य का हास प्रारम्भ हो गया। चालुक्यों और चोलों ने अपनी शक्ति बढ़ाना प्रारम्भ कर दिया तथा राष्ट्रकूट वंश समाप्तप्राय हो गया। मारसिंह और उसके पुत्र राचमल्ल 'चतुर्थ' (९७६-८४ ई०) के मन्त्री तथा सेनापति चामुण्डराय के कारण इस वंश ने अमरता प्राप्त कर ली। गंग इतिहास के लिये यह सन्ध्याकाल था, फिर भी चामुण्डराय की वीरता और भक्ति ने गंगराज्य के इतिहास में एक नया अध्याय जोड़ दिया।

राचमल्ल के बाद उसके अनुज गोविन्द का पुत्र राक्कसगंग (९८५ ई०) राजा हुआ। बाहुबली बसति (श्रवणबेलगोल) के उत्कीर्ण अभिलेख में उल्लिखित राक्कसमणि (गंगवज्र) राक्कसगंग ही होना चाहिए जिसके वीयिग नामक एक वीर योद्धा ने राष्ट्रकूट नरेश वद्रेग और कोषेयगंग के विरुद्ध युद्ध करते हुए अपने प्राण विसर्जित कर दिये। इसका राज्यकाल बहुत कम प्रतीत होता है। इसके गुरु आचार्य विजयदेव थे। जैन कवि विजयदेव नागवर्म इसी राजा के आश्रित थे। शिलालेख (श्रवणबेलगोल) नं० २३५ (१५०) में शायद इसी नागवर्म का उल्लेख है। राक्कसगंग के ही राज्यकाल में १००४ ई० में चोलों ने आक्रमण करके गंगवाड़ी तथा तलकाड को अपने अधीन कर लिया। यहीं से गंगवंश का पतन प्रारम्भ हो गया।

राक्कसगंग के बाद भी, लगता है, गंगराज्य एक उपराज्य के रूप में चलता रहा। इस उपराज्य के राजा नीतिमार्ग 'तृतीय' राचमल्ल और फिर राक्कसगंग 'द्वितीय' राजा हुए। इनके आचार्य क्रमशः वज्रमणि और अनन्तवीर्य सिद्धान्तदेव थे। चालुक्यों से उन्होंने पारिवारिक सम्बन्ध स्थापित किया। राक्कसगंग 'द्वितीय' की पुत्री का सम्बन्ध चालुक्य नरेश सोमेश्वर से हुआ। इसके बाद राक्कसगंग का छोटा भाई कलिंगग राजा हुआ। सम्भवतः उसी गंगराजा ने १११६ ई० में मैसूर प्रदेश से चोलों का निष्कासन कर अपने स्वामी होयसल नरेश विष्णुवर्धन का साम्राज्य स्थापित किया था।

विष्णुवर्धन के आठ जैन सेनापति थे— गंगराज, बोष्प, पुणिस, बलदेव, मरियन, भरत, ऐच और विष्णु। इनमें गंगराज को प्रमुख कहा जाता है। उसके माता-पिता भी परम जिनभक्त थे। चामुण्डराय बसदि के दक्षिण की ओर स्थित मण्डप में द्वितीय स्तम्भ पर उत्कीर्ण ११२० ई० के शिलालेख (क्र० ४४१) में 'मार' और 'माकणब्बे' के सुपुत्र 'एचि' व 'एचिगाङ्क' की भार्या 'पोचिकब्बे' की धर्मपरायणता और अन्त में संन्यास-विधि से स्वर्गारोहण का उल्लेख है। 'पोचिकब्बे' ने अनेक धार्मिक कार्य किये। उन्होंने श्रवणबेलगोल में अनेक मन्दिर बनवाये। शक सं० १०४३, आषाढ़ सुदी ५ सोमवार को उस धर्मवती महिला का स्वर्गवास हो जाने पर उसके प्रतापी पुत्र महासामन्ताधिपति, महाप्रचण्ड दण्डनायक विष्णुवर्धन महाराज के मन्त्री गंगराज ने अपनी माता की स्मृति में इस निषद्या का निर्माण कराया। इसी लेख में गंगराज के कुछ विरुद् उल्लिखित हैं, जैसे— महासामन्ताधिपति, महाप्रचण्डनायक, वैरिभयदायक, गोत्रपवित्र, बुधजनमित्र, श्रीजैनधर्म्मामृताम्बुधिप्रवर्द्धन सुधाकर, सम्यक्त्वरत्नाकर, आहाराभयभैषज्यशास्त्रदानविनोद, भव्यजनहृदयप्रमोद, विष्णुवर्द्धन— भूपालहोसल— महाराजराज्याभिषेकपूर्णकुम्भ, धर्म्महर्म्योद्धरणमूलस्तम्भ आदि। इन विरुद्धों से गंगराज के विराट् व्यक्तित्व का पता चलता है।

गंगराज के कार्यकलापों का वर्णन करने वाले दो और शिलालेख श्रवणबेलगोल में उपलब्ध होते हैं, प्रथम शासनबस्ति (चन्द्रगिरि) के सामने एक शिला पर (नं०

५९-७३) और द्वितीय गोम्मटेश्वर द्वार के दायीं ओर एक पाषण पर (नं० ९० (२४०))। ये दोनों शिलालेख एकदूसरे के परिपूरक हैं। इन लेखों में कहा गया है कि गंगराज ने तलकाडु पर घेरा डालने वाले चोल सामन्त अदियम, नरसिंह वर्मा, दामोदर व तिगुलदास (तैलंगों) को बुरी तरह से परास्त कर गंगवाडि देश को बचा लिया तथा चालुक्य नरेश त्रिभुवनमल्ल पेर्माडिदेव की सेना को उनकी स्वामिभक्ति तथा विजयशीलता से प्रसन्न होकर विष्णुवर्धन नरेश ने उन्हें पारितोषिक मांगने को कहा। उन्होंने गोम्मटेश्वर की पूजा के निमित्त 'गोविन्दवाडि' तथा 'परम' नामक ग्राम मांगे। उसे नरेश ने सहर्ष स्वीकार किया। इन दोनों ग्रामों को गंगराज ने अपनी माता पोचलदेवी तथा अपनी भार्या लक्ष्मीदेवी द्वारा श्रवणबेलगोल में निर्मापित जिनमन्दिरों की आजीविका हेतु अर्पित करा दिया।

गंगराज जैसे पराक्रमी थे वैसे धर्मिष्ठ भी थे। लेख नं० ५९ के एक पद्य में कहा गया है कि जिस प्रकार जिन-धर्माग्रणी अतिमब्बरसि के प्रभाव से गोदावरी नदी का प्रवाह रुक गया था उसी प्रकार कावेरी के पूर से धिर जाने पर भी जिन-भक्ति के कारण गंगराज की लेशमात्र भी हानि नहीं हुई :

जिनधर्माग्रणियत्ति मब्बरसियं लोकं गुणं गोत्वुदे-
केने गोदावरि निन्द कारण दिनीगलु गंगदण्डाधिना-
थनुमं कावेरि पेच्चिं सुत्ति पिरिटुं नीरोत्तियुं मुट्टिति-
ल्लेने सम्यक्त्वद पेम्पनिंनेरेये वण्णिप्पण्णने वण्णपं।।१४।।

इसके अतिरिक्त गंगराज ने गंगवाडि परगने के समस्त जिन-मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराया, गोम्मटस्वामी का परकोटा बनवाया तथा अनेक स्थलों पर नये-नये मन्दिरों का निर्माण कराया। लेख में कहा गया है कि इन कृत्यों से गंगराज (चामुण्डराज-गोम्मटस्वामी के प्रतिष्ठाकारक) की अपेक्षा सौ गुने अधिक धन्य नहीं कहे जा सकते?— 'गंगराजना मुन्निन गंगराजङ्गं नूर्म्मडिधन्यनल्ले।'

लेख में 'परम' ग्राम की सीमा दी हुई है (पद्य नं० ९) जिससे विदित होता है कि यह ग्राम श्रवणबेलगोल के समीप ही ईशान कोण में था। उक्त दान शक सं० १०३९, फाल्गुण सुदि ५, सोमवार को दिया गया था। गंगराज कुन्दकुन्दान्वय देशीगण पुस्तकगच्छ के कुक्कुटासन मलधारिदेव के शिष्य शुभचन्द्र सिद्धान्तदेव के शिष्य थे।

गंगराज का पुत्र बोप्प भी शूरवीर योद्धा था। वह विष्णुवर्धन का सन्धिविग्रहिक था। उसने भी अपने पिता के समान अनेक जिन-मन्दिरों का निर्माण कराया। बोप्प की पत्नी भानुकीर्तिदेव की शिष्या थी। उनका पुत्र एच भी दण्डाधीश और उदार जिनभक्त था।

गंगराज से सम्बन्ध रखने वाले और भी अनेक शिलालेख श्रवणबेलगोल में मिलते हैं। उनमें गंगराज के समय के नरेश का कोई नाम नहीं है।

उनमें अधिकांश किसी न किसी के स्मारक रूप में लिखाये गये हैं। लेख नं० ६३ (शिलालेख सं० १) में कहा गया है कि शुभचन्द्रदेव की शिष्या लक्ष्मी ने एक जिन-मन्दिर का निर्माण कराया जो अब 'एरडुकट्टेवस्ति' के नाम से विश्रुत है। लेख नं० ६४ से ज्ञात होता है कि गंगराज ने अपनी माता पोचब्बे के हेतु कत्तलेवस्ति का निर्माण कराया। लेख नं० ६५ में गंगराज के इन्द्रकुल गृह (शासनवस्ति) बनवाने का उल्लेख है। लेख नं० ७५ और ७६ में गंगराज द्वारा गोम्मटेश्वर का परकोटा बनवाये जाने का उल्लेख है। श्रवणबेलगोल में ध्वंस बस्ती के समीप एक पाषाण पर उत्कीर्ण लेख से ज्ञात होता है कि गोपनन्दि नामक आचार्य ने गंग नरेशों की सहायता से जैनधर्म का खूब प्रचार-प्रसार किया— 'गंगनृपालरन्दिन विभूतिय रूढियनेय्ये माडिदं' (वही, भाग १, नं० ४९२, पद्य नं० १६)।

कलिंग के प्रधान सामन्त भुजबलगंग परमादि वर्मदेव आचार्य मुनिचन्द्र का शिष्य था। भुजबल का पुत्र नन्नियगंग आचार्य प्रभाचन्द्र सिद्धान्तदेव का शिष्य था। ११२२ ई० के सिद्धेश्वर वसुदेव के शिलालेख से ज्ञात होता है कि इस राजा ने जैनधर्म की विविध ढंग से प्रभावना की। श्रवणबेलगोल के प्रति इन सभी के मन में श्रद्धा-भक्ति रही है। अन्तिम समय में गंगवंशीय राजा चोलों और होयसलों के उपराजों अथवा सामन्तों के रूप में विजयनगर काल तक बने रहे। इस स्थिति में भी वे जैन संस्कृति और श्रवणबेलगोल से सम्बद्ध रहे हैं।

इस प्रकार गंगवंश प्रारम्भ से अन्त तक जैनधर्म, साहित्य और संस्कृति का पोषक, परिवर्धक तथा प्रश्रयदाता रहा है। उसके नरेशों में अमरत्व प्राप्त करने की अदम्य ललक तथा अर्न्ततम साक्षात्कार प्राप्त करने की उत्कट अभिलाषा दिखायी देती है। उसका हर परिवार किसी न किसी जैनाचार्य का शिष्य रहा है। यही कारण है कि इनके शासन काल में जैनधर्म, कुलधर्म अथवा राजधर्म बनकर चमका है। निष्कर्ष रूप से यही कहा जा सकता है कि श्रवणबेलगोल के विकास में इस वंश का सर्वाधिक योगदान रहा है तथा मूर्तिकला के क्षेत्र में भी उसकी महत्तम उपलब्धि रही है।

राष्ट्रकूटकालीन श्रवणबेलगोल और बाहुबली की मान्यता

राष्ट्रकूटकाल जैन संस्कृति के विकास की दृष्टि से 'स्वर्णकाल' कहा जा सकता है। इस काल में एक ओर जहाँ एलोरा और श्रवणबेलगोल जैसे कला केन्द्र अपनी मूक कलात्मक साधना के लिये विश्रुत थे वहीं दूसरी ओर वाटनगर, मान्यखेट, कोप्पण जैसे ज्ञानकेन्द्रों में वीरसेन, अकलंक, स्वयम्भू, जिनसेन, गुणभद्र, महावीराचार्य, विद्यानन्दि, परवादिमल्ल, अनन्तकीर्ति, देवसेन, पोत्र, पुष्पदन्त आदि आचार्य सरस्वती

की उपासना में संलग्न थे। उन्होंने राज्याश्रय और जनाश्रय पाकर समाज, साहित्य और संस्कृति की चेतना में नया प्राण फूका था। दक्षिण भारत की सर्वतोमुखी समृद्धि में उनका अनुपम योगदान अविस्मरणीय है।

हम जानते हैं कि जैनधर्म की आधारशिला भगवान् आदिनाथ ने उत्तर भारत में स्थापित की, पर उसके विकास का श्रेय दक्षिण भारत को प्राप्त है। वह दक्षिण भारत के 'गोपुर' स्वरूप महाराष्ट्र से आन्ध्र, तमिलनाडु होता हुआ कर्णाटक और श्रीलंका तक पहुँचा। बारह हजार मुनियों के साथ भद्रबाहु तथा चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा दक्षिण में प्रवेश की घटना इस मान्यता को स्वीकार करने के लिये विवश करती है कि जैनधर्म दक्षिण में भद्रबाहु के पूर्व निश्चित ही एक लोकप्रिय धर्म के रूप में अवस्थित था इसलिए दक्षिण की ओर प्रयाण सम्भव हुआ। बौद्ध ग्रन्थ महावंस की परम्परा तो उसके अस्तित्व को श्रीलंका में पार्श्वनाथ के काल तक ले जाती है।

कर्णाटक प्रदेश जैन संस्कृति को समृद्ध करने में शीर्षस्थ रहा है। गंग, कदम्ब, राष्ट्रकूट, चालुक्य, होयसल आदि राजकीय वंशों ने इस क्षेत्र में कला का जो उन्नयन किया वह अपने आप में अद्वितीय है। राष्ट्रकूटवंश के तो अधिकांश नरेश जैनधर्मानुयायी और जैनधर्मानुरागी थे।

राष्ट्रकूटवंश दक्षिणापथ के प्राचीन रट्टिकों (अशोक के शिलालेखों के राष्ट्रिकों) तथा चन्द्रवंशीय क्षत्रियों से सम्बद्ध रहा है। उनकी एक शाखा लट्टलूरु (लाटूर, आन्ध्र प्रदेश के बीदर जिले का एक स्थान) में स्थापित थी। अनेक लेखों में उन्हें 'लट्टलूरपुरावराधीश्वर' कहा गया है। लट्टलूरपुर के राष्ट्रकूट ६२५ ई० के आसपास एलिनपुर (एलोरा) आ पहुँचे। इन्द्र 'प्रथम' के पुत्र दन्तिदुर्ग ने ७४२ ई० के लगभग इसी नगर को अपनी राजधानी बनाया। ७५७ ई० में उसने वातापी के चालुक्यों का अन्त कर स्वयं को सम्राट् घोषित कर दिया। इसी समय आचार्य वीरसेन हुए जिन्होंने एलोरा के समीपवर्ती वाटनगर (वाटग्रामपुर) तथा चामरलेण के गुहा मन्दिरों में रहकर अपनी साहित्य-साधना की।

इसके बाद दन्तिदुर्ग का चाचा कृष्ण 'प्रथम' अकालवर्ष शुभतुंग (७५७ ई०-७७३ ई०) सिंहासन पर आसीन हुआ। एलोरा के 'कैलास मन्दिर का निर्माता यही राजा था। आचार्य परवादिमल्ल भी लगभग इसी समय कृष्णराज द्वारा सम्मानित हुए थे। कृष्णराज के बाद गोविन्द 'द्वितीय' (७७३ ई० से ७७९ ई० तक) तथा ध्रुव (७७९ ई० से ७९३ ई० तक) राज्यासीन हुए। ध्रुव के राज्याश्रय में महाकवि स्वयम्भू ने पडमचरित, हरिवंश आदि अनेक ग्रन्थों की रचना की। पुत्रागवंशीय जिनसेन का हरिवंशपुराण (७८३ ई०) तथा वीरसेन का धवला ग्रन्थ (७८० ई०) इसी समय की रचनाएँ हैं। विद्यानन्दि, परवादिमल्ल आदि आचार्य भी इसी समय हुए हैं।

ध्रुव के बाद उसका पुत्र गोविन्द 'तृतीय' जगतुंग (७९३-८१४ ई०) राज्याभिषिक्त हुआ। इसी काल में विद्यानन्दि, अनन्तकीर्ति, अनन्तवीर्य, त्रिभुवन स्वयम्भू आदि महाकवि हुए। तदनन्तर अमोघवर्ष 'प्रथम' (८१४-८७८ ई०), कृष्ण 'द्वितीय' अकालवर्ष (८७८-९१४ ई०), इन्द्र 'तृतीय' (९१४-९२२ ई०), अमोघवर्ष 'द्वितीय' (९२२-९२५ ई०), गोविन्द 'चतुर्थ' सुवर्णवर्ष (९२५-९३६ ई०), अमोघवर्ष 'तृतीय' बदिग (९३६-९३९ ई०) तथा कृष्णराज 'तृतीय' अकालवर्ष (९३६-९६७ ई०) राजा हुए। अमोघवर्ष 'प्रथम' निश्चित रूप से जैनधर्मानुयायी था। आचार्य जिनसेन उनके धर्मगुरु थे। जिनसेन के बाद गुणभद्र, महावीराचार्य, पाल्यकीर्ति आदि जैनाचार्य भी उसके राज्याश्रय में रहे। सेनापति बंकेय भी जैनधर्म का भक्त था। इस समय जैनधर्म एक राष्ट्रधर्म की स्थिति में आ गया था। राजा अमोघवर्ष स्वयं विद्वान् और साहित्यकार था इसलिए वह विद्वानों को उन्मुक्त होकर आश्रय दिया करता था। अमोघवर्ष का पुत्र कृष्ण 'द्वितीय' भी जैनधर्मानुयायी था। महाकवि गुणवर्म तथा हरिचन्द्र सम्भवतः इसी के आश्रम में रहे हैं।

अकालवर्ष 'तृतीय' भी अत्यन्त दूरदर्शी तथा धर्मप्रेमी राजा था। उसने गंगनरेश भूतुग, मरुलदेव मारसिंह आदि गंगनरेशों के साथ कूटनीतिक तथा पारिवारिक सम्बन्ध स्थापित किये। विशेषतः मारसिंह के साथ उसकी अधिक घनिष्ठ मैत्री थी। उसने मारसिंह के सहयोग से ही चोल, पाण्ड्य, गुर्जरी और किरातों को पराजित किया, गंगवज्र व रक्कसमणि को पीछे हटाया तथा चालुक्य और परमारों की शक्ति से डूबते हुए राष्ट्रकूट साम्राज्य को ध्वस्त होने से बचाया (वही, भाग १, नं० ६०, पृ० १४३-४४)।

कृष्ण 'तृतीय' की मृत्यु के बाद उसका कनिष्ठ भ्राता खोट्टिग नित्यवर्ष (९६७-९७२ ई०) अभिषिक्त हुआ। इसके शासनकाल में भी गंगनरेश मारसिंह और उसका सेनापति चामुण्डराय राष्ट्रकूटवंश का संरक्षण कर रहे थे। जब वे दोनों अन्यत्र युद्धों में व्यस्त थे, सियक हर्ष परमार ने मान्यखेट पर आक्रमण किया और खोट्टिग को समाप्त कर दिया। खोट्टिग के बाद कर्क 'द्वितीय' (९७२ ई०) और उसके बाद राष्ट्रकूट का अन्तिम राजा इन्द्र 'चतुर्थ' (९७४ ई०) हुआ जिसका शासन कमगण्डमनहल्लि शिलालेख के अनुसार ९८२ ई० तक रहा। इन्द्र 'चतुर्थ' मारसिंह का अनुज था। मारसिंह ने ही उसका राज्याभिषेक किया था और उसी ने राष्ट्रकूट नरेश कृष्णराज 'तृतीय' के लिये गुर्जर देश को विजित किया, विपक्षी अल्ल को मदचूर्ण किया और कृष्णराज के सेना की रक्षा की। इन्द्र 'चतुर्थ' के विषय में गन्धवारण वसति के उत्तर की ओर स्थित स्तम्भ पर उत्कीर्ण शिलालेख में यह कहा गया है कि उसने श्रवणबेलगोल में ९८२ ई० में सल्लेखना ग्रहण की। यह भी उल्लेखनीय है कि कृष्ण के राज्यकाल में ही पोन्न, सोमदेव और अपभ्रंश के महाकवि पुष्पदन्त ने अपनी साहित्य-सर्जना की।

इस विवरण से यह स्पष्ट है कि गंगनरेश मारसिंह और उसके सेनापति चामुण्डराय तथा राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण तथा उसका उत्तराधिकारी खोड्डिग, कर्क और इन्द्र के सम्बन्ध बड़े मधुर थे। शिलालेख नं० ३८ के अनुसार मारसिंह एक प्रतापी जैन नरेश था। अजितसेन भट्टारक के समीप उसने ९७४ ई० में सल्लेखना विधिपूर्वक प्राण-विसर्जन किया।

ऐसे भी प्रमाण उपलब्ध हैं जिनके आधार पर कहा जा सकता है कि अन्तिम राष्ट्रकूट नरेश इन्द्र 'चतुर्थ' गोम्मटेश्वर मूर्ति की स्थापना के समय जीवित था। उसने अथवा उसके पूर्ववर्ती राजाओं ने श्रवणबेलगोल में कोई स्मारक अथवा मन्दिर का निर्माण नहीं कराया। पर चन्द्रगिरि, विन्ध्यगिरि तथा श्रवणबेलगोल नगर की परिधि में राष्ट्रकूटवंश से सम्बद्ध लगभग दस शिलालेख मिलते हैं। इसके अतिरिक्त राष्ट्रकूटों के अन्तिम राजाओं का सम्बन्ध गंगनरेश मारसिंह और उसके सेनापति चामुण्डराय से रहा है।

श्रवणबेलगोल के विकास में राष्ट्रकूट नरेशों का प्रत्यक्ष हाथ भले ही न रहा हो पर अप्रत्यक्षरूप से वे इसके साथ घनिष्ठतापूर्वक सम्बद्ध रहे हैं। उनका तीर्थ-प्रेम इससे जुड़ा हुआ है।

चालुक्य नरेश और जैनधर्म

दक्षिणापथ की मध्यकालीन राजशक्तियों में चालुक्य राजशक्ति का प्रमुख स्थान है। पाण्ड्य, चेर, चोल, पल्लव, कदम्ब, गंग, राष्ट्रकूट आदि साम्राज्यों के होते हुए भी वह कुछ समय के लिये एक सर्वाधिक शक्तिशाली राजवंश के रूप में स्थापित हुआ। ईस्वी की प्रारम्भिक शताब्दियों में जिस राजनीतिक और सांस्कृतिक एकता का रूप सामने आया था वह तीसरी-चौथी शताब्दी में ध्वस्त होने लगा। विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति बढ़ने लगी और अनेक राजवंशों की स्थापना हो गयी। इन राजवंशों में चालुक्य शक्ति प्रबलतम रही है।

इस राज्य के शासन काल में सांस्कृतिक एवं कलात्मक विकास की आधारशिला रखी गयी तथा हर धर्म को पल्लवित, पुष्पित और फलित होने का अवसर प्रदान किया गया। चालुक्य-वंश शत-प्रतिशत जैनधर्म का पालक तो नहीं रहा पर उसने मुक्त हस्त से जैन मन्दिरों और गुफा-गृहों का निर्माण अवश्य किया तथा उनके संचालन के लिये दान दिया। आधुनिक महाराष्ट्र, मैसूर, आन्ध्र तथा गुजरात के जिन प्रदेश-भागों पर उनका आधिपत्य था, सर्वत्र जैन संस्कृति अपनी वास्तुशिल्प के साथ आज भी लोकप्रिय बनी हुई है। चालुक्यवंशीय नरेश साधारणतः शिव अथवा विष्णु के उपासक थे पर उन्होंने जैन-बौद्धधर्म के साथ भी पूरी उदारता का परिचय दिया और उनको समृद्ध होने/करने में भरपूर सहयोग दिया।

अनुश्रुति के अनुसार चालुक्य सोमवंशीय क्षत्रिय मानव्यगोत्रीय और हारीति के पुत्र थे। इस वंश का प्रथम ज्ञात राजा जयसिंह बड़ा पराक्रमी योद्धा था। उसने महाराष्ट्र के राष्ट्रिकों से कुछ प्रदेश हस्तगत कर वातापी (बीजापुर के अन्तर्गत आधुनिक वादामी) को अपनी राजधानी बनाया। उसकी वीरता से प्रभावित होकर दुर्विनीत गंग ने उसके साथ अपनी पुत्री का विवाह कर दिया। पल्लव नरेश चण्डदण्ड से युद्ध करते समय वह मारा गया। दुर्विनीत ने इसका बदला चण्डदण्ड को मारकर और जयसिंह के पुत्र रणराग को सिंहासन पर बैठाकर लिया। ऐहोल और अलक्तक इस राज्य के प्रधान नगर थे। इसी के शासनकाल में दुर्गशक्ति ने पुलिगेरे के शंखजिनालय को दान दिया था।

रणराग का ही पुत्र सत्याश्रय पुलकेशिन् 'प्रथम' (५३५-५६६ ई०) हुआ जो चालुक्य वंश का सही राज्य-संस्थापक माना जाता है। वातापी, अलक्तकनगर और ऐहोल इसी के शासनकाल में जैन केन्द्र बन चुके थे। अलक्तक नगर (अल्तेम) में एक अभिलेख प्राप्त हुआ है जिसमें कुहुण्डि विषय से पुलकेशीय सामन्त सामियार ने अलक्तक नगर में एक जिनालय शक सम्वत् ४११ में बनवाया तथा सम्राट् सत्याश्रय की आज्ञा से कुछ गांवों का दान दिया था। इसी शिलालेख में कलकोयल शाखा के जैनाचार्य सिंहनन्दि चित्रकाचार्य, नागदेव और जिननन्दि का उल्लेख है। पुलकेशी 'प्रथम' के उत्तराधिकारी कीर्तिवर्मा (५६६-५९७ ई०) ने भी जिनालय को भूमि दान दिया था। ऐहोल शिलालेख में उसे नलों, मौर्यों और कदम्बों के लिये 'विनाश की निशा' कहा गया है। गंगों और अल्लूबों को भी उसने पराजित किया था। इसी के शासनकाल में आचार्य रविकीर्ति ने ५८५ ई० में ऐहोल के समीप मेगुती में एक जिन-मन्दिर तथा विद्यापीठ की स्थापना की थी। यह राजा जिनभक्त था।

इसके बाद कीर्तिवर्मन के भाई मंगलेश (५९७-६०८ ई०) ने राज्य किया। वह विष्णुभक्त था। वातापी में विष्णु का भव्य गुहा मन्दिर इसी ने बनवाया था। रेवल द्वीप और कल्चुरियों पर उसने विजय प्राप्त कर 'रणविक्रान्त' विरुद्ध धारण किया था। इसके शासनकाल का कोई भी जैन अभिलेख अभी तक प्राप्त नहीं हुआ।

मंगलेश को मारकर पुलकेशिन् 'द्वितीय' (६०८-६४२ ई०) ने राज्य पर अधिकार किया। यह बड़ा पराक्रमी और नीति-निपुण राजा था। उसने प्रथमतः अपने राज्य की स्थिति सुदृढ़ की और फिर सैन्य सफलताओं की ओर ध्यान दिया। गंगों, अल्लूबों, कदम्बों, मौर्यों, लाटों, मालवों और गुर्जरो को पराजित किया। इसके शासनकाल के दो जैन अभिलेख मिलते हैं। प्रथम अभिलेख ऐहोल प्रशास्ति है जिसके लेखक जैन आचार्य रविकीर्ति पुलकेशिन् 'द्वितीय' के धर्मगुरु थे। मेगुटि जैन मन्दिर में उत्कीर्ण यह काव्यनिष्ठ प्रशास्ति रविकीर्ति को कालिदास और भारवि के समकक्ष बैठ देती है। उसमें उन्होंने पुलकेशिन् 'द्वितीय' के सारे कार्यकलापों का सुन्दर साहित्यिक वर्णन किया है। सम्राट् हर्षवर्धन दक्षिण की ओर इसी प्रचण्ड नरेश की शक्ति के कारण

नहीं बढ़ पाया। पिष्टपुर (आन्ध्र) को जीतकर उसने अपने अनुज कुब्जविष्णुवर्धन को ६१५ ई० में उसका शासक नियुक्त किया। इसी से वेंगी की पूर्वी चालुक्य शाखा का प्रारम्भ हुआ। पुलकेशिन् 'द्वितीय' ने पल्लव नरेश महेन्द्रवर्मन् को जीतकर कांची (कांजीवरम्) पर अधिकार किया तथा कावेरी को पार कर चोलों, चेरों और पाण्ड्यो को अपनी मित्र बनाया।

द्वितीय अभिलेख लक्ष्मेश्वर (धारवाड़) में प्राप्त हुआ है। इसमें चालुक्य सामन्त सन्दक राजा दुर्गशक्ति द्वारा पुलिगेरे नगर में शंख जिनेन्द्र चैत्यालय की पूजा व्यवस्था के लिये क्षेत्र दान दिये जाने का उल्लेख है। इस अभिलेख की सत्यता पर कुछ विद्वानों ने प्रश्न चिह्न खड़ा किया है।

पुलकेशिन् 'द्वितीय' के गुरु रविकीर्ति (रविभद्र) के शिष्य भट्ट अकलंक भी कदाचित कुछ समय इसी के आश्रय में रहे। वादामी और अजन्ता के प्रसिद्ध गुहा-मन्दिरों का निर्माण इसी समय हुआ। चीनीयात्री ह्वेनसांग के विवरण से पता चलता है कि इसके शासनकाल में जैनधर्म बौद्धधर्म की अपेक्षाकृत अच्छी स्थिति में था।

६४१-६४२ ई० में पल्लवनरेश नरसिंहवर्मन् ने चालुक्यों पर भीषण आक्रमण कर दिया। फलतः पुलकेशिन् 'द्वितीय' युद्ध में मारा गया और वातापी को पल्लव नरेश ध्वस्त कर दिया। बाद में पुलकेशिन् 'द्वितीय' के पुत्र साहसतुंग विक्रमादित्य 'प्रथम' (६५५-६८० ई०) ने एक लम्बे संघर्ष के बाद गंगों की मदद से नरसिंहवर्मन् को हराकर अपना राज्य वापिस लिया। इस उपलक्ष्य में उसने 'रणरसिक' विरुद् धारण किया। काञ्ची पर भी उसने अधिकार किया। पाण्ड्यों के सहयोग से भी उसने अनेक युद्ध जीते। प्रसिद्ध जैन आचार्य भट्ट अकलंक इस राजा के गुरु थे जिन्होंने ऐहोल विद्यापीठ तथा कन्हेरी के बौद्ध विहार में क्रमशः जैन-बौद्ध दर्शन का अध्ययन किया। रविकीर्ति के बाद वे ऐहोल विद्यापीठ के अध्यक्ष भी रहे। इस राजा के शासन काल का एक जैन अभिलेख मिलता है जिसमें राजा द्वारा कुरुतकुण्टे ग्राम दान दिये जाने का उल्लेख है। दान ग्रहण करने वाला रवि शर्मा वसरि संघ का था। सम्भव है, इस वसरि संघ का कोई सम्बन्ध जैन संघ-सम्प्रदाय से रहा हो। इस अभिलेख को कुछ विद्वान् सही नहीं मानते।

विक्रमादित्य 'प्रथम' के बाद उसका पुत्र विनयादित्य (६८०-६९६ ई०) शासक हुआ। उसने नरसिंह वर्मन् 'द्वितीय', कन्नौज के यशोवर्मन्, काबेर, पारसीक, सिंहल नरेश, गंग आदि भूपतियों को युवराज विजयादित्य (६९७-७३३ ई०) के सहयोग से पराजित किया। विक्रमादित्य के राजगुरु निरवद्य पण्डित तथा विजयादित्य के राजगुरु उदयदेव पण्डित थे। इन राजाओं ने अनेक जैन मन्दिरों का निर्माण कराया तथा आचार्यों को दानपत्र भेंट किये। पुष्पसेन, विमलचन्द, कुमारनन्दि, अनन्तवीर्य आदि जैनाचार्य

इसी काल में हुए। विजयादित्य ने ६०८ शक सं० में मूलसंघ परम्परा की देवगण शाखा के किसी जैन आचार्य को दान दिया। इसका उल्लेख लक्ष्मेश्वर से प्राप्त अभिलेख में मिलता है। फ्लीट ने इस अभिलेख को भी जाली माना है, पर इसे अन्य विद्वान् स्वीकार नहीं करते। विजयादित्य के ही शासनकाल में शिवगांव (धारवाड़) से उपलब्ध ताम्रपत्र में यह उल्लेख मिलता है कि शक सं० ६३० में अलूप (अलूक) सामन्त चित्रवाहन के अनुरोध पर विजयादित्य ने जैन विहार को दान दिया था। इस विहार का निर्माण विजयादित्य की बहिन कुंकुम देवी द्वारा पुलिगोरे नगर में किया गया था। एक अन्य जैन शिलालेख (शक संवत् ६४५) खण्डित अवस्था में मिला है। शक संवत् ६१५ का एक दूसरा अभिलेख है जिसमें विजयादित्य द्वारा पुलिकर नगर के दक्षिण में स्थित कर्दम नामक ग्राम उदयदेव पण्डित जो विजयादित्य का पुरोहित था दान देने का उल्लेख करता है। अतएव यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि विजयादित्य तथा विनयादित्य, दोनों जिनभक्त नरेश थे।

विजयादित्य के बाद विक्रमादित्य 'द्वितीय' (७३३-७४४ ई०) राजा हुआ जिसने पल्लवनरेश नन्दिवर्मन् को पराजित किया, परन्तु काञ्ची को नष्ट नहीं किया। उसने कलभ्र, चोल, पाण्ड्य और केरल शक्तियों को भी त्रस्त किया तथा अरबों के आक्रमणों को विफल किया।

इस राजा से सम्बन्धित एक अभिलेख लक्ष्मेश्वर से मिला है जिससे पता चलता है कि उसने पुलिकर नगर में शंखतीर्थ वसति नामक मन्दिर को सुशोभित कर धवल जिनालय का जीर्णोद्धार किया और तदर्थ नगर की उत्तरवर्ती भूमि का दान दिया। यह दान विजयदेव पण्डित को दिया गया जो मूलसंघ-परम्परा की देवगण शाखा से सम्बद्ध जयदेव पण्डित के शिष्य रामदेवाचार्य के शिष्य थे। एक व्यापारी के अनुरोध पर यह दान जिनपूजा के विकासार्थ दिया गया था।

इसके बाद कीर्तिवर्मन् 'द्वितीय' (७४४-७५७ ई०) राजा हुआ। यह इस वंश का कदाचित् अन्तिम राजा था। यह राजा भी जैनधर्म का परम भक्त था। आडूर से प्राप्त तिथि विहीन प्रथम अभिलेख में धर्मगामुण्ड द्वारा निर्मित जिनालय एवं भिक्षुगृह को दिये गये २५ निवर्तन भूमिदान का उल्लेख है और द्वितीय अभिलेख में कीर्तिवर्मन् के सामन्त माधवपति अरस द्वारा जिनेन्द्र मन्दिर के पूजार्थ तथा अन्य धार्मिक क्रियाओं के लिये पडलूर के चेडिग (चैत्य) को भूमि दान देने का विवरण है। दोनों अभिलेखों में आचार्य प्रभाचन्द्र का नाम आया है। अण्णगेरि (धारवाड़) से प्राप्त जेबुकगेरि के प्रमुख कलियम्म द्वारा निर्मित चेडिय (चैत्य) का उल्लेख है। डॉ० लक्ष्मीनारायण राव के अनुसार कलियम्म कीर्तिवर्मन् 'द्वितीय' के आधीन कोई जैन अधिकारी था।

राष्ट्रकूट राजा दन्तिदुर्ग ने कीर्तिवर्मन् 'द्वितीय' को पराजित कर वातापी के पश्चिमी

चालुक्य वंश का अन्त कर दिया। कुछ समय तक चालुक्य वंश के राजा राष्ट्रकूटों के अधीन सामन्तों के रूप में रहे। विक्रमादित्य 'चतुर्थ' के पुत्र तैलप 'द्वितीय' ने दसवीं शती के उत्तरार्द्ध में राष्ट्रकूटों का अन्त कर चालुक्य शक्ति का पुनरुद्धार किया और कल्याणी के उत्तरवर्ती चालुक्यवंश की स्थापना की। इस वंश ने भी जैनधर्म के प्रति हृद्धारता और अनुकूलता दिखायी। सोदती के अंकेश्वर मन्दिर से प्राप्त एक शिलालेख में यह उल्लेख है तैलप 'द्वितीय' के महासामन्त शान्तिवर्मा ने इस नगरी में एक जिनालय का निर्माण कराकर उसके प्रबन्ध के लिये भूमिदान दिया था। उसकी माता ने भी उस जिनालय के विकासार्थ भट्टारक भुजबलि (यापनीय संघ की कण्डूरगणी शाखा से सम्बद्ध) को दान दिया था।

श्रवणबेलगोल से प्राप्त एक अभिलेख नं० ३८ (५९) में गंगनरेश मारसिंह द्वारा (शक सं० ८९६, सन् ९७४) किसी चालुक्यनरेश राजादित्य को पराजित किये जाने का उल्लेख मिलता है। यह राजा वेंगि के पूर्वी चालुक्य वंश से सम्बद्ध रहा होना चाहिए। इस वंश में लगभग कई राजा हुए जिन्होंने लम्बे समय तक राज्य किया। इनके काल में जैनधर्म काफी फूला-फला। इन नरेशों में से यद्यपि कई नरेश शिवभक्त थे, पर उन्होंने जैनों को भी सहिष्णुतापूर्वक दान दिया। विष्णुवर्धन 'चतुर्थ' (७६४-७९९ ई०), अम्म 'द्वितीय' (९४५-९७० ई०) और विमलादित्य (१०३२ ई०) विशेष उल्लेखनीय हैं जिन्होंने क्रमशः श्रीनन्दी, अर्हनन्दी तथा त्रिकालयोगी सिद्धान्तदेव को आश्रय दिया। इसी समय के दुर्गमंच गुफा में प्राप्त लेख के अनुसार रामतीर्थ (रामकोंड) नामक पहाड़ियों पर विजगापट्टम के पास एक प्रसिद्ध जैन संस्कृति केन्द्र था जिसके आचार्य श्रीनन्दि थे। अम्म के सेनापति कटकाधिराज दुर्गराज ने धरमपुरी ग्राम के दक्षिण में एक जैन मन्दिर का निर्माण कराया और अम्म ने मलयपुण्डी नामक गांव तदर्थ दान में दिया। भीम और नरवाहन 'द्वितीय' ने भी जैन मन्दिरों का निर्माण कराया।

श्रवणबेलगोल के चन्द्रगिरि पर्वत पर स्थित इरुवेब्रह्मदेव मन्दिर के सामने की चट्टान पर लेख नं० २३७ (१५२) उत्कीर्ण है जिसमें किसी चगभक्षण चक्रवर्ती उपाधिधारी गोगिग नामक एक सामन्त का उल्लेख है। यह कोई चालुक्य सामन्त होना चाहिए जिसका उल्लेख मैसूर अभिलेख में प्राप्त होता है।

श्रवणबेलगोल के ही एक अन्य शिलालेख नं० ४५ (१२५) तथा ५९ (७३) में यह उल्लेख मिलता है कि होयसल नरेश विष्णुवर्धन के सेनापति (गंगराज ने चालुक्य सम्राट् त्रिभुवनमल्ल पेर्माडिदेव को पराजित किया। यहीं जिननाथपुरवर्ती अरेगल वस्ति के पूर्व में उत्कीर्ण एक शिलालेख नं० १४४ (लगभग शक सं० १०५७) में त्रिभुवनमल्ल को 'चालुक्याभरण' कहा गया है और उसका आधिपत्य होयसल राज्य के ऊपर बताया गया है (जैनशिलालेखसंग्रह, भाग १, पृ० २९४)।

तैलप 'द्वितीय' की ही वंश-परम्परा में राजा जयसिंह 'प्रथम' हुए, जिन्होंने १०१५ से १०४० ई० तक राज्य किया। यह राजा भी जैनधर्म का भक्त था। आचार्य वादिराज, दयापाल और पुष्पघेण सिद्धान्तदेव इसी के शासनकाल में हुए। श्रवणबेलगोल की पार्श्वनाथवसति के एक स्तम्भ पर उत्कीर्ण शिलालेख (नं० ५४ (६७) में वादिराज की छह पद्यों (३९-४५) में प्रशंसा की गयी है जिससे पता चलता है कि चालुक्य चक्रवर्ती के जयकटक में उन्होंने जयलाभ किया था। जयसिंह ने ही उन्हें 'जगदेकमल्ल' उपाधि प्रदान की थी। वादिराज ने भी अपने यशोधरचरित आदि ग्रन्थों में जयसिंह का उल्लेख किया है। 'मथलकामोद' जयसिंह 'प्रथम' की उपाधि थी। श्रवणबेलगोल के शिलालेख नं० ५५ (६९) में मलधारि मुनीन्द्र गुणचन्द्र (पद्य २०) के लिये 'बलिपुर मल्लिकामोद शान्तीशचरणार्चकः' कहा गया है। इससे यह कहा जा सकता है कि बलिपुर में शान्तिनाथ की प्रतिष्ठा जयसिंह नरेश (मल्लिकामोद उपाधिधारी) ने ही करायी थी। इसी शिलालेख में यह भी कहा गया है कि वासवचन्द्र ने अपने वाद के पराक्रम से चालुक्य राजधानी में 'बाल सरस्वती' की उपाधि प्राप्त की थी। यही शिलालेख चालुक्य नरेश आहवमल्ल सोमेश्वर 'प्रथम' (१०४३-१०६८ ई०) द्वारा एक जैनाचार्य को 'शब्दचतुर्मुख' की उपाधि दिये जाने का भी उल्लेख करता है। सोमेश्वर 'प्रथम' ने जैनधर्म के स्थायित्व के लिये अनेक महत्वपूर्ण कार्य किये। त्रिभुवनतिलक जिनालय जैसे अनेक जैन-मन्दिरों का निर्माण उसने ही कराया। उसके पुत्र सोमेश्वर 'द्वितीय' ने भी शान्तिनाथ मन्दिर आदि जैसे अनेक जैन मन्दिर बनवाये। सोमेश्वर 'द्वितीय' का भाई विक्रमादित्य 'षष्ठ' था जिसका उल्लेख श्रवणबेलगोल के शिलालेख नं० १४४ में आया है। इस राजा ने चालुक्य गंगपेमनिडि चैत्यालय बनवाया और अपने दण्डनाथ के अनुरोध पर उस मन्दिर के प्रबन्ध आदि के लिये एक गाँव दान में दिया था। दान ग्रहण करने वाले मुनि रामसेन मूलसंघ, सेनगण और पोगरि गच्छ के महासेन व्रती के शिष्य थे। विक्रमादित्य 'षष्ठ' ने श्रवणबेलगोल के आसपास भी कई जैन मन्दिरों का पुनर्निर्माण कराया था जिन्हें राजाधिराज चोल ने भस्मसात् कर दिया था। श्रवणबेलगोल की कत्तले बसदि से प्राप्त लेख नं० ५५ में मुनि वासवचन्द्र को 'बाल सरस्वती की' उपाधि से विभूषित करने वाला सम्भवतः यही राजा था।

चालुक्य नरेशों के अधिकांश शिलालेख धारवाड़ जिले में प्राप्त हुए हैं। इससे यह स्पष्ट है कि धारवाड़ और उसके आसपास के क्षेत्र पर जैनधर्म का काफी प्रभाव था। लक्ष्मेश्वर भी जैनधर्म के प्रचार-प्रसार का एक प्रमुख केन्द्र था। ऐहोल प्रशास्ति, आडूर अभिलेख, अष्टागेरि अभिलेख, श्रवणबेलगोल अभिलेख तथा शिगगांव में उपलब्ध ताग्रपत्र आदि इस तथ्य को उद्घाटित करने के लिये पर्याप्त हैं कि चालुक्य शासकों ने जैनधर्म को लोकप्रिय बनाने का पूरा अवसर प्रदान किया था। जैन धर्मावलम्बी न होने पर भी इन राजाओं ने धर्मनिरपेक्षता के आधार पर जैनधर्म को अपना संरक्षण दिया था।

जैन कला निकेतनों में चालुक्य शैली ने अपना प्रभाव भी स्पष्ट रूप से छोड़ा है। श्रवणबेलगोल की कम्बदहल्लि की पंचकूट बसदि में महामण्डप के सामने चालुक्य शैली के सेलखसड़ी के गोलस्तम्भ का खुला हुआ अग्रमण्डप जोड़ा गया है। इसमें नवरंग शैली की स्तम्भ योजना पर चालुक्य शैली का स्पष्ट प्रभाव है। चामुण्डरायवसति के स्तम्भ भी परवर्ती चालुक्य शैली से प्रभावित माने जा सकते हैं। यहाँ यह स्पष्ट है कि चालुक्यों ने स्थापत्य शैली के क्षेत्र में एक नयी शैली को जन्म दिया है।

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि चालुक्य नरेशों ने जैनधर्म के प्रचार-प्रसार में मुक्तभाव से योगदान दिया है। श्रवणबेलगोल का जहाँ एक सन्दर्भ है, उन्होंने उसके विकास में प्रत्यक्ष रूप से भले ही कुछ न किया हो, पर अप्रत्यक्ष रूप से उनका सहयोग अवश्य रहा है। यहां के शिलालेखों में उनका विविध उल्लेख यही तथ्य उद्घाटित करता है।



भारतीय भाषाओं का प्रथम व्यंग्य-उपन्यास :

आचार्य हरिभद्रसूरि का 'धूर्ताख्यान'

डॉ० श्यामसुन्दर घोष

सन् १९७० ई० में ही मेरे मन में यह बात आयी थी कि मैं यह जान सकूँ, और हिन्दी व्यंग्य-प्रेमियों को यह बता सकूँ, कि हिन्दी का प्रथम व्यंग्य-उपन्यास कौन-सा और किसका लिखा है? तभी मैंने इस विषय की एक प्रश्नावली तैयार की और उसे अनेक व्यंग्यकारों और मित्र-पाठकों को इस अपेक्षा के साथ भेजा कि वे इस सम्बन्ध में छानबीन करेंगे और अपने निष्कर्षों से साहित्य-जगत् को परिचित करायेंगे।

सन् १९७२ ई० में 'प्रतिमान' पत्रिका का व्यंग्य-उपन्यास-अंक प्रकाशित हुआ था, जिसके अन्त में हिन्दी का प्रथम व्यंग्य-उपन्यास विषयक प्रश्नावली और विभिन्न लेखकों द्वारा दिये गये उत्तर प्रकाशित किये गये थे। तब अलग-अलग लेखकों ने, हिन्दी के प्रथम व्यंग्य-उपन्यास के रूप में, अलग-अलग नाम गिनाये थे। छापने को तो मैंने वह प्रश्नोत्तरी छाप ही दी थी, पर मेरी शंकाओं का समाधान नहीं हुआ था।

उसके बाद भी इस विषय पर खोज-रत रहकर अन्त में मैंने सन् १९७३ ई० में काशी की नागरीप्रचारिणी-पत्रिका में प्रकाशित महामहोपाध्याय पण्डित रामावतार शर्माकृत 'मुद्गरानन्द-चरितावली' को हिन्दी का पहला व्यंग्य-उपन्यास माना और इस सम्बन्ध में एक खोजपरक लेख लिखा, जो पीछे 'हिन्दी का प्रथम व्यंग्य-उपन्यास 'मुद्गरानन्द-चरितावली' की भूमिका बना। मैंने हिन्दी-पाठकों के लिये 'मुद्गरानन्द-चरितावली' का सम्पादित पाठ पुनः प्रकाशनार्थ तैयार किया।

तभी मेरे मन में यह प्रश्न उठा कि भारतीय भाषाओं का प्रथम व्यंग्य-उपन्यास कौन-सा, किसका लिखा या कहाँ है, इसे जाना जाय। इसका जबाब मुझे सन् १९८० ई० में बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना की शोध-त्रैमासिकी 'परिषद्-पत्रिका' के अक्टूबर १९८० ई० के अंक (पूर्णाङ्क ७९) में प्रकाशित प्राकृत-कथाकोविद रचनाकार आचार्य हरिभद्रसूरि के प्रसिद्ध व्यंग्याख्यान 'धूर्ताख्यान' ('धुतकखाण') में मिल गया, जिसे अनूदित कर पत्रिका के सम्पादक आचार्य श्रीरंजन सूरिदेव ने प्रकाशित किया था।

*. ऋतंवरा, गोड्डा (झारखण्ड), पिन : ८१४१३३.

व्यंग्य के सम्बन्ध में हमारी धारणा मोटे तौर पर यह रही है कि व्यंग्य-सृजन आधुनिक युग की चीज है। प्राचीन वाङ्मय में व्यंग्य-लेखन इस रूप में नहीं हुआ, न हो सकता था, क्योंकि तब की मानसिकता बहुत कुछ **क्लासकीय** थी। व्यंग्य लिखने के लिये जो उत्फुल्ल-उन्मुक्त हल्की-फुल्की विनोदी-व्यावहारिक मानसिकता होती है, हमारे आचार्य रचनाकारों को शायद बहुत नहीं सुहाती रही होगी। प्राचीन वाङ्मय का जो सृजनात्मक कृतित्व है भी, उस पर शास्त्रीयता का कुछ ऐसा दबाव है कि वह अधिक ही गरिष्ठ होकर रह गया है। इसलिए मेरा ख्याल था कि आज की दृष्टि से जिसे हम व्यंग्य-उपन्यास कहते हैं, वह शास्त्रीय भाषाओं में शायद ही मिल सके। हाँ, लोकभाषाओं में इसके होने की सम्भावना हो सकती है। हास्य और व्यंग्य लोकजीवन में ही तो जीते हैं। पर हमारा प्राचीन लोकभाषा-साहित्य हमारे लिये बन्द खजाने की तरह रहा है।

ऐसे में आचार्य हरिभद्रसूरि की रचना 'धूर्ताख्यान' ने मुझे बहुत पुलकित किया। यह सही अर्थों में एक व्यंग्य-उपन्यास है। आज की दृष्टि से भी, और अपने ऐतिहासिक सन्दर्भ में, ऐतिहासिक और तात्त्विक दृष्टि से भी। आचार्य हरिभद्र का काल ईसा की आठवीं-नवीं शती है। यह भारतीय भाषाओं में पर्याप्त प्राचीन है। तब के किसी लेखक द्वारा रचित किसी कृति का आज के साहित्यिक मापदण्डों पर खरा उतरना कुछ मामूली बात नहीं है। यही आचार्य हरिभद्रसूरि की विशेषता प्रकट करने के लिये पर्याप्त है।

'धूर्ताख्यान' बहुत सीमित फलकवाली एक छोटी रचना है। यह कुल पाँच छोटे आख्यानों में विभक्त है। ये अलग-अलग आख्यान भी अपने-आप में पूर्वाद्ध और उत्तराद्ध के दो-दो हिस्सों में बँटे थे। इस प्रकार लेखक ने इसे बहुत समझदारी से छोटे-छोटे टुकड़े में विभाजित किया है। 'टाइम' और 'स्पेस' की ऐसी चेतना तो आज के लेखकों में भी मुश्किल से मिलती है। यह कृति कहने और सुनने की शैली में कथित या लिखित है। चार धूर्तराज और एक धूर्त नेत्री उज्जयिनी के एक उद्यान में इकट्ठे हुए हैं। घनघोर बारिस हो रही है। पूरा शहर और वातावरण वर्षा से अस्त-व्यस्त-त्रस्त है। ऐसे में धूर्तराजों का धन्धा तो चलने से रहा। इनके साथ इनके पाँच-पाँच सौ अनुचर भी हैं। ये सभी ठण्ड से ठिठुरे और सिकुड़े हैं। भूख इन्हें परेशान किये हुए है। ऐसे में भरपेट भोजन कैसे मिले, यह समस्या है। कौन कराये इतने लोगों को भोजन? और कहाँ से और कैसे? यही समस्या है।

ये पाँचों धूर्त इस समस्या का समाधान इस रूप में ढूँढ़ते हैं कि सभी धूर्त अपने-अपने जीवन की अनुभव-कथा सुनायें। जो धूर्त सुनायी गयी कथा को सत्य नहीं मानेगा, उसे पूरी धूर्त-मण्डली को भोजन कराना होगा। सत्य नहीं मानने के लिये यह आवश्यक माना गया कि श्रोता धूर्तों में से कोई एक, सुनायी गयी जीवन-कथा की सम्पुष्टि पुराणों, रामायण, महाभारत या अन्य आर्ष ग्रन्थों के उद्धरणों और प्रसंगों से कराये। साथ ही यह भी माना गया कि जो धूर्त अपनी सुनायी गयी कथा की सम्पुष्टि खुद ही प्रामाणिक

उद्धरणों और प्रसंगों से सिद्ध कर देगा, वह धूर्तों का राजा मान लिया जायेगा और शेष धूर्त-मण्डली उसकी दासता स्वीकारने और उसकी आज्ञा मानने को विवश होंगे।

अब ऐसे वातावरण और ऐसी विकट परिस्थिति में तो कथा को लम्बा नहीं खींचा जा सकता था। इसलिए विलक्षण कथाकोविद आचार्य हरिभद्रसूरि ने यहाँ लघुकथन-शैली अपनायी है। उसने चार धूर्तों के साथ एक धूर्त नेत्री को ला जोड़ा है। वह भी बहुत साभिप्राय है। हरिभद्रसूरि यह दिखाना चाहते हैं कि उस काल में भी जीवन का कोई ऐसा क्षेत्र नहीं था, जहाँ स्त्रियों का प्रवेश नहीं था। उच्च से उच्च और गर्हित से गर्हित गतिविधियों में भी उनकी उचित भागीदारी थी। केवल यही नहीं, ऐसे क्षेत्रों में उनका दबदबा भी रहता था। तब का रचनाकार इस दृष्टि से सोच सका और अपने रचनात्मक प्रतिफलन का नमूना सामने रख सका, यह देखकर प्रीतिकर आश्चर्य होता है। इस धूर्तगोष्ठी में भी अन्ततः धूर्त नेत्री खण्डपाना ही बाजी मारती है और फिर उदार भाव से, पराजित न होने पर भी, युक्तिपूर्वक उद्योग करके भूख से कुलबुलाती हुई, ठण्ड से काँपती-सिहरती धूर्तमण्डली को भरपेट स्वादिष्ट भोजन कराती है। इस प्रकार, स्त्री अपने अन्नपूर्णा-रूप को सिद्ध और प्रतिष्ठित करती है। चार पुरुषों पर भारी पड़ती एक स्त्री को इस रूप में दिखाकर हरिभद्रसूरि ने एक विलुप्त ऐतिहासिक कड़ी को प्रत्यक्ष किया है। यहाँ यदि हम याद रखें कि चार धूर्तों के पाँच-पाँच अनुचरों को भी वह अपने प्रभाव-वृत्त में ले आती है तो हमें हरिभद्रसूरि के सामाजिक चिन्तन को सराहना ही होगी।

कृति में कौतूहल और तनाव आद्यन्त बना रहता है। 'मैदान' में पाँच-पाँच दिग्गज महारथी डटे हैं। उनको घेरे उनके पाँच-पाँच सौ उत्सुक और अधीर दर्शक श्रोता हैं। सबके मन में अपार कौतूहल और तनाव है कि कौन जीतता है, उन्हें कब, कैसे भोजन मिलता है? समझिए साँड़ों के दंगल का दृश्य है। पर फर्क यह है कि साँड़ों के दंगल के दृश्य में दर्शक कोलाहल करते, हल्ला मचाते, उछलते-कूदते नजर आते हैं, जबकि यहाँ सभी अनुचर दम साधे परिणाम की आशा में उदग्र हैं। तनाव उनके चेहरे पर साफ देखा जा सकता है। इस रूप में कृति सघन चाक्षुष प्रतीति देने में भी सर्वभावेन समर्थ है।

यहाँ लेखक ने पाठकों की कल्पना को अबाध विचरण करने का अवसर भी दिया है। हम उस उद्यान और सभा-मण्डप की कल्पना कर सकते हैं, जहाँ घनघोर वर्षा में इतने-इतने लोग समाये हुए हैं। लगता है, तब के सामाजिक जीवन में विशाल उद्यानों की बहुत उपयोगिता और आवश्यकता रही होगी। विशालकाय उद्यानों में विशालकाय मण्डप, सभामंच, विचारमण्डप या क्रीड़ा मंच रहते होंगे। ये आज के 'इनडोर स्टेडियम' के तर्ज पर होते रहे होंगे। लेखक ने कहीं इसका वर्णन तो नहीं किया है, पर यह सब पाठक की कल्पना में आ जाता है। क्या कमाल की कला है कि कठपुतलियों का विराट खेल है, पर कहीं कठपुतली नचाते तार नजर नहीं आते। इस रूप में हरिभद्रसूरि ने अद्भुत निपुणता का परिचय दिया है।

कृति में वर्णित पाँच धूर्तों के ज्ञान, अनुभव और वैदुष्य से स्पष्ट होता है कि तत्कालीन समाज में ठगी धूर्तविद्या और धूर्तकला के रूप में प्रतिष्ठित रही होगी। जिस समाज के धूर्त इतने ज्ञानवान्, तार्किक और विदग्ध रहे होंगे, उस समाज का शेष भाग पढ़ा-लिखा अभिजात वर्ग कैसा रहा होगा, इसका अनुमान होता है। सफल कृति वही मानी जाती है, जिसके परायण से पूरे समाज की एक झलक मिल जाय या पाठकों को उसका अनुभव हो जाय। 'धूर्ताख्यान' घड़ा में पकते हुए चावलों में से निकाले गये उस दाने के समान है, जिससे समाज की सही स्थिति का बोध और अनुमान होता है।

साहित्य और पारिस्थितिकी दोनों ही एक-दूसरे को अपने-अपने ढंग से अनुकूलित करते हैं, वे एक दूसरे के उपजीव्य भी हैं। अब साहित्य की पारिस्थितिकी और पारिस्थितिकी-जन्य साहित्य के स्वरूप और सम्बन्ध-निरूपण पर विचार आवश्यक माना जाने लगा है। जैसे विलुप्त जीव-जन्तु और प्रजाति के जीवाश्म मिलने पर उसके आधार पर प्रजातियों की पुनः कल्पना और पुनः रचना सम्भव है, वैसे ही विलुप्त समाज-व्यवस्था, रहन-सहन और जीवन-मानों के उपलब्ध साहित्य के दस्तावेज और कृतित्व से इन सबकी कल्पना और पुनः प्रतीति सम्भव है। अब नाटकों और फिल्मों में ऐसे प्रयोग हुए हैं। इस दृष्टि से भी हरिभद्रसूरि के 'धूर्ताख्यान' को देखा जा सकता है और सामाजिक जीवन के अनेक विलुप्त सूत्र तलाशे जा सकते हैं। आज की विविध अध्ययन-प्रणाली के लिये इसकी निश्चित उपयोगिता और उपजीव्यता है।

आचार्य हरिभद्रसूरि श्वेताम्बर श्रमण-परम्परा के विद्याधर कुल से सम्बद्ध थे। तब की स्थिति में आचार्यों का खण्डन-मण्डन चलता रहता था, जैसे आज की राजनीति में पक्ष और विपक्ष अक्सर ही, अकारण या सकारण, उलझते रहते हैं, वैसे ही उस समय विद्वानों द्वारा खण्डन-मण्डन होते रहते थे। श्रमण-परम्परावाले ब्राह्मण-परम्परा की अनर्गल और अतार्किक बातों का खण्डन करते थे और ब्राह्मण-परम्परावाले भी उसका जवाब देते थे। एक जैनाचार्य होने के कारण हरिभद्रसूरि का स्वाभाविक दायित्व बनता था कि वे ब्राह्मण-परम्परा द्वारा फैलायी गयी भ्रान्तियों का निराकरण करते। ऐसा वे वाद-विवाद द्वारा भी कर सकते थे। पर हरिभद्रसूरि जानते थे कि खण्डन-मण्डन की विधि बहुत प्रभावशाली नहीं हुआ करती, बहुसंख्य जनता को उसमें रुचि नहीं होती और इस शैली में कही गयी बातें आसानी से गले नहीं उतरती। इसीलिए हरिभद्रसूरि ने एक नयी विधि— प्रच्छन्न व्यंग्य-विधि अपनायी। इसे ही कुछ लोग शास्त्रीय शब्दावली में 'व्यंग्य-वक्रता' कहते हैं। इसमें व्यंग्य सीधे-सीधे न कर अन्योक्ति-शैली में प्रेषित किया जाता है। इसे कतिपय विद्वान् 'व्यंग्यगर्भ' शैली भी कहते हैं।

हरिभद्रसूरि ने व्यंग्य में उपहास-शैली का ऐसा उपयोग किया है कि वह देखते ही बनता है। हम उपहास किसी दूसरे का करते हैं, उसके सामने या उसके पीछे। इसलिए इसमें एक प्रकार की प्रत्यक्षता और सुनिर्दिष्टता तो होती ही है। उपहास अक्सर विरोध

में ही होता है। पर हरिभद्रसूरि ने उपहास का मारक उपयोग किया है। इसका दुधारी तलवार की तरह उपयोग हरिभद्रसूरि के लेखकीय कौशल का प्रमाण है। आप कह सकते हैं कि हरिभद्रसूरि का उपहास, उपहास नहीं, उपहास-विलास है। जब वे सुनायी गयी अतार्किक, असम्भव कथाओं का अनुमोदन अपनी उपहास-शैली से करते हैं, तब वह ऊपर-ऊपर से भले ही कथित का अनुमोदन हो, पर भीतर-भीतर उस पर नश्वर की पैनी छुरी-सी मार भी करती चलती है। पर यह तो इसका एक शिरा है, दूसरा शिरा वह है, जो इन उपहासों द्वारा नितान्त अनुपस्थित, पर समाज में ब्राह्मण-परम्परा द्वारा फैलाये गये अन्धविश्वासों पर करारी चोट करता है। उपहास उनका होता है, जो सामने नहीं हैं, पर समाज की नस-नाड़ी में बद्धमूल हैं। वे केवल निर्दिष्ट का ही उपहास नहीं करते। उनके उपहास के दायरे में पूरी चिन्तन-कथनशैली भी आ जाती है। जैसे व्यंग्य में कभी-कभी किसी एक व्यक्ति का मजाक उड़ाकर पूरी जाति और समुदाय का मजाक उड़ाया जाता है, वैसे ही हरिभद्रसूरि पूरी ब्राह्मण-परम्परा पर प्रश्नचिह्न लगा देते हैं। इस दृष्टि से 'धूर्ताख्यान' के अनुवादक और सम्पादक डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव का यह कथन बिल्कुल सही है कि "कथा के शिल्प-विधान का चमत्कार तथा दुरूह उलझनवाली सामाजिक विकृतियों का आख्यान-शैली में प्रत्याख्यान इस कथाग्रन्थ के आलोचकों को भी मुग्ध कर देनेवाला है। शैली की दृष्टि से यह ग्रन्थ मूर्धन्य है। लाक्षणिक शैली में व्यंग्योपहास की इतनी पुष्ट रचना अन्यत्र दुर्लभ है।"

प्राकृत के सर्वप्रिय छन्द 'गाथा' में निबद्ध इस व्यंग्यकृति के गद्यानुवाद को देखकर यह सोचने को विवश होना पड़ता है कि तब के कुशल रचनाकारों ने इतनी द्वन्द्व-संकुल कृति को कविता द्वारा, छन्दों द्वारा, कैसे व्यक्त किया होगा? इससे उनके अद्वितीय काव्य-सामर्थ्य का पता तो चलता ही है, यह भी स्पष्ट होता है कि तब काव्य-विधा कितनी लचीली और सर्व-समावेशी रही होगी। अब ऐसी कृति को कोई रचनाकार कविता या छन्द में कहने और लिखने की बात सोच भी नहीं सकता। तब गद्य न होने की वजह से कविता ही रचनाकारों की एकमात्र कसौटी थी। 'गद्य कवीनां निकषं वदन्ति' की उक्ति, लगता है कि पीछे प्रचलित हुई होगी। तब तो 'छन्दः कवीनां निकषं वदन्ति' की स्थिति रही होगी।

अच्छा हुआ कि डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव ने इस रचना को पुस्तकाकार प्रकाशित करा दिया। प्रकाशक ने इसे सचित्र छापा है। चित्र बहुत व्यंजक, विलक्षण और प्रभावपूर्ण है। यह कृति को आकर्षक बना देता है। कुछ को यह भ्रम हो सकता है कि यह कोई बाल-साहित्य है। पर यदि यह भ्रम भी हो, तो मैं इसे कुछ बुरा नहीं समझता; क्योंकि बालकों के अलावा भी बाल-साहित्य के शौकीन कितने ही प्रौढ़ पाठक होते हैं। वे इसे बाल-साहित्य समझकर उठायें और पढ़ने पर उन्हें अपेक्षाकृत अधिक प्रौढ़ अनुभूति हो, तो यह क्या कम है?

आधुनिक विश्व में अहिंसा की प्रासंगिकता

दुलीचन्द जैन

अहिंसा धर्म का आधार है। इसी के द्वारा समाज का सुचारु रूप से सञ्चालन सम्भव है। यही वह गुण है जो प्रत्येक जीव को सम्मान प्रदान करता है। दया एवं करुणा की अभिव्यक्ति इसी जीवन मूल्य में होती है। इसका व्यवहार विश्व में शान्ति एवं सौहार्द लाता है।

भगवान् महावीर ने कहा कि धर्म उत्कृष्ट मंगल है। अहिंसा, संयम और तप उसके लक्षण हैं। जिसका मन सदा धर्म में रमता रहता है, उसे देवता भी नमस्कार करते हैं। उनके ही शब्दों में, “किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिए, यही ज्ञानियों के ज्ञान का सार है। अहिंसा, समता, समस्त जीवों के प्रति आत्मवत् भाव यही शाश्वत धर्म है।” उन्होंने जीवों के प्रति समादर के भाव पर जोर देते हुए कहा, “सभी प्राणियों को अपनी-अपनी आयु (जीवन) प्रिय है। सुख अनुकूल है, दुःख प्रतिकूल है। वध सबको अप्रिय है, जीवन सबको प्रिय है। अतः किसी भी जीव को त्रास नहीं पहुँचाना चाहिए, किसी के प्रति वैर और विरोध का भाव नहीं रखना चाहिए।”

आज का मनुष्य अहिंसा के उपर्युक्त मूल्यों को भूल गया है। परिणामस्वरूप आज विश्व में हिंसा, अशान्ति तनाव, जीवन-मूल्यों का अवमूल्यन, सौहार्द का अभाव एवं आतंक बढ़ता ही जा रहा है। आइए हम उन उपायों पर विचार करें जो मानवता को वास्तविक सुख प्रदान करने में समर्थ हो सकते हैं।

मनुष्य : क्या मात्र एक आर्थिक यन्त्र है?

आधुनिक सभ्यता, जो पूर्णतः भौतिकवाद पर आधारित है, ने मनुष्य के व्यक्तित्व को संकुचित करके उसे मात्र एक आर्थिक यन्त्र बना दिया है। आधुनिक युग में मनुष्य ने बहुत सारी विचारधाराओं का सहारा लिया ताकि वह पूर्ण समृद्ध एवं सुखी बन सके। लेकिन क्या उसे सुख एवं आनन्द प्राप्त हुआ? नहीं, आज मनुष्य को समृद्धि तो प्राप्त हुई है, लेकिन वह मानसिक शान्ति प्राप्त नहीं कर सका। समृद्धि भी कुछ चुने हुए वर्ग के लोगों को मिली। कुछ वर्षों पहले साम्यवाद का बहुत बड़ा प्रभाव था और लगता था कि यह सारे विश्व को लाल रंग में रंग देगा। इसके प्रचारकों ने कहा कि हम गरीब

*. ३६, शम्भुदास स्ट्रीट, चेन्नई-६०० ००१.

एवं शोषित वर्ग को सम्पन्नता एवं गौरव प्रदान करेंगे, सामान्य व्यक्ति के जीवन को ऊँचा उठायेंगे, सब में समानता लायेंगे लेकिन मात्र १०० वर्षों से भी कम समय में यह असफल सिद्ध हुआ। वहाँ के देशों की सामान्य जनता ने ही इस विचारधारा का विरोध किया, क्योंकि जीवन की आवश्यक वस्तुओं के अभाव से उनका जीवन त्रस्त हो गया था। दूसरी बड़ी विचारधारा पूँजीवाद की है, जिसका नायक अमेरिका है। इसका उद्देश्य है, प्रकृति के संसाधनों का अधिकतम उपभोग। यह भोगवाद पर आधारित है। आज वैज्ञानिक उपकरणों ने सामान्य व्यक्ति के जीवन को बहुत सारी सुख-सुविधाएँ उपलब्ध करा दी हैं, लेकिन प्रश्न उठता है कि- क्या मनुष्य का जीवन पहले से अधिक सुखी एवं सौहार्दपूर्ण है? उत्तर नकारात्मक ही है। भौतिकताप्रधान पाश्चात्य युग की चकाचौंध का भीतरी पक्ष कितना अभिशाप-ग्रस्त है, यह एक गम्भीर विषय है।

टूटते परिवार

हाल ही में ब्रिटेन से प्रकाशित सुप्रतिष्ठित पत्र “दि इकोनॉमिस्ट” ने एक रिपोर्ट प्रकाशित की है, जिसने पाश्चात्य जगत् के विचारकों को भी चौंका दिया है। शीर्षक है— “इक्कीसवीं शताब्दी में अमरीकी परिवार का भविष्य”। यह रिपोर्ट शिकागो विश्वविद्यालय में राष्ट्रीय मत अनुसन्धान केन्द्र ने २४ नवम्बर १९९९ को प्रस्तुत की थी। रिपोर्ट में प्रकाशित कुछ तथ्य इस प्रकार हैं—

- अमेरिका में परिवारों के संचालन एवं बच्चों के लालन-पालन में विवाह-संस्था का महत्त्व घट गया है।
- सन् १९६० एवं सन् १९९६ के बीच ३६ वर्षों में तलाक का प्रतिशत दुगुना हो गया है।
- सन् १९६० में अविवाहित माताओं की संख्या ५ प्रतिशत थी, जो सन् १९९६ में बढ़कर ३२ प्रतिशत हो गयी है।
- सन् १९७२ में ७२ प्रतिशत बच्चे अपने माता-पिताओं (विवाहित) के साथ रहते थे, सन् १९९६ में मात्र ५२ प्रतिशत बच्चे अपने माता-पिता दोनों के साथ रहते हैं।
- अमेरिका में विवाहित स्त्री-पुरुषों को भी बच्चे नहीं चाहिए। सन् १९७२ में ४५ प्रतिशत माता-पिताओं के बच्चे नहीं थे। सन् १९९६ में ६२ प्रतिशत परिवारों में बच्चे नहीं हैं।
- अब अमरीकी युवक-युवतियाँ बड़ी उम्र में विवाह करने लगे हैं तथा कई तो शादी के पहले कुछ काल तक शादी-शुदा जीवन का प्रयोग करते हैं।

अमेरिका में २५ प्रतिशत स्त्रियाँ अपने पतियों से अधिक आमदनी प्राप्त कर लेती हैं। लगभग ६ प्रतिशत पुरुष घरेलू काम-काज करते हैं तथा उनकी पत्नियाँ कमायी करती हैं।

विद्यालयों में हिंसा

अमेरिका के विद्यालय- परिसरों में हिंसा की घटनाएँ दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही हैं। अप्रैल १९९९ में लिटलटन, कोलोराडो में तब यह चरम सीमा पर पहुँची, जब कोलम्बिने हाईस्कूल के दो विद्यार्थियों ने अपनी कक्षा के १३ सहपाठियों को गोलियों से उड़ा कर स्वयं अपने जीवन को भी समाप्त कर दिया। नेशनल एसोसियेशन ऑफ एटोर्नी जनरल ने बताया कि पिछले सात वर्षों में कम से कम १४ विद्यालयों में गोली चलाकर अपने सहपाठियों को मार डालने की घटनाएँ घटित हो चुकी हैं। १४ मार्च २००० को हजारों अमरीकी नागरिकों ने वाशिंगटन में एक जुलूस निकाला तथा प्रस्ताव पारित किया कि अमरीकी कांग्रेस बन्दूक नियन्त्रण कानून को सख्त बनाये ताकि हिंसक घटनाओं की संख्या कम हो। वर्तमान समाचारों के अनुसार अमेरिका में प्रति वर्ष ३०,००० व्यक्ति गोलियों के शिकार होते हैं।

श्री ई०एफ० शूमेकर ने कहा कि अमेरिका, जिसके पास विश्व की मात्र ६ प्रतिशत आबादी है, विश्व के ३० प्रतिशत संसाधनों का उपयोग कर लेता है। परिणामस्वरूप विश्व की एक बहुत बड़ी आबादी गरीबी, अभाव एवं शोषण से अभिशप्त है। अतः यह सिद्ध होता है कि आर्थिक विकास मात्र मनुष्य के जीवन के स्तर को ऊँचा उठाने में समर्थ नहीं है।

प्रकृति के प्रति भ्रामक धारणा

शताब्दियों से पाश्चात्य जगत् में यह एक धारणा बनी कि मनुष्य सर्वश्रेष्ठ प्राणी है और यह सम्पूर्ण सृष्टि उसी के उपभोग के लिये बनी है। फ्रांसिस बेकोन ने ४०० वर्ष पूर्व लिखा कि यह सारी सृष्टि मनुष्य के लिये ही बनी है, अन्य प्राणियों के लिये नहीं। इस धारणा का परिणाम यह हुआ कि प्रकृति एवं उसके संसाधनों का भयंकर शोषण किया गया। विज्ञान ने भी इसी धारणा को बढ़ावा दिया और कहा कि पशु-पक्षी, पेड़-पौधों में प्राण नहीं है। यह भी बताया गया कि प्रकृति का भण्डार असीम है और वह मात्र मनुष्य को सुखी करने के लिये है। वैज्ञानिक उपकरणों की सहायता से प्रकृति का अधिक से अधिक शोषण कर मनुष्य के जीवन को सुखी बनाया जा सकता है। इस धारणा के कारण प्रकृति का जो निर्मम शोषण हो रहा है और उसके जो भयावह परिणाम सामने आ रहे हैं, उसकी ओर कम लोगों का ध्यान गया है। एर्नोल्ड टोयनबी ने सन् १९७२ में लन्दन ओब्जर्वर में लिखा, “हम लोग परेशान हैं क्योंकि हमने अधिकतम भौतिक साधनों को प्राप्त करने के लिये अपनी आत्मा की भावनाओं को

उपेक्षित कर दिया है, लेकिन हमारा यह प्रयास आध्यात्मिक दृष्टि से गलत ही नहीं अपितु अव्यावहारिक भी है।” हाल ही में प्रकृति एवं उसके साधनों के दुरुपयोग के भीषण परिणाम सामने आये हैं। मेक्सिको में वायु का भयंकर प्रदूषण, यूक्रेन के चेर्नोबिल परमाणु केन्द्र की भयावह दुर्घटना और उसके परिणाम, ब्राजील में वर्षा देने वाले जंगलों की विनाश, स्वीडन में रासायनिक वर्षा द्वारा झील का विनाश, गंगा जैसी महान् नदियों के जल में प्रदूषण एवं भोपाल में रासायनिक गैस की भीषण दुर्घटना इत्यादि कुछ घटनाएँ इस खतरे को प्रकट करती हैं। जहाँ भी हमारी दृष्टि जाती है, हमारी पृथ्वी इस संकट से ग्रस्त नज़र आती है।

जीव-जन्तुओं का विनाश

जैसा मैंने कल भी कहा था, आज पशुओं का निर्ममता से वध किया जाता है। खाद्य पदार्थ, फर, चमड़ा एवं अन्य पदार्थ प्राप्त करने के लिये यान्त्रिक कारखानों में बड़ी परिमाण में पशु मारे जाते हैं। मनुष्य ने पशुओं की ४३५५ प्रजातियों में से २५ प्रतिशत को, पक्षियों की ८६१५ प्रजातियों में से ११ प्रतिशत को एवं जल-जन्तुओं की कुल ३४ प्रतिशत प्रजातियों को पूर्णतः समाप्त कर दिया है। मनुष्य की क्रूरता चरम सीमा पर पहुँच चुकी है। ग्रीनपीस पत्रिका के अनुसार अफ्रीका में १९८१ में हाथियों की संख्या १५ लाख थी जो १९९० में, मात्र दस वर्षों में, शिकार के कारण घटकर ६ लाख रह गयी। अक्टूबर १९९३ में Convention of International trade in Endangered Species को हाथीदांत के व्यापार पर प्रतिबन्ध घोषित करना पड़ा ताकि हाथियों की संख्या और अधिक नहीं घटे।

गाय के माँस को ‘बीफ’ कहते हैं। इंग्लैण्ड का बीफ सबसे बढ़िया माना जाता है। यूरोप में इसकी बड़ी प्रतिष्ठा है, इसी के ऊपर इंग्लैण्ड की अर्थव्यवस्था निर्भर करती है। प्रकृति विरुद्ध आहार के कारण गायें पागल होने लगीं तथा उनका माँस खाने वाले व्यक्ति भी पागल होने लगे। जब यह खबर यूरोप में फैली तो उन्होंने ब्रिटेन से गौ माँस मंगाना बन्द कर दिया। ब्रिटेन के लोगों ने उस बीमारी से ग्रस्त लाखों गायों को मार दिया। हाल ही में यूरोप के कुछ देशों में पशुओं में ‘पाँव एवं मुँह की बीमारी’ (Foot & Mouth Disease) फैल गयी है। इसके भी भयावह परिणाम नज़र आ रहे हैं।

वर्षा लाने वाले जंगल

लकड़ी एवं अन्य पदार्थ प्राप्त करने के लिए बड़ी मात्रा में जंगलों को काटा जा रहा है। घरेलू पशुओं को चराने के लिये तथा सोयाबीन आदि की उपज के लिये भी जंगलों को नष्ट किया जाता है। माँसाहार के लिये पशुओं की कृत्रिम पैदावार की जा रही है। इस प्रकार स्थान-स्थान पर जंगल कटने से पर्यावरण नष्ट हो रहा है, वर्षा कम हो रही है तथा रेगिस्तान बढ़ रहे हैं।

औद्योगिक दुर्घटनाएँ

रसायन उद्योगों में भीषण दुर्घटनाएँ हो रही हैं। जैसा कि सर्वविदित है, १९८५ में भोपाल स्थित यूनियन कारबाइड के कारखाने में एक वाल्व में छेद हो जाने के कारण ३० टन लेथल मिथाइल गैस हवा में फैल गयी। इस जहरीली गैस के दुष्प्रभाव से २००० व्यक्तियों की तुरन्त मौत हो गयी तथा १७००० व्यक्ति हमेशा के लिये स्थायी रूप से अपंग हो गये।

विश्व में बड़ी मात्रा में परमाणु बमों का निर्माण हो रहा है तथा उस बनी हुई सामग्री को नियन्त्रण में रखना बहुत कठिन है। विकसित राष्ट्रों के पास १५००० टन परमाणु अस्त्र-शस्त्रों का संग्रह हो चुका है। इन परमाणु कारखानों में अनेक भीषण दुर्घटनाएँ भी घटित हुई हैं। यूक्रेन स्थित चेर्नोबिल परमाणु संयन्त्र में जो दुर्घटना घटित हुई, उससे २०००० व्यक्तियों की मृत्यु हुई और ५ लाख से अधिक लोग बीमारियों के शिकार हुए।

माँस उद्योग एवं पर्यावरण

माँस का बड़ी मात्रा में उत्पादन पर्यावरण के विनाश का कारण है। विश्व में उत्पन्न होने वाला ४० प्रतिशत अनाज उन पालतू जानवरों के चारे के लिये व्यय होता है, जिन्हें बाद में माँस पैदा करने के लिये कत्ल कर दिया जाता है। यदि विश्व में माँस का उत्पादन कम कर दिया जाय तो पर्यावरण के सुधार पर अनुकूल असर पड़ेगा। तब कम मात्रा में वृक्षों को काटना पड़ेगा एवं भूमि का कटाव भी घट जायेगा।

उपभोक्तावाद

उपभोक्तावाद का विस्तार इस पाश्चात्य विचारधारा पर आधारित है कि वस्तुओं का अधिकतम उत्पादन विश्व की सभी आर्थिक समस्याओं का समाधान है और इसी से जनसामान्य का आर्थिक एवं सामाजिक विकास सम्भव हो सकता है। अपने जीवन को समृद्ध बनाने के लिये हमें वस्तुओं का अधिकतम संग्रह एवं उपभोग करना चाहिए। अमेरिका के लोग आज सन् १९५० की तुलना में वस्तुओं का दुगुना संग्रह एवं उपभोग कर रहे हैं। प्रश्न उठता है कि सन् १९५० की तुलना में क्या वे दुगुना सुखी हैं? यह उपभोक्तावाद का सिद्धान्त अनैतिक सिद्धान्तों पर आधारित है जहाँ स्वार्थ की भावना ही प्रमुख है तथा सामाजिक कल्याण का महत्त्व गौण है। कहते हैं कि जनसंख्या की असीमित वृद्धि पर्यावरण के विनाश का मुख्य कारण है और इसमें कोई सन्देह भी नहीं है लेकिन समृद्ध समुदाय की वस्तुओं के बारे में बढ़ती हुई मांग और तृष्णा भी पर्यावरण विनाश का एक बहुत बड़ा कारण है, इसकी ओर कम ध्यान दिया गया है।

The World wide Fund for Nature ने अपनी Living Planet Report 2000 में कहा है कि आज वस्तुओं की जितनी मांग बढ़ रही है, उससे लगता है कि पृथ्वी उपग्रह में जितने संसाधन हैं, उनसे ३० प्रतिशत अधिक संसाधनों की आवश्यकता होगी। इसमें आगे कहा गया कि यदि अविकसित देशों के व्यक्ति भी विकसित देशों के लोगों के समान अपनी आवश्यकताओं की अभिवृद्धि करते रहेंगे तो उनकी मांग की पूर्ति के लिये और दो पृथ्वी उपग्रहों की आवश्यकता पड़ेगी। रिओ डि जेनेरो में सन् १९९२ में आयोजित पृथ्वी शिखर सम्मेलन में यह भाव व्यक्त किया गया कि “विश्व में पर्यावरण के निरन्तर होने वाले ह्रास का मुख्य कारण विकसित राष्ट्रों की बढ़ती हुई माँगें तथा उनका अत्यधिक उपयोग है, यदि इसे नियन्त्रित नहीं किया गया तो पर्यावरण का संकट बढ़ता ही जायेगा।”

इस परिस्थिति में जैनधर्म के मूल्यों की क्या भूमिका है? इस पर भी विचार किया जाना आवश्यक है। भगवान् महावीर ने **उत्तराध्ययनसूत्र** में कहा, “जहाँ पर भौतिक पदार्थों के अत्यधिक संग्रह एवं उनके उपयोग की भावना रहती है, वहाँ पर परिग्रह एवं तृष्णा की वृद्धि हो जाती है।” तृष्णा से मनुष्य के मन में और अधिक वस्तुओं के संग्रह करने की भावना जगती है। इस प्रकार की अति संग्रह की भावना अशान्ति में परिणत हो जाती है। केवल अपने स्वार्थ को ही बढ़ाते चले जाना मानवीय उच्च भावनाओं यथा करुणा आदि को भी विनष्ट कर देता है। आज जो उपभोक्ता सामग्री की माँग निरन्तर बढ़ती जा रही है, उससे कोई साधारण व्यक्ति भी अछूता नहीं रह सकता है। जब उस व्यक्ति की माँगों की पूर्ति नहीं होती तो उसके मन में चिन्ता एवं क्षोभ पैदा हो जाता है। इसके कारण सामान्य आमदनी का व्यक्ति कभी-कभी अपना मानसिक सन्तुलन खो देता है। चोरी एवं डाके इत्यादि भी बढ़ जाते हैं। उपभोक्तावाद साधारण व्यक्ति को सम्पन्न व्यक्तियों का अनुकरण करने को बाध्य करता है, जिससे उनका मनोवैज्ञानिक एवं नैतिक अधःपतन हो जाता है। बढ़ता हुआ उपभोक्तावाद व्यक्ति के जीवन में अशान्ति, तनाव, ईर्ष्या, द्वेष इत्यादि पैदा कर देता है।

प्रदूषण का प्रकोप

आज अनेक देशों में प्रदूषण का प्रकोप इतना बढ़ गया है कि वहाँ विशुद्ध जल एवं वायु का मिलना भी दुर्लभ हो गया है। रासायनिक खाद के अत्यधिक प्रयोग से हिंसा तो होती है, जमीन की उर्वरा शक्ति का भी क्षरण हो रहा है। कई देशों में नदियों का पानी इतना दूषित हो गया है कि वह पीने के लायक नहीं रहा। कारखानों से निकलने वाले धुएँ एवं गन्दगी का भी पर्यावरण पर घातक प्रभाव पड़ रहा है। पृथ्वी शिखर सम्मेलन में इस बात पर भी चिन्ता व्यक्त की गयी कि प्रकृति के संसाधनों का भण्डार धीरे-धीरे कम होता जा रहा है। आज दुनिया के ७-८ समृद्ध देश ८० प्रतिशत संसाधनों का

उपयोग कर रहे हैं। इनकी जनसंख्या मात्र २० प्रतिशत है। परिणामस्वरूप विश्व की एक बड़ी आबादी गरीबी, कुपोषण, भूख, बीमारी इत्यादि से ग्रसित है। विकसित एवं अविकसित देशों में असमानता बढ़ती ही जा रही है।

अहिंसा का महत्त्व

भगवान् महावीर ने जो सबसे बड़ा सन्देश दिया वह अहिंसा का सन्देश है। अहिंसा का अर्थ है जीव मात्र के प्रति प्रेम, सम्मान एवं एकात्मता का भाव। यही भाव आज के विश्व में वास्तविक सुख, शान्ति एवं सौहार्द उत्पन्न कर सकता है। वर्तमान विश्व की समस्याओं के निराकरण में इस सिद्धान्त की क्या भूमिका है, इस पर विचार किया जाना चाहिए। अहिंसा का सिद्धान्त केवल मनुष्यों या पशुओं तक ही सीमित नहीं है; किन्तु इसका क्षेत्र बहुत व्यापक है। जैनधर्म मानता है कि वनस्पति में भी जीव है। यहाँ तक कि पृथ्वी, अग्नि, जल एवं वायु में भी अदृश्य जीव हैं, जिन्हें एकेन्द्रिय जीव कहते हैं। अतः उनकी भी रक्षा की जानी चाहिए। अतः जैनधर्म के अनुसार वृक्षों को काटना या वनस्पति को नष्ट करना, भूमि को अनावश्यक खोदना, जल का अनावश्यक बड़ी मात्रा में उपयोग हिंसा का कारण है। आज पर्यावरण वैज्ञानिक एवं वन्य-जन्तु विशेषज्ञ भी कहते हैं कि जंगली जानवरों की रक्षा करनी चाहिए, क्योंकि वे प्रकृति का सन्तुलन बनाने में सहायक हैं। प्रत्येक जीव का, चाहे वह छोटी-सी चींटी हो या बृहदाकाय हाथी, प्रकृति की सुरक्षा में महत्त्व है। आज वनस्पति के रक्षण, नदियों को प्रदूषण से बचाने एवं पृथ्वी की सम्पदा की रक्षा के लिये आन्दोलन चल रहे हैं। इस प्रकार तीर्थङ्करों ने हजारों वर्ष पहले प्राणी-रक्षा पर जो जोर दिया था, उसी का समर्थन आज के वैज्ञानिक कर रहे हैं।

प्रकृति के साथ सह-अस्तित्व

विश्व के सभी प्राणियों को प्रकृति के साथ सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध बनाना चाहिए। तत्त्वार्थसूत्र में आचार्य उमास्वाति ने कहा, “परस्परपग्रहो जीवानाम्” अर्थात् संसार के सभी प्राणी एक दूसरे को सहयोग प्रदान करते हैं। वे एक दूसरे से अलग नहीं रह सकते। उनको एक दूसरे के सुख-दुःख को समझ कर उसमें सहभागी बनना चाहिए। दुर्भाग्य से आज का मनुष्य अपने आपको सर्वश्रेष्ठ जीव मानता है और वह प्रकृति की सभी शक्तियों पर नियन्त्रण करना चाहता है। यह एक भ्रामक धारणा है। मनुष्य को जीवित रहने में वनस्पति, नदियाँ, पहाड़, जीव-जन्तु इत्यादि उसकी मदद करते हैं अतः अगर मनुष्य जीवन में शान्ति एवं आनन्द चाहता है तो उसे उन सभी की रक्षा करनी चाहिए तथा उनको शोषण से बचाना चाहिए।

जैन कर्म-सिद्धान्त के अनुसार हिंसा जीव के बन्धन का मुख्य कारण है, इससे आत्मा की शक्तियाँ क्षीण होती हैं तथा मनुष्य राग एवं द्वेष से ग्रसित होकर पतन को

प्राप्त होता है। परिणामस्वरूप जन्म एवं मरण का चक्र बढ़ता ही जाता है। क्या हम किसी ऐसे समाज की कल्पना कर सकते हैं जहाँ सभी हिंसा से ग्रस्त हैं? वहाँ किसी प्रकार की शान्ति सम्भव ही नहीं है। वह तो जंगल का राज्य है। कुछ व्यक्ति कहते हैं कि जीवो जीवस्य भोजनम् अर्थात् एक जीव दूसरे जीव का भोजन है लेकिन यह सिद्धान्त भी सही नहीं है। वास्तव में सभी जीव एक दूसरे के सहयोग से ही जीवित रहते हैं, विकास पाते हैं। जब जीव एक दूसरे को परस्पर सहयोग, प्रेम एवं करुणा प्रदान करते हैं तब यह पृथ्वी सबके लिये सुखकारी हो जाती है। अतएव अहिंसा का सिद्धान्त आज भी सभी समस्याओं का एक व्यावहारिक एवं प्रभावशाली समाधान है।

जैनधर्म के अनुसार हिंसा का कारण कषाय एवं प्रमाद है। भगवान् महावीर ने कहा, “क्रोध, मान, माया और लोभ— ये चार दुर्गुण पाप की वृद्धि करने वाले हैं। जो अपनी आत्मा की भलाई चाहते हैं, उन्हें इन दोषों का परित्याग कर देना चाहिए।” इसी प्रकार प्रमाद भी हिंसा का बहुत बड़ा कारण है। प्रमाद कई प्रकार के हैं— मद्य (शराब पीना), विषय (काम भोग), कषाय और विकथा (अर्थहीन, रागद्वेषवर्द्धक वार्ता)। जैनधर्म में इसलिए भाव हिंसा अर्थात् मानसिक हिंसा से भी विरत रहने को कहा गया। मानसिक हिंसा सबसे भयंकर है।

व्यावहारिक जीवन में अहिंसा

एक गृहस्थ के लिये अहिंसा का पूर्णता से पालन करना सम्भव नहीं है। अतः जैन आचार्यों ने हिंसात्मक गतिविधियों के दो भाग किये— १- कुछ जिन्हें पूर्णता से त्यागना चाहिए और २- कुछ जिन्हें आंशिक रूप से त्यागना चाहिए। पुनः हिंसा का चार भागों में वर्गीकरण किया गया—

१. संकल्पी हिंसा : जान-बूझ कर प्राणियों की हिंसा करना जैसे सांडों की लड़ाई।
२. आरम्भी हिंसा : गृहस्थी को चलाने के लिए जिस हिंसा से बचना सम्भव नहीं है जैसे घर की सफाई या भोजन बनाने में किसी जीव की अनजान में हिंसा।
३. उद्योगी : आजीविका के लिये अर्थात् उद्योग या व्यापार चलाने में या कृषि में होने वाली हिंसा।
४. विरोधी : अपने जीवन, सम्पत्ति या देश की रक्षा हेतु होने वाली हिंसा।

साधु लोग उपर्युक्त चारों प्रकार की हिंसा का त्याग करते हैं पर एक गृहस्थ को प्रथम प्रकार की हिंसा का पूर्ण त्याग करना चाहिए, लेकिन अन्य तीन प्रकार की हिंसा का त्याग उसके लिये सम्भव नहीं है लेकिन उनमें भी विवेक या जागरूकतापूर्वक जीवनयापन करना आवश्यक है।

अहिंसा का जो नकारात्मक रूप है उसकी ओर सबका ध्यान गया है पर उसका जो सकारात्मक रूप है उस पर कम ध्यान दिया गया। सकारात्मक रूप क्षमा, करुणा, दया, दान और निस्वार्थ सेवा के रूप में अभिव्यक्त होता है।

यद्यपि विश्व के धर्मों को मानने वालों की तुलना में जैनधर्म के मानने वालों की संख्या बहुत कम है, लेकिन अपने धर्म के प्रति निष्ठा, अहिंसा एवं सदाचार का पालन, व्यसन मुक्त जीवन आदि को महत्त्व देने के कारण कम संख्या के होते हुए भी जैन समाज ने अपनी विशिष्टता भारत एवं विदेशों में स्थापित की है।

जैन साधु और साध्वी अपनी सादगी, अकिञ्चनता, त्याग और तपस्या की भावना, पैदल विहार तथा पूर्ण अपरिग्रह का पालन करने के कारण सुविख्यात हैं और सारे विश्व में सम्मानित हैं। सिद्धान्तों की कठोरता तथा आचरण की दुरूहता के कारण उनकी संख्या अवश्य ही कम है; किन्तु जैनधर्म का प्रचार-प्रसार करने में उनका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

लेकिन वर्तमान में जैन समाज कुछ समस्याओं से ग्रसित हो गया है। प्रामाणिकता में कुछ कमी आयी है। पहले जो रात्रिभोजन के त्याग का काफी पालन होता था वह अब नागरिक सभ्यता व जीवन की जटिलताओं के विकास के कारण काफी कम हो गया है। पहले जैन अपने शुद्ध एवं सात्विक शाकाहारी भोजन के कारण प्रसिद्ध थे पर आज बहुत से लोग खान-पान एवं रहन-सहन का कड़ाई के साथ पालन नहीं कर रहे हैं। जैनधर्म में हिंसा के त्याग का पूर्ण महत्त्व है पर आज आजीविका, उद्यम एवं व्यापार में हिंसा, सत्य-असत्य व चौर्य-अचौर्य का कोई विवेक नहीं रह गया है। दैनिक जीवन में सामायिक-प्रतिक्रमण, उपवास एवं व्रतादि के पालन में भी कमजोरी आयी है। साधु वर्ग में भी नियमों व आचार के पालन में कुछ शिथिलता आयी है।

आज साधुओं एवं श्रावकों के आचार के लिये एक सर्वसम्मत आचरण संहिता (Code of Conduct) बनाने की आवश्यकता है। हमारे सभी वरिष्ठ साधुओं, साध्वियों, श्रावकों एवं श्राविकाओं को बैठकर मिलकर इसे तैयार करना चाहिए। श्रावकों के लिये जो आचार-संहिता बने उसमें मुख्य रूप से निम्न नियमों का पालन रखा जाय—

१. शाकाहार का पालन, २. रहन-सहन में सादगी, ३. व्यसनमुक्त जीवन, ४. आजीविका, व्यापार एवं उद्यम में हिंसा का त्याग, ५. व्यक्तिगत जीवन में प्रामाणिकता एवं नैतिकता का व्यवहार।

सबसे बड़ी बात है कि आज चारों ओर मुर्गी, अण्डे, मांसाहार व मत्स्याहार का जो प्रचार हो रहा है तथा नये-नये कत्लाखाने बन रहे हैं उनका सारा जैन समाज सामूहिक रूप से विरोध करे। शाकाहार वैज्ञानिक दृष्टि से स्वास्थ्य के लिये हितकारी

है तथा मांसाहार से जो भयंकर बीमारियाँ फैलती हैं; उनका सामूहिक प्रचार करने की आवश्यकता है। यह जैन समाज के लिये सबसे बड़ी चुनौती है।

वर्तमान जैन समाज नये सन्दर्भ में समय की आवश्यकता को पहचानकर एकता व संगठन को सुदृढ़ करके अहिंसा, करुणा, प्रेम व व्यसन मुक्त जीवन की ओर आगे बढ़कर सम्पूर्ण विश्व में अनेकान्त, सह-अस्तित्व, पुरुषार्थ, कर्मवाद, समता तथा व्यक्ति स्वातन्त्र्य की भावना का प्रचार करने में सबल सिद्ध होगा, यही हम आशा करते हैं।



जैन धर्म और शैव सिद्धान्त दर्शन का साधना

पक्ष : एक तुलनात्मक अध्ययन

(शोध-प्रबन्ध-सार)

श्रीमती शारदा सिंह

यद्यपि संसार के बाह्य भौतिक स्वरूप में संचार साधनों, वैज्ञानिक आविष्कारों आदि की क्रमशः विकासशीलता से बहुत अधिक परिवर्तन हुआ है; किन्तु संसार के आन्तरिक पक्ष या आध्यात्मिकता में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है। आनन्द प्राप्ति, अनुराग और सुधा की पुरातन शक्तियाँ और हृदयगत निर्दोष उल्लास एवं भय इत्यादि मानव के स्वाभाविक गुण हैं। आज के भौतिकवादी युग में भौतिकवाद की उन्नति तो हुई है; किन्तु आध्यात्मिकता की ओर मानव ने उतनी उन्नति नहीं की है जितनी अपेक्षित है।

मानव जब आध्यात्मिकता के प्रभाव में आता है तो उसके सामने लक्ष्य निर्धारण की एक जटिल प्रक्रिया होती है और यह लक्ष्य वह मात्र भावावेश में नहीं अपितु विवेक शक्ति से निर्धारण करता है। मानव जिसे अपने जीवन का सुख मानता है वह वास्तव में उसका मृत्यु की तरफ बराबर प्रयाण है। अतः जब तक मानव अपने वास्तविक लक्ष्य का निर्धारण नहीं कर लेता तब तक उसका जीवन व्यर्थ और निराधार है।

मानव के सामने सबसे बड़ी समस्या जगत् में व्यापक रूप से फैले दुःखों के आत्यन्तिक निवृत्ति की है और सम्भवतः यह समस्या भारतीय दर्शन की महत्वपूर्ण समस्या भी है। मनुष्य के लिये यह निश्चय कर पाना कठिन है कि उसका वास्तविक सुख क्या है? क्योंकि उसके पश्चात् ही वह जान सकता है कि जीवन का अन्तिम लक्ष्य क्या है और उसे कैसे प्राप्त किया जा सकता है? प्रायः आधुनिक विचारकों की दृष्टि में दर्शन का अर्थ भाग्य पर भरोसा, तपस्या आदि से पार्थिव शरीर को त्याग देना इत्यादि है; किन्तु सच्चे अर्थ में आध्यात्मिकता से प्रेरित व्यक्ति भारतीय विचारधारा के अन्दर से ऐसे सामग्री को ढूँढ़ निकालता है जिसका कोई सममूल्य नहीं है।

*. शोधछात्रा, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, शोधनिर्देशक-डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय, वरिष्ठ प्रवक्ता, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी.

भारतीय दर्शन में मानव जीवन के धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष ये चार पुरुषार्थ माने गये हैं। साध्य या आदर्श-दृष्टि से विचार करने पर चारों पुरुषार्थों में से मोक्ष को ही समस्त भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शनों में साध्य के रूप में स्वीकार किया गया है, क्योंकि सारे प्रयास जिसके लिये हैं वह आध्यात्मिकता की प्राप्ति है। यह एक तथ्य है कि सभी पुरुषार्थ धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष एक दूसरे से स्वतन्त्र और निरपेक्ष होकर नहीं रह सकते। मोक्ष के लिये धर्म आवश्यक है, धर्म के लिये शरीर, जो कि काम से पूरा होता है और उसकी पूर्ति के लिये अर्थ भी समान रूप से उपयोगी है। अतः परम साध्य मोक्ष है और इस साध्य की प्राप्ति के लिये अलग-अलग साधनों का वर्णन किया गया है। समूचे भारतीय दर्शन का लक्ष्य भी इस परम पुरुषार्थ की प्राप्ति तथा परम साध्य के उपायों का विशद व गहन विश्लेषण करना है। यद्यपि विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों तथा परम्पराओं ने अपनी-अपनी दृष्टि से विशिष्ट साधना मार्गों की स्थापना की; किन्तु साधना मार्ग के प्रतिपादन में इनमें पर्याप्त मतवैभिन्न है फिर भी उनका परम लक्ष्य उस परम ध्येय को पाना है जिसके लिये मनुष्य निरन्तर प्रयत्नशील रहा है।

मानव मस्तिष्क के इतिहास में भारतीय विचारधारा का एक अत्यन्त शक्तिशाली और भावपूर्ण स्थान है। भारतीय विचारधारा की अवैदिक-परम्परा का जैन दर्शन तथा आगमिक-परम्परा का शैव दर्शन भी इस चिन्तन भूमि में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। जैन दर्शन श्रमण-परम्परा के अनुरूप तथा शैव दर्शन आगमिक परम्परा के अनुरूप अपने-अपने साधना मार्गों का वर्णन करते हैं और उससे कहीं ज्यादा साधना मार्गों के प्रतिपादन में अपनी गम्भीरता दिखाते हैं।

समग्र जैन आध्यात्मिक साधना को समत्व की साधना कह सकते हैं। जैन दर्शन की ऐसी विचारणा है कि व्यक्ति चाहे दिगम्बर हो या श्वेताम्बर, बौद्ध हो या अन्य किसी मत का लेकिन जो भी समभाव का होगा वह निःसन्देह मोक्ष प्राप्त करेगा। जैन आचार दर्शन के अनुसार सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, सम्यक् चारित्र और सम्यक् तप— ये साधना पथ हैं और जब ये सम्यक् चतुष्टय अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सौख्य और अनन्त शक्ति को उपलब्ध कर लेते हैं तो वही अवस्था साध्य बन जाती है। साधना पथ और साध्य दोनों ही आत्मा की अवस्थाएँ हैं। आत्मा की सम्यक् अवस्था साधना पथ है और पूर्ण अवस्था साध्य है।

आगमिक-परम्परा के शैव सिद्धान्त की साधना के सन्दर्भ में ऐसी मान्यता है कि यह संसार मलों से आबद्ध है। जब तक मलों से पूर्ण निवृत्ति नहीं होगी, दुःख की पूर्वरता बनी रहेगी। अतः शैव सिद्धान्त का शिव जीवात्माओं की भलाई के उद्देश्य से जगत् की रचना करता है और जीवात्माओं को दुःखों से मुक्ति दिलाना चाहता है। शिव के इस उद्देश्य के पीछे उसका लक्ष्य जीव को सृष्टि प्रक्रिया में सक्रिय रूप से भाग लेने के लिये प्रेरित करना है। अतः शिव लीला द्वारा उसे मायोत्पादित शरीर प्रदान

करता है तथा कर्म करने के लिये प्रेरित करता है तथा संहार द्वारा आत्माओं को विश्राम का अवसर भी देता है। शिव जीव पर अनुग्रह द्वारा शक्तिपात करता है। शक्तिपात के अनन्तर दीक्षा से जीव शिवोहम् भावना का अनुभव करता है और यही भावना मोक्ष का स्वरूप है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध सात भागों में बाँटा गया है। प्रथम अध्याय दो खण्डों में विभाजित है। प्रथम खण्ड में जैनधर्म के इतिहास और साहित्य के अन्तर्गत उसके विकास और प्रादुर्भाव का क्रमिक अध्ययन किया गया है। प्रस्तुत अध्याय में जैन दर्शन की प्राचीनता सम्बन्धी साक्ष्यों के वर्णन के साथ-साथ २४ तीर्थङ्करों के जीवन और उपलब्धि का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। जैन दर्शन का साहित्य अत्यन्त विशाल है अतः उसे एक अध्याय के अन्तर्गत समेटने का प्रयास तो व्यर्थ है फिर भी उसे प्रस्तुत शोधप्रबन्ध में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है।

द्वितीय खण्ड में शैव सिद्धान्त का इतिहास और उसकी प्राचीनता सम्बन्धी साक्ष्यों का विवेचन किया गया है। शैवदर्शन की प्राचीनता सिन्धु सभ्यता के भी पहले से मानी जाती है। इस साक्ष्य के अनुसार शैव दर्शन अत्यन्त प्राचीन है। इस प्रबन्ध में आगम काल, शैव सन्तों का काल और दार्शनिक काल इन तीनों का विवेचन किया गया है। यद्यपि शैवागम के विषय में सामग्री अत्यन्त अल्प मात्रा में ही उपलब्ध है फिर भी यथा उपलब्ध सामग्री के आधार पर यहाँ इसका विवेचन है।

द्वितीय अध्याय “शैव दर्शन में साध्य” के अन्तर्गत तीन प्रमुख तत्त्व जीव, बन्धन और मोक्ष का वर्णन किया गया है। ये तीनों तत्त्व खण्ड ‘अ’, ‘ब’ और ‘स’ में विभाजित हैं। शैव दर्शन में जीव, बन्धन और मोक्ष को महत्त्वपूर्ण माना गया है। शैव सिद्धान्त दर्शन में तीनों तत्त्वों को पति, पशु और पाश की संज्ञा दी गयी है।

तृतीय अध्याय के अन्तर्गत जैन दर्शन के तीन प्रमुख तत्त्वों का प्रतिपादन किया गया है। प्रस्तुत अध्याय में जीव तत्त्व का परिमाण, भेद, प्रकार तथा जीव का बन्धन और बन्धन उच्छेद की प्रक्रिया का विवेचन करते हुए जीव तत्त्व के मोक्ष का वर्णन किया है।

चतुर्थ अध्याय में साधना की अवधारणा के अन्तर्गत जैन दर्शन में वर्णित त्रिरत्न का संक्षिप्त विवेचन किया गया है तथा साथ ही साथ यह बताया गया है कि जैन दर्शन में भक्ति द्वारा भी मोक्ष की प्राप्ति की जा सकती है। इस प्रकार इस अध्याय में कर्ममार्ग, भक्तिमार्ग, ज्ञानमार्ग और योगमार्ग का विशद विवेचन है।

पञ्चम अध्याय में शैव सिद्धान्त में साधना की अवधारणा की विवेचना की गयी है। शैव सिद्धान्त में साधना का विशद विवेचन होते हुए भी उसकी साधना सम्बन्धी साक्ष्य अत्यन्त अल्प मात्रा में प्राप्त होते हैं। शैव सिद्धान्त में मोक्ष के चारों मार्गों कर्म,

भक्ति, ज्ञान और योगमार्ग के साथ-साथ शिवोहम्, 'दशक्रियाणी', 'शक्तिपात' दीक्षा आदि का भी मोक्ष के साधन अथवा उपाय के रूप में विवेचन किया गया है।

षष्ठ अध्याय में दोनों दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है तथा दोनों दर्शनों की साधना पद्धतियों में समानता और विषमता का यहाँ विवेचन किया गया है। जैन दर्शन निवृत्तिमार्गी है और शैव दर्शन प्रवृत्तिमार्गी अतः दोनों की साधना पद्धतियों में विषमता स्वाभाविक है जिसकी तुलना भारतीय विचारधारा के अन्तर्गत की गयी है।

सप्तम और अन्तिम अध्याय उपसंहार है, जिसमें शोध-प्रबन्ध के उपर्युक्त अध्यायों में विवेचित प्रमुख बिन्दुओं की समीक्षा प्रस्तुत है।



सिद्धसेन दिवाकर के 'सन्मतितर्क' का दार्शनिक अध्ययन

(शोधप्रबन्ध- सार)

श्रीमती किरण श्रीवास्तव

भारतीय दर्शन में जैन दर्शन का एक विशिष्ट स्थान है। आचार में अहिंसा, विचार में अनेकान्तवाद, वाणी में स्याद्वाद तथा समाज में अपरिग्रह ये चार मुख्य स्तम्भ हैं जिन पर समूचा जैन दार्शनिक प्रासाद अवस्थित है। जैन दर्शन में तत्त्वमीमांसीय एवं ज्ञानमीमांसीय अवधारणाओं का अत्यन्त सूक्ष्म विवेचन एवं तदनुसार उस पर विराट दार्शनिक साहित्य का सृजन हुआ है। साहित्य की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध जैन दर्शन का सम्पूर्ण तत्त्वज्ञान आगम तथा आगमेतर साहित्य में उपलब्ध है। आगमों में निबद्ध गूढ़ दार्शनिक मान्यताओं के प्रकटीकरण में आगमेतर दार्शनिक साहित्य का विशिष्ट अवदान है। कालक्रम के आधार पर जैन दर्शन के विकास की निम्न अवस्थाएँ मिलती हैं—

(१) आगमिक युग— भगवान् महावीर के निर्वाण से लेकर करीब एक हजार वर्ष का अर्थात् विक्रम की पाँचवीं शताब्दी तक।

(२) अनेकान्त स्थापना युग— विक्रम की पाँचवीं शताब्दी से आठवीं शताब्दी तक।

(३) दार्शनिक समीक्षा युग— विक्रम की आठवीं से सत्रहवीं शताब्दी तक।

(४) नवीन न्याय युग— विक्रम की सत्रहवीं से आधुनिक समयपर्यन्त।

इनमें अनेकान्त स्थापना युग वह समय है जब जैन परम्परागत दार्शनिक मान्यताओं का स्थिरीकरण हुआ तथा उनकी तार्किक गवेषणा की गयी। इस युग में अनेक ऐसे आचार्य हुए जिन्होंने अपनी तार्किक क्षमता से पूर्वस्थापित दार्शनिक मान्यताओं का विश्लेषण कर अपने कतिपय विशिष्ट सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। अनेकान्त स्थापना युग के पाँच प्रमुख दार्शनिक हैं— आचार्य सिद्धसेन, आचार्य समन्तभद्र, आचार्य मल्लवादी, आचार्य भट्टअकलंक और पात्रकेशरी। सिद्धसेन दिवाकर (४थी-५वीं शती) इस युग के प्रमुख दार्शनिक हैं। तार्किक दृष्टि से अनेकान्तवाद को

*. शोधछात्रा, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, शोध-निर्देशक, डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय, वरिष्ठ प्रवक्ता, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी.

प्रस्तुत करने का बहुत बड़ा श्रेय आचार्य सिद्धसेन दिवाकर को है। आचार्य सिद्धसेन जैन साहित्य में, संस्कृत भाषा में तर्कपूर्ण काव्यमय स्तुति की रचना करने वाले प्रथम दार्शनिक भी हैं। इन्होंने दर्शन के क्षेत्र में नयी दृष्टियाँ दीं, जैन-न्याय का बीजारोपण किया तथा जैन सिद्धान्तों का तर्कपुरस्सर सूक्ष्म अध्ययन कर तात्त्विक मान्यताओं पर चिन्तन मनन का द्वार उद्घाटित किया। महावीरोपदिष्ट नयवाद और स्याद्वाद को आधार बनाकर सिद्धसेन ने जैन सिद्धान्तों की अपनी तार्किक गवेषणा प्रारम्भ की। सिद्धसेन ने **सन्मतितर्क**, **बत्तीसबत्तीसियों** (द्वात्रिंशत्द्वात्रिंशिका), **न्यायावतार**, **कल्याणमन्दिरस्तोत्र** आदि ग्रन्थों की रचना की जिसमें **सन्मतितर्क** का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है।

सन्मतितर्क आचार्य सिद्धसेन की एक महत्त्वपूर्ण प्राकृत रचना है। जिस समय **सन्मतितर्क** की रचना हुई उस समय आगम समर्थक जैन विद्वान प्राकृत भाषा को पोषण दे रहे थे। सम्भवतः इन विद्वानों की अभिरुचि का सम्मान करने के लिये ही **सन्मतितर्क** की रचना सिद्धसेन ने प्राकृत भाषा में की है। प्रमाण-विषयक सामग्री को प्रस्तुत करने वाला यह सर्वप्रथम जैन ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के कलेवर में तीन काण्ड एवं १६७ गाथाएँ हैं। प्रथम काण्ड में ५४ गाथाएँ हैं और इसमें नयवाद का विशद विवेचन किया गया है। नयों का गम्भीर तलस्पर्शी चिन्तन करने वालों को यह काण्ड समुचित सामग्री प्रस्तुत करता है। दूसरे काण्ड में ४३ गाथाएँ हैं, जो पञ्चज्ञान का समुचित विवेचन प्रस्तुत करती हैं। तृतीय काण्ड में ६० गाथाएँ हैं, इसमें ज्ञेयतत्त्व की चर्चा के साथ अनेकान्त और स्याद्वाद की तर्कानुप्राणित व्याख्या की गयी है।

तत्त्वचिन्तन के सम्यक् पथ की व्याख्या करते हुए सिद्धसेन ने आठ बातों पर जोर दिया, इसमें से चार बातें तो वे ही हैं, जिन पर स्वयं महावीर ने जोर दिया था। वे चार बातें हैं— द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। इसके अतिरिक्त पर्याय, देश, संयोग और भेद पर भी उन्होंने जोर दिया। वैसे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव में शेष चारों का भी समावेश हो जाता है। वस्तु तत्त्व के सम्यक् विश्लेषण के लिये इन दृष्टियों का होना अत्यन्त आवश्यक है।

सिद्धसेन ने एक नयी परम्परा स्थापित की- वह परम्परा है- दर्शन और ज्ञान के अभेद की। जैनों की आगमिक-परम्परा सर्वज्ञ के दर्शन और ज्ञान को भिन्न मानती थी। सिद्धसेन ने इस मान्यता पर प्रहार किया और अपने तर्कबल से यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि सर्वज्ञ के दर्शन और ज्ञान में कोई भेद नहीं है। सर्वज्ञत्व के अवसर पर पहुँच कर दोनों एक रूप हो जाते हैं। उन्होंने अवधि और मनःपर्यय को भी एक सिद्ध करने का प्रयास किया है। साथ ही ज्ञान और श्रद्धा को भी एक सिद्ध किया है। सिद्धसेन ने जैनागमों में प्रसिद्ध सात नयों के स्थान पर छः नयों की स्थापना की। नैगम को स्वतन्त्र नय न मानकर सिद्धसेन ने उसे संग्रह और व्यवहार में समाविष्ट कर दिया।

उन्होंने कहा कि जितने वचन के प्रकार हो सकते हैं, उतने ही नय के प्रकार हो सकते हैं, जितने नयवाद हो सकते हैं और उतने मत-मतान्तर भी हो सकते हैं। ज्ञान और क्रिया में एकान्तिक आग्रह को चुनौती देते हुए सिद्धसेन ने घोषणा की कि ज्ञान और क्रिया दोनों आवश्यक हैं। ज्ञान और क्रिया का सम्यक् संयोग ही वास्तविक सुख प्रदान कर सकता है। जन्म और मरण से मुक्ति पाने के लिये ज्ञान और क्रिया दोनों आवश्यक हैं। इस प्रकार के कई महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त आचार्य सिद्धसेन द्वारा प्रतिष्ठापित किये गये हैं। सिद्धसेन ने वास्तव में जैन दर्शन के इतिहास में एक नये युग की स्थापना की।

उनकी रचनाओं में **सन्मतितर्क** ही ऐसी रचना है, जिसके कर्तृत्व को लेकर कोई विवाद नहीं है। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों आम्नाय इसे सिद्धसेन दिवाकर की ही कृति मानते हैं। इनकी अन्य रचनाएँ **न्यायावतार**, **द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका** तथा **कल्याणमन्दिर-स्तोत्र** को लेकर आज भी विद्वानों में मतभेद है। अर्वाचीन विद्वान् **न्यायावतार** को सिद्धसेन की कृति नहीं मानते हैं। इसके पक्ष और विपक्ष में उठाये गये अनेक प्रश्नों का सतर्क समाधान शोध-प्रबन्ध में प्रस्तुत किया गया है।

अपने इस शोध-प्रबन्ध में हमने **सन्मतितर्क** में निहित ज्ञानमीमांसीय और तत्त्वमीमांसीय विषयों की तर्कानुप्राणित व्याख्या के लिए समूचे शोधप्रबन्ध को छः अध्यायों में बाँटा गया है—

प्रथम अध्याय : भारतीय दार्शनिक चिन्तन में जैन दर्शन का स्थान

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध के प्रथम अध्याय में तीन खण्ड हैं। प्रथम खण्ड में जैन दार्शनिक चिन्तन का सामान्य परिचय है जिसके अन्तर्गत जैन दर्शन का उद्भव एवं विकास, २४ तीर्थङ्करों की परम्परा, जैन-आगम साहित्य, प्रमाणमीमांसा, ज्ञानमीमांसा, तत्त्वमीमांसा, कर्ममीमांसा और आचारमीमांसा की विस्तृत चर्चा प्रस्तुत की गयी है। द्वितीय खण्ड में जैन दार्शनिक चिन्तन की विशिष्टता, अनेकान्तवाद का अर्थ, स्वरूप, अनेकान्तवाद और एकान्तवाद, अनेकान्तवाद और स्याद्वाद, विभिन्न दर्शनों में अनेकान्तवाद, अनेकान्तवाद की व्यापकता और अनेकान्तवाद की दार्शनिक पृष्ठभूमि की विस्तृत चर्चा प्रस्तुत की गयी है। तृतीय खण्ड में जैन दार्शनिक चिन्तन के ऐतिहासिक विकासक्रम, आगमिक युग, अनेकान्त स्थापना युग, दार्शनिक समीक्षा युग की विस्तृत विवेचना है।

द्वितीय अध्याय : सिद्धसेन दिवाकर और उनकी कृतियाँ

द्वितीय अध्याय में कुल छः खण्ड हैं। प्रथम खण्ड में जैन दार्शनिकों में सिद्धसेन दिवाकर का स्थान, द्वितीय खण्ड में उनका जीवन वृत्तान्त, तृतीय खण्ड में सिद्धसेन की चार महत्त्वपूर्ण कृतियाँ— **सन्मतितर्क**, **द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका**, **न्यायावतार** और

कल्याणमन्दिरस्तोत्र का विस्तृत विवेचन है। चतुर्थ खण्ड में सिद्धसेन की कृतियों में **सन्मतितर्क** का क्या स्थान है, इसकी विशद विवेचना की गयी है। पञ्चम खण्ड में उनके काल का निर्धारण किया गया है तथा छठे खण्ड में सिद्धसेन के दार्शनिक अवदान के अन्तर्गत दर्शन और ज्ञान के युगपत् भाव का प्रतिपादन पक्ष और विपक्ष, नयों का पुनर्वर्गीकरण, ज्ञान और क्रिया के एकान्तिक आग्रह का निराकरण, अनेकान्त व्यवस्थापन, जैन दर्शन को सिद्धसेन दिवाकर का अवदान आदि विषयों की विस्तृत चर्चा की गयी है।

तृतीय अध्याय : सन्मतितर्क का सामान्य परिचय

तृतीय अध्याय में पाँच खण्ड हैं। प्रथम खण्ड में **सन्मतितर्क** की भाषा, गाथा संख्या, रचना काल की चर्चा प्रस्तुत की गयी है। द्वितीय खण्ड में **सन्मतितर्क** की विषय-वस्तु का विवेचन किया गया है। तृतीय खण्ड में **सन्मतितर्क** पर पूर्ववर्ती दार्शनिकों का क्या प्रभाव है, इसकी व्याख्या की गयी है। चतुर्थ खण्ड में **सन्मतितर्क** पर उत्तरवर्ती दार्शनिकों का क्या प्रभाव है, इसका विशद विवेचन किया गया है। पञ्चम खण्ड में **सन्मतितर्क** के महत्त्व और मूल्यांकन का विवेचन किया गया है।

चतुर्थ अध्याय : सन्मतितर्क में विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों का खण्डन

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के चतुर्थ अध्याय में तीन खण्ड हैं। प्रथम खण्ड में सन्मतितर्ककार द्वारा औपनिषदिक अद्वैतवाद का खण्डन, द्वितीय खण्ड में बौद्धों के क्षण-भंगवाद का खण्डन तथा तृतीय खण्ड में केवली के दर्शन और ज्ञान के क्रमवाद का खण्डन और उसकी विशद विवेचना की गयी है।

पञ्चम अध्याय : सन्मतितर्क की दार्शनिक अवधारणा

पाँचवें अध्याय में चार खण्ड हैं। प्रथम खण्ड में द्रव्य, गुण-पर्याय के सम्बन्ध और उनके भेद-अभेद की चर्चा प्रस्तुत की गयी है। द्वितीय खण्ड में अनेकान्तवाद की स्थापना का विवेचन किया गया है। तृतीय खण्ड में नय योजना तथा चतुर्थ खण्ड में **सन्मतितर्क** में सप्तभंगी की विवेचना की गयी है।

षष्ठ अध्याय : उपसंहार

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का षष्ठ अध्याय उपसंहार है जिसमें पाँचों अध्यायों का संक्षिप्त सार परिचय प्रस्तुत करते हुए हमने अपने शोध निष्कर्षों का प्रतिस्थापन किया है।



ગુજરાતી સાહિત્યમાં જૈન ભક્તિકાવ્યો*

-- પદ્માલાલ રસિકલાલ શાહ

ઊર્મિ અને વિચારની પ્રધાનતાને અનુસરીને કાવ્યના બે પ્રકાર પાડવામાં આવ્યા : ઊર્મિપ્રધાન અને ભુક્તિપ્રધાન. તત્ત્વજ્ઞાન જેવા ગહન વિષય માટે કાવ્યનો પ્રકાર ચિંતનપ્રધાન ગણાય. પરંતુ એથી વાચક કાવ્યનો રસાસ્વાદ ન કરી શકે એ હરીકતને લક્ષમાં લઈ, આપણા પ્રાચીન કવિઓએ તત્ત્વને લગતી બાબતો ઊર્મિકાવ્યો દ્વારા પીરસી છે કારણ, ઊર્મિપ્રધાન કાવ્યો હૃદયંગમ હોય છે. પોતાની અનુભૂતિ માત્ર પ્રગટ કરે એટલે કવિ સફળ થતો નથી; પરંતુ તેની સફળતાનો આધાર એની અનુભૂતિ વાચકમાં કેટલે અંશે પ્રગટ છે એના પર રહેલો છે. શ્રી રામપ્રસાદ બક્ષી કહે છે તેમ, “કવિ પોતાની અનુભૂતિને માત્ર વ્યક્ત કરતો નથી, વાચકના હૃદયમાં એવી જ અનુભૂતિ જગાડવાનો એનો પ્રયત્ન હોય છે. વાચકમાં સમભાવ જગાડે એ જ એની કવિશક્તિની અને કલાની સફળતા છે.”^૧

મહાકવિઓથી માંડીને સામાન્ય કવિઓનાં કવન માટે બે વિષયો સનાતન છે : એક તો ધર્મ અને શૈલિ, સમસ્ત સૃષ્ટિ પ્રત્યેનો રત્નેહ. જગતમાં કોઈપણ કવિ એવો નહિ હોય જેણે આ બંને વિષયો પર પોતાની કલમ અજમાવી નહિ હોય. આ સનાતન વિષયો ઉપર આટલું રચાયા છતાં, દરેકની અનુભૂતિમાં કાંઈકે નવીન તત્ત્વ, કાંઈકે રસાસ્વાદ કરવા જેવું આપણને મળી રહે છે. ધર્મભક્તિનાં કાવ્યોમાં પણ સૂફીવાદીઓની ‘પ્રિયા’ તરીકેની કદવના સ્વાભાવિક થઈ પડી. ભક્તિરસનો પ્રવાહ ભારતભરમાં અવિરત વલો છે, જેમાં મીરાંબાઈ, નરસિંહ મહેતા, કબીર વગેરે મુખ્ય છે.

જૈનોનાં ભક્તિકાવ્યો અને અન્ય દર્શનોનાં ભક્તિકાવ્યોમાં મૂળભૂત ફરક છે. એનું કારણ જૈન દર્શનની ધર્મ પ્રત્યેની દષ્ટિ છે. જૈન દર્શન ધર્મરતને ઇહલૌકિક વસ્તુથી પર, રાગદ્વેષાદિ બંધનોથી રહિત, પુણ્ય કે પાપ—સોનાની કે લોખંડાની બેડી—થી મુક્ત કલ્પે છે, છતાં એ સામાન્ય માનવમાંથી પ્રગટતું સંપૂર્ણ દેવત્વ છે. જ્યારે અન્ય દર્શનોમાં ધર્મરતને જગતકર્તા માનવામાં આવ્યો છે; તેમ જ આ બધી પ્રકૃતિની લીલા એમની હોઈ, ધર્મરલીલાનાં કાવ્યો રચાયાં છે. વૈષ્ણવ સંપ્રદાય અને સંકીર્તનમાં આ ભક્તિરસ,

૧ જુઓ : વા ૧૫૫ વિભાગ, પૃષ્ઠ ૪૦.

*. શ્રી મહાવીર જૈન વિદ્યાલય સુવર્ણ મહોત્સવ અંક, ભાગ ૧ સે સાભાર

શૃંગારરસ મિશ્રિત પણુ બન્યો છે. જૈનો ઈશ્વરને સ્વામી તરીકે સ્વીકારે છે, પરંતુ સાંસારિક દૃષ્ટિથી નહિ, હૃદયની સામી ભૂમિથી, આદર્શની ઉચ્ચ ભૂમિકા સાથે. મીરાંબાઈ વગેરેનાં ભજનોમાં આવી ભૂમિકા છે ખરી. એટલે એવા કવિઓની કૃતિઓ જૈન કવિઓની કૃતિ સાથે સરખાવીશું તો વધુ રસદાયક નીવડશે. સૌપ્રથમ આપણે આનંદધનજીના પ્રીતમ જોઈએ.

ઋષભ જિનેશ્વર પ્રીતમ માહરો,
ચૌર ન ચાહુ રે કંત,
રિત્રયો સાહિય સંગ ન પરિહરે, ભાંગે સાદિ અનંત,
ઋષભ જિનેશ્વર પ્રીતમ માહરો.

—આનંદધનજી ચોવીશી

સરખાવો—

મેરે તો ગિરિધર ગોપાલ, દૂસરા ન કોઈ રે પ્રભુ

—મીરાંબાઈ

જૈન કવિઓની ખૂબી એ છે કે ભક્તિકાવ્યોમાં પ્રિય તરીકેના સંબોધનમાં ઈશ્વર વાચ્યાર્થે નથી હોતો. ખાસ કરીને ચિદાનંદજીનાં પદોમાં આવતાં સંબોધનો વિચારવા જેવાં છે. સાંસારિક સંબંધોનો એમાં ઉપયોગ થયો છે તે આ રીતે : આપણો આત્મા રાગ-રૂપાદિથી ઘેરાયેલો છે, એટલે કુમતિના બાહુપાશમાં જકડાયેલો છે. કુમતિને સુમતિની શોક્ય ગણી ચિદાનંદજીએ પોતાની કાવ્યસરિતા વહાવી છે. જુઓ, સુમતિ પોતાના સ્વામીને કેવી વિનવતિ કરે છે :

પિયા ! પરધર મત જાવો રે, કરુણા કરી મહારાજ,
કુળ મરજાદા લોપકે રે, જે જન પરધર જાવ.

—ચિદાનંદજીના પદો : ૫૬ પહેલું.

પણુ પ્રભોલન વસ્તુ એવી છે કે એમાં પડ્યા પછી હાથ ધસવાના હોય એ જાણવા છતાં પણુ સુમતિના પિયા—આપણે—પરધર જઈએ છીએ, કુમતિનો સંગ કરીએ છીએ. પણુ ધીરજ અને ક્ષમા-શીલતાની મૂર્તિ, આર્યસત્ત્વારી કંઈ પોતાની સજ્જનતા છોડે ખરી કે ? પરગૃહે જ્યાં છતાં પણુ હજુ કાંઈ થયું ન હોય એમ સુમતિ યાચના કરે છે :

પિયા ! નિજ મહેલ પધારો રે, કરી કરુણા મહારાજ,
તુમ બિન સુંદર સાહિયા રે, મો મન અતિ દુઃખ થાય.

—ચિદાનંદજીના પદો : ૫૬ બીજું.

આપણે તો વિહંગાવલોકન કરવા બેઠાં છીએ, માત્ર દૃષ્ટિપાત કરીએ છીએ, એટલે વચ્ચેની અનુભૂતિનો આપણને આજો ખ્યાલ આવી ગયો હશે એમ માની, જ્યારે આત્મા સ્વગૃહે પધારે છે, ત્યારે સુમતિ કેવો આહ્વાદ અનુભવે છે તે જોઈએ :

આજ સખી મેરે વાલમાં નિજ મંદિર આયે,
અતિ આનંદ હૈયે ધરી, હસી કંઠ લગાયે.

—ચિદાનંદજીના પદો : ૫૬ ત્રીજું.

તો આથી તદ્દન વિરુદ્ધ વિરહિણીની દશા, વિરહવેદના જેવી હોય તો આપણે શ્રી દેવચંદ્રજી વિરચિત ચોવીશીના એકાદ સ્તવનનું અવલોકન કરીએ. ઈશ્વરથી અજગાપણું બતાવતાં તેઓ કહે છે :

ઋષભ જિયુંદશું પ્રીતડી
કિમ કિજે હો કહો ચતુર વિચાર,

પ્રભુજી જઈ અળગા વસ્યા
તિહાં કિણે નવિ હો કોઈ વચન ઉચ્ચાર,
ઋપલ જિહુંદશું પ્રીતડી.

ધર્મર સાથે પ્રીતડી બાંધવી છે, પણ કેમ બંધાય? પ્રભુજી તો શિવનગરમાં જઈ વસ્યા. કોઈ કહેશે :
પત્ર દ્વારા અગર મુક્તિ પામતા જીવો સાથે સંદેશો મોકલાવીને પ્રીતિ થઈ શકે, તો તેનો પ્રત્યુત્તર પણ
શ્રી દેવચંદ્રજી પાસે હાજર જ છે :

કમળા પણ પહોંચે નહિ
નવિ પહોંચે હો તિહાં કો પરધાન,
જે પહોંચે તે તુમ સમો
નવિ ભાંખે હો કોઈનું વ્યવધાન,
ઋપલ જિહુંદશું પ્રીતડી.

ઉપરની વેદનામાં આપણે પ્રેમની અધૂરપ જોઈ. એકમાં આત્મા પર-રમણીમાં રમમાણ છે, તો
બીજામાં વિરહ-વેદનાને ઉત્કટ દર્શાવી છે. પરંતુ જે પ્રેમાનુભવ કરે છે એનું શું? એ માટે તો શ્રી મોહન-
વિજયજીની પંક્તિઓ જુઓ :

પ્રીતલડી બંધાણી રે, અગ્નિત જિહુંદશું...

શ્રમજીવી મનુષ્યનો વિચાર કરો. આગીચ ચિત્ર મન સમક્ષ ખડું કરો. આખા દિવસના પરિશ્રમ
પછી ઘેર આવતાં ખેડૂત કેટલો પ્રકુલિલ થાય છે! આનંદધનજી, વીરવિજયજી, તેમ જ મહોપાધ્યાય
યશોવિજયજી સામાજિક વાતાવરણ, ધર્મની બાબતો, તત્ત્વની નિરર્થક ચર્ચા અને સાંસારિક પાપમય
જીવન—એ બધું ઊંડી ધ્રુવરને નિહાળે છે, સ્વગૃહે આંચે છે, ભારે કેવા હૃદયંગમ ઉદ્દગારો નીકળે છે ! :

દુઃખ દોહગ દૂરે ટળ્યાં રે, સુખ સંપદ શું રે ભેટ,
ધિંગ ધણી માથે કિયો રે, કુણુ નર ગંજે ખેટ,
વિમલગ્નિન | દીઠાં લોયણુ આજ.

—આનંદધનજી

એ જ રીતે મહોપાધ્યાય યશોવિજયજી મહારાજ પોતાની આગવી કાવ્યશક્તિ દ્વારા બ્રૂખ્યાને ભોજન
નહિ, પરંતુ ઘેવર જેવાં પકવાન મળે અને જે આનંદ થાય એવો જ આનંદ લગવાનનાં દર્શનથી ભક્તને
થાય છે એ વાતનું યથાર્થ નિરૂપણ કરે છે :

બ્રૂખ્યા હો પ્રભુ, બ્રૂખ્યા મળ્યા ધૃતપૂર
તરસ્યા હો પ્રભુ, તરસ્યા દિવ્ય ઉદક મિલ્યાં જી...દીઠી હો પ્રભુ

આ સાથે મીરાંબાઈના ઉદ્દગારો પણ સરખાવીએ :

પામોજી મૈને રામ રતન ધન પામો.

આજના યુગમાં લખાતી પ્રણય-ત્રિકોણની વાર્તાઓના વાયકને કદાચ યશો કે આ પણ
પ્રણય-ત્રિકોણને અંતે સર્જતો સુખાંત છે; પણ એવું નથી. વાર્તામાં બનતી વાતો કાલ્પનિક પાત્રો માટે
બને છે, જ્યારે ઉપરનાં રસદર્શનમાં જણાવેલી હકીકત આપણા સર્વેના જીવનમાં અનુભવાતી ખરી
સંવેદના છે. જ્યારે સાધક નિજ પિયાની (સુમતિની) વિનવિત અવગણે છે, અને આખરે પસ્તાય છે
ભારે શું થાય છે ?

વિરથા જન્મ ગુમાયો,
રે મૂરખ ! વિરથા જન્મ ગુમાયો

—ચિદાનંદજીનાં પદો : ૫૬ સોળમું

આપણી રોજની રામકહાની કોઈને આજે તાત્કાલિક સમગ્રય છે તો સુમતિને મિલાપનો આનંદ અર્પી શકે છે અને પોતે પણ નિર્જનન્દ માણી શકે છે. જેને પાછળથી સમગ્રય છે એને પશ્ચાત્તાપરૂપી ઝરણુમાં સ્નાન કરવાનું સફળાગ્ય સાંપડે છે અને તે પવિત્ર થવાનો યોગ પ્રાપ્ત કરે છે, ત્યારે ગત જીવનના સંસ્મરણો દિવારવધનો જેવા લાગતાં આત્મા પુકારે છે :

રે નર ! જગ સપનેકી માયા

—ચિદાનંદજીનાં પદો : ૫૬ સત્તરમું.

સૌથી વિશેષ કાનુષ્ય તો ત્યારે પ્રગટે છે જ્યારે સુમતિની વિનયિતિ આપણે અંતરાત્માથી અવગણી શકીએ તેમ ન હોઈએ અને કુમતિના સંકળમાં સપડાયેલા હોઈએ, એટલું જ નહિ પરંતુ તેમાંથી છૂટવાનો અવકાશ જણાતો ન હોય, અને એવી ત્રિશંકુ જેવી દશા હોય ત્યારે ?

પ્રભુ મેરો મનગે હટકયો ન માને.

બહુત ભાંતરે સમગ્રયો, યાંકુ ચોડે છે હું અરુચ જાને,
પણ ઇષિ શિખામણુ કછુ રંચક, ધારત નવિ નિજ કાને,
પ્રભુ ! મેરો મનગે હટકયો ન માને.

—ચિદાનંદજીનાં પદો : ૫૬ એકવનમું.

આવી દશા કાંઈ ચિદાનંદજી એકલા જ અનુભવે છે એવું થોડું છે? આનંદધનજી પણ વર્તમાન ચોવીશીના સત્તરમા તીર્થકર શ્રીકુંડુનાથ ભગવાનના સ્તવનમાં કહે છે :

સુર નર જન પંડિત સમગ્રવે, સમજે ના માહરો સાળો,^૫

હો કુંથુજિન ! મનકું કિમ હી ન બાળે.

મન કેવું છે તેની વ્યાખ્યા આપી શકાય ખરી? આ પ્રશ્ન આનંદધનજી જેવા સિદ્ધહસ્ત કવિ માટે પણ વિકટ છે. જતાં તેઓ લખે છે :

જે કમ કહું તો કમ તો ના દેખું

શાહકાર પણ નાહી,

સર્વ માંહે ને સહુથી અળગું

એ અચરિજ મન માંહી,

હો કુંથુજિન ! મનકું કિમ હી ન બાળે.

મન કામ્રમાં નથી. મન વિષે બપાન પણ કહ્યું. એનો ઉપાય બતાવતાં ખરેખરો સાધક કોણ છે એ દર્શાવે છે ત્યારે 'મનઃ એવ મનુષ્યાણામ્ કારણં વન્ધ મોક્ષયોઃ ।' સૂત્ર યાદ આવ્યા વિના રહેતું નથી :

'મન સાધ્યું તિણે સધયું સાધ્યું,

એહ વાત નહીં ખોટી.'

—આનંદધનજી

૨ રીત. ૩ પ્રગટ. ૪ અને.

૫ આત્માની પરિણતિ—જિજ્ઞાસુ પરિવિચિતિ તે આત્માની પત્ની. તેનો ભાઈ તે આપણું મન. એટલે અહીં 'સાળો' કહ્યો છે.

જૈનેતર ભક્ત કવિઓએ ભક્તિતરસ વહાવવા ઉપરાંત સામાજિક ટીકાઓ કરી છે અને એમાં અપ્પો મોખરે છે. જૈન કવિઓમાં કોઈએ સામાજિક પ્રહારો કર્યા છે કે કેમ, એવો પ્રશ્ન સ્વાભાવિક થાય. આનંદધનજીએ સમાજ પર પ્રહારો કર્યા છે, જે તુલનાદૃષ્ટિએ અપ્પાની જેમ આકર નથી, પરંતુ હળવા છે. અપ્પો અને આનંદધનજી એવા સમયમાં થયા કે જ્યારે સમાજ અંધાધૂંધીમાં, ધર્મોપદાના ગતીધકારમાં સપડાતો હતો. લોકોને ભક્તિ તો સદા રુચિ છે, પરંતુ તેની ભાવનાને વિસારે પાડી એટલે માત્ર આશ્ચર્ય રહ્યું. સમસ્ત ભારતના કવિઓની કૃતિઓમાં ભક્તિતરસ અર્થે છે તેનું કારણ કદાચ ઉપર બધાન કર્યા મુજબની સામાજિક સ્થિતિ હોય. મીરાંબાઈ, ધીરો, ભોળે ભગત, પીપા ભગત, દયારામ, નરસિંહ મહેતા, કબીર વગેરેનું ઉદ્દ્યોધન આપણે જોઈએ તો ભક્તિભાવનો વિચાર કેન્દ્રસ્થાને છે. અપ્પાએ તો પોતાની તીક્ષ્ણ કલમ વડે સમાજને ચાલુઆ ફટકાર્યા છે. શ્રી આનંદધનજીને સમાજ પિછની શક્યો નહિ. એથી તેઓ આત્મલક્ષી બન્યા, અને વનવાસ સેવ્યો. રતવનો જંગલમાં રચ્યાં, પરંતુ સમાજની—સાધુસમાજની અસરથી મુક્ત રહ્યા નહિ. એમનાથી કહેવાઈ ગયું :

ગચ્છના ભેદ બહુ નયણુ નિહાળતાં
તત્વની વાત કરતાં ન લાગે,
ઉદર ભરણાદિ નિજ કાજ કરતાં થકાં
મોહ નડિયા કલિકાલ રાજે.

ભક્તિકાવ્યોની ચર્ચા કરતી વખતે આવા ઉદ્દ્યોધને એટલા માટે સ્થાન આપ્યું છે કે આપણા પ્રાચીન કવિઓની એક વિશિષ્ટતા છે કે તેઓ પોતાની સામાજિક સ્થિતિને કાવ્યમાં વણી લેતા. આ દૃષ્ટિએ તે સમયના સમાજ દર્શન માટે આવાં કાવ્યો નજર બહાર ન રહેવાં જોઈએ. જૈન સમાજ અનેક ફિરકાઓમાં વહેંચાયેલો છે એનું સમર્થન યથાર્થ રીતે થયું છે. જોકે આલું કથન કવચિત જ થયું છે. બાકી એમનાં કાવ્યો ભક્તિરસથી ભરપૂર છે. ધર્મરથેલાને લોકો શું કહે ? પાગલ જ ને ? ભક્તિ-ધૂનીને લોકો આગલ કહે એવો વિચાર તેઓ વ્યક્ત કરે છે પણ ખરા :

દરિશણુ દરિશણુ રટતો જો ફિરું,
તો રણુ રોજ સમાન.

પણુ સમાજના ડરથી બીધા નહિ. તેમને તરત જ ખ્યાલ આવે છે કે ધર્મર-રાગીને દુનિયા સાથે શો સંબંધ ? સાચા ભક્તને આવો વિચાર ન હોય. તરત જ ઉમેરી દે છે :

જેહને પિપાસા હો અમૃતપાનની,
કિમ ભાંજે વિષપાન ?

અભિનંદન જિન દરિશણુ તરસીએ.

જૈન દર્શનમાં દરેક વિષયનું સૂક્ષ્માતિસૂક્ષ્મ અવલોકન થયું છે. એમાં જોટકું ભુદ્ધિમાલ છે એટલું જ એ જાનિ-પ્રધાન છે. સ્યાદ્દ મતથી સામા પક્ષની લાગણીનો વિચાર કરવાનો અવકાશ મળે છે. એટલે એમના પ્રતિ ઉદ્દેશ થવાને બદલે પ્રેમ, મિત્રી કે કારુણ્ય પ્રગટશે. જેમ જૈન તત્ત્વજ્ઞાન દરેક વિષયને જાણણુથી સ્પર્શે છે, તેમ જૈન કવિઓએ કાવ્યમાં જાનિને સૂક્ષ્મદૃષ્ટિથી અવલોકી છે. આ સૂક્ષ્મદૃષ્ટિમાં જૈનેતર કવિઓ અને જૈન કવિઓમાં થોડોક ફરક છે. અન્ય કવિઓએ શીકુબ્ધિની લીલાનાં બધાન જાનિ-સભર કર્યાં છે, એમના યુગ્મબાન ગાયાં છે; જ્યારે જૈન કવિઓએ યુગ્મબાન કીર્તન કરવા ઉપરાંત, અપ્રતિમ ભક્તિ છતાં, જ્યારે ઈશ્વર ઉપકારક ન થતો હોય ત્યારે મીઠો ઉપાસંભ આપતાં કાવ્યો આપ્યાં છે, અગર તો આપણી ભક્તિમાં કયાંક ન-નતા છે, એટલે આત્મનિરીક્ષણુ કરે છે. મીઠો ઉપાસંભ આપવામાં મોહનવિજયજી, યશોવિજયજી, ચિદાનંદજી વગેરે મોખરે છે; જ્યારે આત્મનિદાના બીજન

પ્રકારમાં દેવચંદ્રજી, કુમારપાળવિરચિત આત્મનિંદા વગેરે આગળ છે. આપણે મોહનવિજયજીથી શરૂઆત કરીએ :

શિવ પદ દેવાં જે સમરથ હો,
તો યશ લેતાં શું જન ?

હો પ્રભુજી ! ઓળંભડે મત ખીન્ને.

એટલું ખરું કે જૈન સ્તવનો, સજ્જાયાદિ પ્રાચીન હંદો કે અખાની માફક હાપામાં રચાયાં નથી એટલે હાલ લોકભોગ્ય નથી. પરંતુ એવી રીતના રાગ-રાગિણીમાં રચાયેલાં છે કે જે સામાન્ય માણસ પણ ગાઈ શકે—એની પ્રવાહિતાનો આનંદ માણી શકે. હાલ માત્ર જરૂર છે તેવા રાગોને પ્રચલિત કરવાની. આપણા સંગીતકારો પાસેથી આટલી આશા રાખવી અસ્થાને નહિ ગણાય. જોકે ચિત્રપટ સંગીતમાં રચ્યાપચ્યા રહેતા જૈન યુવકો જ આ વસ્તુને પિચાનતા નથી. ક્ષણિક કર્ણપ્રિયતાને વર્જ્ય ગણી, આમ અંધારામાં રહેલી કૃતિઓને ઓપ આપવાની જરૂર છે. નીચેના સ્તવનનો ઢાળ જુઓ :

બાલપણે આપણુ સસનેહી
રમતાં નવ નવ વેશે,
આજ તુમે પામ્યા પ્રભુતાઈ
અમે તો સંસારની વેશે,

હો પ્રભુજી ! ઓળંભડે મત ખીન્ને.

—મોહનવિજયજી

સતયુગમાં, જૈન પરિભાષામાં કહ્યું તો ચતુર્થ આરામાં, લોકો ધણા ભદ્રિક હતા અને અલૌકિક પુરુષો વિદ્યમાન હોવાથી લોકોદાર તાત્કાલિક થતો. જ્યારે આજે કળિયુગ—પાંચમો આરો, અને લોકો મનના મેલાં, એટલે ઇન્દ્રિયની અમીદદિ થાય નહિ. આ સામે કવિનું હૃદય બળવો પુકારે છે, અને મીઠાશથી કહે છે :

શ્રી શુભવીર પ્રભુજી મોંઘે કાગે રે,
દાયંતા દાન રે શાખાશી ધણી.

—આર પ્રતની પૂજન : પં૦ વીરવિજયજીકૃત

તો કોઈ જગ્યાએ હૃદય ભક્તિથી હલકતું હોય પણ આપણી લાગણી આપણા વાલમના ખ્યાલ બહાર રહેતી હોય એવી આપણને આશંકા થાય ત્યારે વિનયિતરૂપે વીરવિજયજીની પંક્તિઓ જુઓ :

ભક્તિ હૃદયમાં ધારજો રે,
અંતર-વૈરીને વારજો રે,
તારજો દીનદયાળ.

—નવાણું પ્રકારની પૂજન : પં૦ વીરવિજયજીકૃત

જેમ શ્રી વીરવિજયજી મોંઘા કાળમાં વરચ્યાની ખરી કિંમત આંકે છે તેમ ચિદાનંદજી પણ આ જ વાતને જરા શુદ્ધ સ્વરૂપે રજૂ કરે છે :

મોહ ગયે જે તારશો,
ધણુ વેળા હો કહાં તુમ ઉપગાર ?
સુખ વેળા સજ્જન અતિ
કુઃખ વેળા હો વિરલા સંસાર,
પરમાતમ પુરણુ કળા.

ઉપલંબ આપતાં જ આપણને સનાતન સત્ય આપ્યું : ' દુઃખ વેળા હો વિરલા સંસાર ! ' તો યશોવિજયજી (સામાન્ય રીતે ' વાયકજશ 'ના નામે ઓળખાતા) જ્યારે ભક્તિમાં લીન બને છે ત્યારે પરિણામ સારુ કેવી અધિરાઈ ઠાપવે છે તે જુઓ :

કરજોડી ઊભો રહું
રાત-દિવસ તુમ ખ્યાને રે,
જે મનમાં આણ્યો નહિ
તો શું કહીએ છાનો રે ?
સંભવ જિનવર વિનંતિ.

ચિદાનંદજીનો નીચેનો ઉપલંબ જુઓ. તેમાં તંઓ પોતાની આજસુધીની પરિસ્થિતિ માટે ઈશ્વરને જ જવાબદાર ઠરાવે છે—પોતાની ન્યૂનતાના સ્વીકાર સાથે !

મોહ મહામદ છકથી
હું છકિયો હો નાહી સંધ લગાર,
ઉચિત સહી ધ્યુ અવસરે
સેવકની હો કરવી સંભાળ,
પરમાતમ પૂરણુ કળા.

પણ જ્યારે ભક્તને એમ યાગે છે કે અન્યની ભક્તિથી ઈશ્વર રીઝે છે અને કદાચ પોતાની ભક્તિમાં ખામી જેવું જણાતું હોય ત્યારે ઈશ્વરને કેવી ચેતવણી અપાય છે તે જુઓ :

સેવા ગુણ રંજ્યો ભવિજનને
જે તુમે કરો ખડભાગી,
તો તમે સ્વામી કેમ કહેવાસો
નિર્ભ્રમ ને નિરાગી ?

હો પ્રભુજી ! ઓળંબડે મત ખીજો.

તો આપણો પ્રિયતમ કેવો સ્વાર્થી છે એ જોવા આપણે ફરીથી ચિદાનંદજીનો સમ્પર્ક સાધીએ :

સર્વ દેશચાતી સહુ
અંધાતી હો કરી ધાત દયાળ,
વાસ કિયો શિવમંદિરે
મોહે વિસરી હો ભમતો જગજાળ,
પરમાતમ પૂરણુ કળા.

પણ મનુષ્યની શક્તિને મર્યાદા છે, એ વાત કવિઓ પણ વિસરી ના શકે. આપણાથી ઈશ્વરની સંપૂર્ણ કક્ષાએ પહોંચી ન શકાય તો એનો એકાદ અંશ પણ આગી લેવાનો હોલ જતો કેમ કરાય ? (આપણા સ્વભાવની વિરુદ્ધ) :

નાણુ રમણુ પામી એકાંતે
થઈ એકાં મેવાસી,
તેહ મંહિલો એક અંશ જે આપો
તે વાતે શાખારી,
હો પ્રભુજી ! ઓળંબડે મત ખીજો.

તો એથી બલકું, મુક્તિની—એના એકાદ અંશની પણ પરવા કર્યા વિના ભક્તિ-રંગમાં જ રમ્યાપચ્યા રહેવાનું મહોપાધ્યાયજીને સૂઝે છે, જેથી ચમકપાષાણુની માફક મુક્તિ આપોઆપ ખેંચાઈ ને મળે. જુઓ :

મુક્તિથી અધિક તુજ ભક્તિ મુજ મન વસી
જેહશું સખલ પ્રતિબંધ લાગ્યો,
ચમક પાષાણુ જિમ લોહને ખીચશે
મુક્તિને સહજ મુજ ભક્તિ રાગો.

ઋષભ જિનરાજ મુજ૦

આ તો વાત થઈ જેને અપૂર્ણતા સાથે પ્રતીતિ પ્રગટી નથી, પણ જેને અપૂર્ણતા સાથે સંપૂર્ણ શ્રદ્ધા હોય તેની શી દશા છે તેની. પણ જેણે ઈશ્વરને નાથ કર્યો છે, જે સનાથ છે, એમનું હૃદય કેવું પુષ્કલિત છે એ આપણે મોહનવિજયજીની પંક્તિમાં જોઈએ :

તારકતા તુજ માહે રે શ્રવણે સાંભળી
તે ભણી હું આગ્યો છું દીનદયાળ જો,
તુજ કરુણાની લહેરે રે મુજ કારજ સરે
શું ધણું કહીએ જાણ્ય આગળ કૃપાળ જો ?
પ્રીતલડી યંધાણી રે અજિત જિણુંદશું

આવી જ ભાવનાને ઉપાલંબ સ્વરૂપે ચિદાનંદજીએ નીચેના શબ્દોમાં આલેખી છે :

જગતારક પદવી લહી
તાર્યા સહી હો અપરાધી અપાર,
તાત કહો મોહે તારતા
કિમ કીની હો ઈણુ અવસર વાર ?
પરમાતમ પૂરણુ કળા.

પં૦ વીરવિજયજી પણ આમ જ કહે છે. કદાચ ઈશ્વર પાસે માગણી તો કરીએ અને ન આપે તો ? જો તો હાજર—મર્યાદા શુભાવવી પડે એટલે ઉપાલંબ સ્વરૂપે કહે છે :

દાયક નામ ધરાવો તો સુખ આપો રે
શિવતરુની આગે રે શી બહુ માગણી ?

આરે મહોપાધ્યાય યશોવિજયજી તો ઘડીક પણ સંગ ન તજવાનું કહે છે. ગુણીજનને ગુણ ધરાવતી વ્યક્તિ સાથે જ પ્યાર હોય ને ? સંગનો રંગ કેવો લાગ્યો છે તે જુઓ :

કોકિલ કલ કૃન્નિત કરે
પામી મંજરી હો પંજરી સહકાર,
ઓછાં તરવર નવિ ગમે
ગિરમાં શું હો હોવે ગુણનો પ્યાર,
અજિત જિણુંદશું પ્રીતડી.

વર્ણુનુપ્રાસ અને ઉપમા અલંકાર કાવ્યની શૃંગારમાં ઓર વધારો કરે છે.

આવા મીઠા ઉપાલંબ તો જેણે સિદ્ધિ સાધી હોય એવા મહાપુરુષો આપી શકે. પરંતુ આપણી જેવા સામાન્ય માણસો ગમે તેવા ભક્તિમાં લીન હોઈએ છતાં નિષ્કળ જઈએ તો ? તો આત્મનિરીક્ષણ જ સંભવે ને ? દેવચંદ્રજી કહે છે :

સ્વામી દર્શન સમો નિમિત્ત લઈ નિર્મળો
ને ઉપાદાન એ શુચિ ન થાશે,
દોષ કો વસ્તુનો અથવા ઉલ્લભ તણ્યો
સ્વામી સેવા સહી નિકટ લાશે.

ઉલ્લભની ખામી જોઈ; પણ હજુ આપણે ડગ પણ માંડ્યું નથી એટલે વિરોધ આત્માવલોકન કરવું જ જોઈએ ને ! આત્મલક્ષી—આત્મનિંદાના કાવ્ય અનુકૂળ બને. જુઓ :

રાગ દ્વેષે ભયોં, મોહ વૈરી નડ્યો
લોકની રીતમાં ધણું એ રાતો,
ક્રોધવશ ધમધમ્યો, શુદ્ધ ગુણ નવિ રચ્યો
ભમ્યો ભવમાંહી હું વિષયભાતો,

તાર હો તાર પ્રભુ, મુજ સેવક ભણી.

આત્મનિંદા માટે તો જૈનોમાં પ્રચલિત 'રત્નાકર પચ્ચીશી' જેવી જોઈએ. આખી રચના આપણા હીણપતભયાં કર્તવ્યની નિંદા કરતી છે. એકાદ કડી તપાસીએ : રચના હરિગીત હંદમાં છે.

હું ક્રોધ અગ્નિથી બળ્યો વળી લોભ સર્પ પ્રયો મને
ગળ્યો માનરૂપી અજગરે હું કેમ કરી ધ્યાવું તને ?
મન માડું માયાભાગમાં મોહન ! મહા મૂંઝાય છે,
ચરી ચાર ચોરો હાથમાં ચેતન ધણું ચગદાય છે.

ક્રોધ, લોભ અને માનને માટે મોજેલાં અનુક્રમે અગ્નિ, સર્પ અને અજગરનાં રૂપકો તેમ જ વર્ણાનુ-પ્રાસ અલંકારથી રચના વધુ આકર્ષક બની છે.

કદાચ સવાલ થશે કે ઈશ્વર તો સર્વદા છે. એટલે આપણાં દરેક કર્તવ્યોનો હિસાબ તો એની પાસે જ ન; તો પછી આપણે બયાન કરવાની શી જરૂર ? બયાન કરવાની જરૂર છે કારણ આપણાં આવાં જોડાં કર્તવ્યોથી આપણું મન ભરાઈ ગયું હોય છે. આપણું દિલ હળવું બને એટલા માટે અજગર તો આપણું મન ભરાઈ આવે ત્યારે આપણા દિલની વાત આપણા નિકટના રનેહીને કહીએ ત્યારે જ નિરાંત થાય એવા માનવસહજ સ્વભાવને 'રત્નાકર પચ્ચીશી'ની શરૂઆતમાં જ કવિએ આલેખ્યો છે :

'જાણ્યો છતાં પણ કહી અને હું હૃદય આ ખાલી કરું'

તદુપરાંત ઈશ્વરને પ્રીતમ તરીકે સ્વીકાર્યો છે. એટલે પ્રેમી તો પોતાના પ્રિયતમને અથથી ઈતિ સુધીનું બધું વર્ણન કરે જ ને ? મોહનવિજયજી પણ કહે છે :

અંતર્મતની પ્રભુ આગળ કહું ગુંજ જો,
પ્રીતલડી બંધાણી રે અજિત જિજ્ઞેષુ.

ઉપરની આત્મનિંદામાં તો બૂલનો એકરાર છે. પણ કુમારપાળવિરચિત (અનુ૦ અમૃતસરી-સ્વરજી મહારાજ) આત્મનિંદામાં દુર્લભ માનવદેહ મળ્યા પછી સચેતન ન થયા, હાથ ધોઈ નાખ્યા, તેનું આલેખન છે :

બહુ કાળ આ સંસારસાગરમાં પ્રભુ હું સંચર્યો,
થઈ પ્રુપ્પરાશિ એકઠી ત્યારે જિનેશ્વર તું મળ્યો.
પણ પાપકર્મ ભરેલ મેં સેવા સરસ નવ આદરી,
શુભ યોગને પામ્યા છતાં મેં ભૂર્પતા બહુએ કરી.

જૈનોમાં મનુષ્ય મરણપથારીએ હોય ત્યારે ખાસ કરીને ધાર્મિક રિવાજોમાં 'પુણ્ય-પ્રકાશ'નું સ્તવન સંભળાવાય છે. આ સ્તવનમાં દુર્લભ માનવદેહની સફળતા ક્યારે થાય, આપણે શું કર્યું, વગેરેની સરવાળા-બાદબાકી છે. જિંદગીના ધન્ય દિવસો ક્યા ? એના જવાબ માટે નીચેના બાવવાહી સ્વરો ગુંજાવો :

ધન ધન તે દિન માહરો
જિંદાં કીધો ધર્મ.....

તો શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર આપણા જેવા માટે એવો ધન્ય દિવસ ક્યારે આવે એની તીવ્ર ઇચ્છા વ્યક્ત કરે છે :

અપૂર્વ અવસર એવો ક્યારે આવશે ?
ક્યારે થઈશું બાહ્યાંતર નિર્ગ્રંથ જ્ઞે ?
સર્વે સંબંધનું બંધન તિક્ષણ્ય છેદીને,
વિચરશું કવ મહત્પુરુષને પંથ જ્ઞે ?

ભૌમિક વસ્તુ જ એવી છે કે જે અનુભવ વિના સમજાતી નથી. જે હોકો ભૌમિક-વિહીન હોય છે, જેમણે પ્રેમાનુભાવ કર્યો નથી હોતો. તેઓ સામી વ્યક્તિની લાગણી સમજી શકતા નથી એટલે લાગણી-વેદ્ય કહી તિરસ્કારે છે, પણ ખરી વસ્તુ તો અનુભવે જ સમજાય છે. જુઓ :

રહસ્યોનો સાતા અનુભવથી ક્યારે થઈશ હું ?

એટલે સાતા પણ અનુભવથી થવાની ઇચ્છા વ્યક્ત કરી.

અનુભવથી સાતા થવાની વાત રુચિ; પરંતુ અનુભવ કોણ કરી શકે ? ચિદાનંદજી આપણને પ્રત્યુત્તર આપે છે :

પણ તુમ દરિશણ્ય યોગથી
થયો હૃદયે હો અનુભવ પરકારા,
અનુભવ અભ્યાસી કરે
દુઃખદાયી હો સવિ કર્મ વિનાશ,
પરમાતમ પૂરણ્ય કળા.

જૈન કવિઓની વિશિષ્ટતા જોયા પછી જૈન અને અન્ય કવિઓ વચ્ચે સમાનતા જોઈએ. જૈન તેમ જ જૈનેતર કવિઓએ અમુક વિષયનું નિરૂપણ બહુ સ્પષ્ટતાથી કર્યું છે, છતાં એક જ હકીકતને જુદી જુદી દ્રષ્ટી સહુએ પોતપોતાની આગવી કવિતા-શક્તિથી આલેખી છે. મુસાફિર ધોર નિદામાં છે એ માટે જુઓ :

ઉઠ જગ મુસાફિર જોર બઈ, અખ રૈન કહાં જે સોવત હે ?
જે સોવત હે વહ ખોવત હે, જે જગત હે વહ પાવત હે.

ચિદાનંદજીનું પદ એની સાથે હવે સરખાવો :

રૈન રહી અખ થોરી.^૭
જગ જગ તુ નિંદ ત્યામ દે
હોત વસ્તુકી થોરી,
મંજિલ દૂર ભયોં ભવસાગર,
માન ઉર, મતિ મોરી.^૮

^૭ થોડી. ^૮ મારા.

અનંતકાળથી આ જીવો સંસારસાગરમાં રહ્યો છે છતાં 'મારું' 'મારું' કરતાં યાકયો નથી. આ વાતને લગભગ બધા જ બહુકવિઓએ કાવ્યના વિષય તરીકે અપનાવી છે.

નથી જીવ તારી રે સુંદર કાયા,
છોડીને ચાલ્યો વણુઝારા રે હોજી.

—કબીર

*

મેલી દે મનથી મારું-તારું રે મનવા
પ્રભુ વિના કોઈ નથી તારું,
સ્મશાન સુધી તારાં સગાં સંબંધી વાલાં
આવીને બાળે તન પ્યારું,
રે માનવી! પ્રભુ વિના કોઈ નથી તારું.

—પીપા ભમત

વાલાં તે વાલાં શું કરો, વાલાં વોળાવી^૯ વળશે
વાલાં તે વનના ઘાકાં તે તો સાથે જ બળશે
એક રે દિવસ એવો આવશે...

—વૈરાગ્યની સજ્જાય : ઉદયરત્નકૃત

અભિમાન એક ભયાનક રોગ છે. વ્યક્તિત્વવાદના આ જમાનામાં એ રોગ જ્યાંસાં નજરે પડે છે. એને મહામદ કહ્યો છે. મદનું સ્વરૂપ સમજવા માટે તો જૈનોની ભરત-બાહુબલીની કથા જ તપાસવી રહી. બાહુબલીએ રાજપાટનો ત્યાગ કરી દીક્ષા અંગીકાર કરી, પણ અહમ્ બાવના ત્યાગી નહિ. ધોર તપસ્યા કરવા છતાં મહામદને કારણે સર્વજ્ઞ થઈ શકતા નથી. આ વસ્તુ સમજવવા માટે જે કોઈ શક્તિમાન હોય તો ભાઈને માટે એમની અતુલ સ્નેહલ બહેનો જ. આ વસ્તુનો આશરો લઈ કવિ એમની બહેનોના આપમાં આ શબ્દો મૂકે છે :

વીરા! ગજ થકી હેઠા ઊતરો

અભિમાનરૂપી હાથી પરથી નીચે ઊતરવાનું કહે છે. 'માન-અભિમાન ન કરો' એનું કારણ આપણને યથાર્થ રીતે, માર્ગદર્શનરૂપે માનની સજ્જાયમાં ઉદયરત્ન સમજવે છે :

રે જીવ! માન ન ક્રાંતિયે
માને વિનય ન આવે,
વિનય વિના વિદ્યા નહિ
તો કિમ સમકિત પાવે ... રે જીવ! માન ન ક્રાંતિયે.

આ પ્રસંગે ગીતાનો ઉપદેશ જરા જોઈએ તો ઠીક પડશે. સાધકને માટે ગીતાજીમાં ત્રણ વસ્તુ પર ખાસ ભાર મૂક્યો છે : પ્રણિપાત, પરિપ્રથમ અને સેવા. આ યુગમાં પ્રણિપાત એટલે નમ્રતા, વિવેક ખાસ ખ્યાલમાં રાખવા યોગ્ય છે. પરિપ્રથમ એટલે ફરી પૂછવું. જિજ્ઞાસાવૃત્તિ એ આવશ્યક અંગ છે. જૈનોમાં ભગવાન મહાવીરના મુખ્ય ગણધર ગૌતમસ્વામી શાલા હોવા છતાં ય કોઈપણ બાબત સંશય થતાં ભગવાન મહાવીરને પ્રશ્નો પૂછતા એ રીતે નમ્રતા દાખવવી. સેવા વિનાની નમ્રતા પુરામતમાં ખરે છે. એટલે સેવા આવશ્યક છે. આ બધા માટે માન-અભિમાન છોડવાની જરૂર છે.

૬ વખાળી.

કુ.મ.૧૦૧૦

માનનો ભાઈ છે દંભ. આચાર અને વિચારમાં એથી સંવાદિતા નથી રહેતી. ચિદાનંદજીની અનુભૂતિ આપણને ઉપકારક થઈ પડશે.

કથણી કથે સહુ કોઈ, રહણી અતિ દુર્લભ હોઈ
શુક રામકો નામ વખાણે, નવિ પરમારથ તસ જાણે
યા વિષ ભણી વેદ સુણાવે, પણ અકળ કળા નહિ પાવે.

—ચિદાનંદજીનાં પદો : ૫૬ અઠવાવીશમું

અખો પણ કહે છે :

તિલક કરતાં ત્રેપન ગયાં, જપમાળાનાં નાકાં ગયાં.

અખાની શૈલી બ્યંગમય-કટાક્ષમય છે, જ્યારે આનંદધનજી પ્રત્યક્ષ કહે છે તે જુઓ :

શુદ્ધ શ્રદ્ધાન વિણુ સર્વ કિરિયા કરી
હાર પર લીંપણું તેહ જાણ્યો.

જૈન સંસ્કૃત સાહિત્યની જેમ જૈન ગુજરાતી સાહિત્ય પણ વિશાળ છે. આ અવલોકન તો એ-ચાર ખ્યાતનામ કવિઓ પૂરતું મર્યાદિત રહ્યું છે, એટલે વિશેષ જિજ્ઞાસુઓએ તો પરિશ્રમ લેવો પડશે. એક યા ખીજાં કારણોથી આ સાહિત્ય અજ્ઞાત રહ્યું છે અગર જૈન સમાજ પૂરતું મર્યાદિત રહ્યું છે તેને આપણા સાહિત્યકારો-સંશોધકો વિશેષ પ્રકાશમાં લાવશે એવી શ્રદ્ધા સાથે વિરમું છું.



The Impact of Nyāya and Vaiśeṣika School on Jaina Philosophy

*Prof. Sagarmal Jain**

The origin of Jain philosophy is, no doubt, earlier than the emergence of Nyāya-Vaiśeṣika schools of Indian philosophy. Historically it starts from Lord Pārśva, the twenty-third Tirthaṅkara who was born at Varanasi in 8th century B.C. Mahāvira, the 24th Tirthaṅkara had adopted various philosophical concepts of Lord Pārśva in toto. Due to the earlier emergence of Jaina philosophy, we do not find any impact of Nyāya-Vaiśeṣika philosophy on the fundamental concepts of Jaina metaphysics and epistemology, such as pañcāstikāyavāda, nine categories (navatattvas), six kinds of living beings, five kinds of knowledge etc. On these earlier concepts of Jaina philosophy we can trace some impact of earlier Upaniṣads as well as earlier Buddhism and other contemporary Śramaṇic traditions, but not of Nyāya-Vaiśeṣika schools. Jainism and Buddhism being sister religions of the Śramaṇic tradition, have various philosophical, religion and ethical concepts in common, so far as their philosophies are concerned. The starting point of both the philosophies is to negate absolutism the one sided views of their contemporary thinkers and thus both the philosophies are based on the same theory of Vibhajyavāda (). But being the Buddha's approach as negative one his philosophy culminated in Śūnyavāda, while Mahavir's approach being affirmative or positive his philosophy culminated in Syādvāda i.e. non-absolutism. This middle path or non-absolutistic approach of both the schools is totally absent in Nyāya-Vaiśeṣika schools. These both the schools came into existence near about 2nd century B.C., by that time the earlier phases of Jaina and Buddhist philosophy were well established. But this does not mean that these schools influenced Jaina philosophy, we do not find any impact of Nyāya and Vaiśeṣika philosophy on Jaina

*. Secretary, Parśwanātha Vidyāpīṭha, Varanasi.

philosophy. But in its later phases, Jaina philosophy is not static one, but a dynamic philosophy. In its development we find following five phases--

- I. *The earlier Āgamic philosophy - 8th Century B.C. to 2nd Cen. B.C.*
- II. *The later Āgamic philosophy - 2nd Cen. B.C. to 5th Cen. A.D.*
- III. *The period of logical presentation of Jaina philosophy and to its theory of Anekāntavāda. - 3rd Century A.D. to 7th Cen. A.D.*
- IV. *The period of critical evaluation of other schools of philosophy - 8th century A.D. to 15th Cen. A.D.*
- V. *The period of application of Navya-Nyāya technique in Jaina philosophy. - 17th to 18th Century A.D.*

In these five phases of the development of Jaina philosophy, in the first phase we do not find any impact of Nyāya-Vaiśeṣika schools on Jaina philosophy. It is the second phase in which we find some impacts of Nyāya-Vaiśeṣika schools on Jaina metaphysical and epistemological concepts. In the third phase Jaina thinkers, while making a critical estimation of Nyāya and Vaiśeṣika, utilized the Nyāya Vaiśeṣika concepts as well as the concepts of their opponents and by synthesing these opposite views through their own theory of Anekāntavāda, evolved new theories, the Jaina theories- such as Satasatakāryavāda (सतसत्कार्यवाद), Sva-para Prakāśitatā of knowledge (स्वपर प्रकाशकता), Paratah-swatah-Prāmanyavāda etc. In the fourth phase Jainas have vehemently criticized the philosophical doctrines of Nyāya-Vaiśeṣika schools and showed their logical as well as practical weaknesses and their one-sidedness. In the fifth and last phase Jaina philosophers have made use of the Navya-nyāya technique for the sound and logical presentation of Jaina doctrines. In short we can say that in first phase no impact on Jaina philosophy is seen, in second phase Jaina thinkers accepted some concepts of these schools as it is, in third and fourth phase Jaina philosophers have used the various concepts of these schools for the critical evaluation of their one-sidedness and making use of them in evolving their own theories through the synthesisation of their opponents views. In the last fifth

phase Jaina thinkers adopted their Navya-nyāya technique for the logical presentation of their own doctrines. Now we shall discuss in detail same impacts of Nyāya-Vaiśeṣika schools on Jaina philosophy. In fact both the schools have mutual impacts, but in this paper I have restricted myself to show only the impact of Nyāya-Vaiśeṣikas on Jaina metaphysics and epistemology.

We must be aware of the fact that no philosophy comes in existence in vacuume, it has some impacts of its earlier as well as contemporary philosophies either in a positive or negative form; in other word either they accept their philosophical concepts with some logical modifications or reject them by showing their logical flaws and thus adopts their opponent's view or position. Jaina thinkers have used both the techniques, but instead of total rejection they tried to synthesis them with their opponent's view. In many cases we can say that the Jaina doctrine is nothing but a synthesisation of two conflicting opposite views points. Jaina philosopher have used this technique regarding Nyāya-Vaiśeṣika schools too.

Jaina doctrines of the first phase such as (1) The doctrine of Pañcāstikāya (पंचास्तिकाय), (2) The concept of nine categories (नवतत्त्व), (3) The concept of Ṣaḍjīvanikāya (षट्जीवनिकाय) (Six types of Jivas), (4) The doctrine of eight fold Karmas alongwith some ethico-religious doctrines such as Cāturyāma dharma, concept of five mahāvratas, four fold or three fold path of liberation and the concept of five types of knowledge etc., on all these fundamental concept of Jaina philosophy, we do not find any impact of Nyāya-Vaiśeṣika school. During these six centuries of first phase Jaina Thinker's logically evolved these doctrines, but in this period they have not assimilated other views as their own, in other words in this period Jaina philosophy was developed on its footings and remained unalloyed.

The impact of other philosophical traditions on Jaina philosophy starts from the second phase i.e. after 2nd century B.C. In this period Jaina thinkers propounded the doctrine of six substances and explained the relationship between substance, attribute and mode in other word between the dravya, guṇa and Paryāya. Though the words such as Sat, Dravya and Astikāya were used in Indian philosophy for the Reality, but originally they belong to different meanings and different traditions.

The word Sat belongs to Vedic tradition, while the word Dravya was used by Nyāya-Vaiśeṣikas. The word Astikāya originally belongs to Jaina tradition but in later times Jaina thinkers used these three words for the Reality. Here we must be aware of the fact that etymologically these three words convey three different meaning. The word sat means that which exists all the times without any change, while the word dravya means that which exists with changes (द्रवतीति द्रव्यः). The word Astikāya means that which exists with extention in space. The Jaina doctrine of Ṣaḍ-dravyas was a new development of this phase but there was nothing new in this doctrine of six substances (षट्द्रव्य) except the addition of Kāla (time) as a substance alongwith the five Astikāyas thus we can say that the doctrine of Sad-dravyas a later development of the earlier Jaina doctrine of Pañcastikāya. The acceptance of the word 'dravya' instead of Astikaya in Jaina tradition may be an influence of Nyāya-Vaiśeṣika philosophy. According to Jaina philosophy the number of the primary substances is six, while Vaiśeṣika school accepts nine substances. In both the list only three i.e. Ākāśa, Kāla and Ātman (Jiva) are common. Ākāśa and Ātman are also included in the list of Pañcastikāya. Here only the inclusion of Kāla (Time) may be considered as an impact of Vaiśeṣika school. It is to be noted that in the Swetambara tradition even upto the seventh century A.D. Kāla was not accepted as an independent substance by some of the scholars. According to them Kāla is only a mode (पर्याय) of Jiva and Pudgala (matter). The debate whether time (काल) be regarded as an independent substance begins from third century A.D., before the formulation of Tattvārthasūtra and the differences in this regard continued upto the period of Viśeṣāvasyakabhāṣya i.e. seventh century A.D. Regarding the definitions of 'dravya' guṇa and Kāla, we find some similarities in Utrādhyaṇa and Vaiśeṣikasūtra as well as in Tattvārthasūtra and Vaiśeṣikasūtra. Scholars are of the opinion that the Tattvārthasūtra and its auto-commentary have some influence of Vaiśeṣikasūtra and yogasutra. But we must be aware of fact that the influence of Nyāya-Vaiśeṣika schools on Jaina metaphysical doctrines, it is not as it is. Though Jaina thinkers have borrowed some ideas from these schools, but they adjusted them in their own way.

So far as the impact of Nyāya school on Jaina epistemology is

concern we find Jaina thinkers have adopted some ideas of Nyāya school in toto and some ideas in their modified form. As I have already explained that the doctrine of five fold knowledge has its origin in Lord Parśva's tradition and thus it is prior to even Lord Mahāvīra (6th century B.C.), that is why we do not find any impact of Nyāya school on this doctrine. Even though in *Tattvārthasūtra* (3rd A.D.), while establishing these five types of knowledge as Pramāṇas, we do not trace any conceptual impact of these schools on Jaina epistemology. In the beginning of christian era, when in different schools of Indian philosophy the discussions regarding the nature and types of Pramāṇas took place, the Jaina thinker Umaswati established these five types of knowledges as Pramāṇa. Here some one can say that *Tattvārthasūtra* accepts only two types of Pramāṇas and classify its five types of knowledge into two Pramāṇas-- Pratyakṣa (direct) and Parokṣa (indirect). This shows an impact of Vaiśeṣika school on Jaina epistemology but in my humble opinion it would be a wrong supposition, since in this context similarity only regarding the numbers of Pramāṇas and not in the concept itself. For Jainas the knowledge itself is Pramāṇa (ज्ञानं प्रमाणं), but for Nyāya-Vaiśeṣikas it is not the knowledge itself, but the sources of valid knowledge are Pramāṇas (प्रमीयते अनेन इति प्रमाण). Secondly for Umaswati the meaning of Pratyakṣa (direct knowledge) and Parokṣa (indirect knowledge) is totally different, for him knowledge acquired through sense organs and mind is not a direct knowledge, but it is an indirect knowledge. Though Umaswati had adopted the concept of Pramāṇa, which was the prominent concept of epistemological discussions of that time but he explained it according to his own āgamika tradition.

First of all we can trace the impact of Nyāya school on Jaina epistemology in the canonical works of later period i.e. 3rd-4th century A.D. or in the later added passages of early canonical works.

It is to be noted that the Jaina theory of pramāṇas takes its birth from the scattered ideas found in the canonical works. In the first stage of the five-fold division of the knowledge, which later on considered as pramāṇas also, it remain pure and unalloyed. In the second stage when the idea of two fold classification came into existence, particularly in *Niryukti* literature and *Tattvārthasūtra*, it was

an external influence, yet the spirit of Āgamas was dominating. It is in the Anuyogadvārasūtra for the first time five-fold division of Āgamika tradition goes into back and the four fold division of the Nyāya school comes in prominence. Here the Jaina thinkers adopted the view of Nyāya school in toto. These four pramāṇas-- Pratyakṣa, Aṇumāna, Āgama and Upamāna, has been mentioned in various canonical works such as Samavāyāṅga, Bhagavati, Anuyogadvāra etc. in the name of Hetu (हेतु), Vyavasāya (व्यवसाय) or Pramāṇa (प्रमाण). It is also to be noted that in the canonical works (Āgamas) we find the mention of four Pramāṇas like Nyāya school and three pramāṇas like Sāṁkhya school. Ācārya Siddhasenadivākara also followed this three- fold division of pramāṇa in his Nyāyāvatāra (4th-5th century). The another impact of Nyāya school on Jaina epistemology is seen in Nandisūtra (5th century) where the sense-cognition is included into Pratyakṣa (*Nandisūtra* 4), following the Nyāya tradition but at the time of Umaswati it was included in Parokṣa Pramāṇa (indirect knowledge). Later Jaina scholars such as Jinabhadra and Akalanka designated it as Sāmvyavahārika Pratyakṣa (perception according to the common usage). Regarding the five organs (pañca avayavas) of inference (Anumāna) Jaina thinkers are also in agreement with Nyāya school. But in Nirukti literature we also find the mention of ten organs of inference alongwith above mentioned five organs; though the concept of five organs is common to both the tradition, but the idea of ten organs is a peculiarity of Jaina tradition. Similarly due to the influence of Nyāya school Jaina thinkers also adopted the three fold division of inference (अनुमान) such as Purvavat (पूर्ववत्), Śeṣavat (शेषवत्) and Sāmānyato-dṛṣṭa (सामान्यतोदृष्ट). In the Jaina canonical work of later period namely *Anuyogadvārasūtra* (अनुयोगद्वारसूत्र) we find this classification. These are the some important major impacts of Nyāya school on Jaina epistemology.

The last but not least important influence of Nyāya school is the adoption of Navya-nyāya technique of Gaṅgesh (12-13th century) by the Jaina scholars-- Yaśovijayaṅgi (17th century) and Vimaladas. Yaśovijaya's *Tarkabhāṣā* and Vimaladas's *Saptabhangitarāṅgi* are the best works of Jaina thinkers, which are written in the Navya-nyāya technique.



Rightful exposition of Jainism in the West

*N.L. Jain**

I have utilised the occasion of presentation of my paper on the 'concept of Zero in Jaina Texts' at the IV Int. Conference of Mathematics, Maebashi, Japan to visit the U.S. and Canada. Many learned Jaina saints, Bhattarakas and scholars have been going to the west for many years promoting Jainism as a world religion through their lectures and practices. Many impressive narratives on these activities are published in Jaina papers here and abroad. My interest lay in learning the effect of these tours on western non-Jaina and scholarly world. Accordingly, I visited the religion or religious studies departments of many universities, their libraries and public libraries. I also met many faculty members of these departments. I learnt that there are numerous religious studies departments in universities abroad and also there are large number of students in them. Despite this, there was hardly any knowledge about Jainism and its literature among them. There was virtually no Jaina literature there (except in Austin X.). However, there are courses on World's Religions and we could find many text books on this subject written by competent teacher scholars. The students got the knowledge of Jainism through these books only. I read about 25 of these books written between 1889 and 1999 (Two of them are published in India). They describe Jainism in four to twenty four pages including some pictures of architectural importance. I was surprised to read their contents about Jainism in them. I could feel that there are many wrong conceptions about it among most of the scholars and, therefore, students also. If such descriptions are read, the new generation will have negative opinion. (This does not mean that all the books have similar descriptions. Some books have good analytical descriptions like the OUP books of 1996 and 1997). The reason for this could be that our literature has neither

*. Jaina Kendra, Rewa (M.P.) 486001

reached the authors nor the publishers. Also, whatever has reached them, it is either indirect or traditional which have led them to present it the way they have done it. Of course, this indicates the lop-sided studies of these scholars. I do not know whether any attempt has been made to remove these types of conceptions. How, otherwise, the same would have been expressed even in the books of 1999. I also felt from all this that the western world remains immune to these yearly lectures and expositions by about two dozen saints and scholarly people. The appreciation of a system by others has a better promotional effect rather than self-praise. Many books like "Seven Systems in Indian Philosophy" (Trigunayat) and "The World Religions' Reader" (Rutledge) do not contain even any description about Jainism. Of course, Sikhism and its literature finds place everywhere. Many authors still state Jainism and Buddhism as reformatory forms of Hinduism and they describe them in a single chapter. Even many Indian scholars in religious studies departments there do not agree to Jainism as an independent religion. The resident Indian Jainas also do not seem to attempt to remove these incorrect concepts in their books. This is the case even with the books, "Jainism in North America" (1996) and "Conquerors of the World" (1998). A similar situation was pointed out by S.K. Jain in U.K. and Europe while he was a visiting fellow there in 1992. Dr. Johrapurkar and Jain also felt the same way much earlier with some suggestions. As a result, there is need for purposeful exposition of Jainism on global basis. Accordingly, we require to collect books - text books, general books and reference books published during, say, half the century in different important languages and serialise the lopsided or incorrect views in them and try to prepare a multi-faceted book refuting them logically and send it to the authors and publishers so that they may modify there views in the next edition of their books. I shall describe here only some points for proper refutations.

Concepts about Jainism in Many Books of World Religions in the West

The various concepts described in these books may be classified under many categories.

A. General Conceptions about Jainism

1. Barring few books, most books still point out Jainism (and Buddhism too) as a reformed form of Hinduism. They have been developed as a revolt against vedic tradition. Jainism is a minority section of Hinduism. (Thrower, Hopfe, Munroe, Kaufman etc.).
2. Jaina Sect is a strange one and it is understood with difficulty.
3. Jainism does not seem to be as attractive as Buddhism because the Jaina texts are tasteless and difficult. They are not understood by all.
4. According to Toynbee, Jainism is highly self-centered. The self-centeredness is an intellectual and moral error. It creates egoism. That is why, it could not undergo expansion.
5. According to Basham and Scheitzer, Jainism is basically selfish and negative. Its concepts of Arhat and Tirthankara are based on selfishness. They are not all welfarist as the concept of Bodhi-Sattva. (Despite this, Thrower agrees that the negative tendency has two positive effects : (1) Satisfaction of curiosity about the knowledge of the fine entities and (2) knowledge of external and internal world. These are also important achievements).
6. The Jaina thought and practices are extremist. The concepts of theism, devotionism, austerities and non-violence are forms of extremism. In fact, the western world feels strange to think atheistic system as a form of religion. It questions about this point. This type of system is the most difficult path for the progress of life and beliefs.
7. Prof. Munroe opines that the western religious systems are more organised than the Eastern ones.
8. Prof. Hutchinson opines that the Jaina tenets are unwordly. This is not a religion for the world. However, it requires thinking why it is a living religion even today. The hedonist west gets a shock by Jaina tenets.

9. Some authors have assumed it to be the religion of Saivation and austerities. The naked sainthood is essential for infinite bliss.

B. Origin of Jainism and Biography of Mahavira

Many books published upto 1995 have stated Mahavira as the founder of Jainism. Some authors, however, refer to the tradition of ford makers. Some books have stated Mahavira as the historical founder of Jainism and they keep silence on its earlier history. Some authors have stated that Mahavira gave Jainism a more positive form (Celibacy, penitential retreat etc.) than Parshvanatha and he was renovator, modifier and time-tuner of Parsvan system. Despite the opinion of Dr. Rice and Dr. Zinmmmer that Jainism existed (though under different name of Nirgzantha) in pre-Aryan. (1700-2700 B.C.), these authors seem to be lopsided.

Almost all the books have biography of Mahavira based on Kalpasutra (foetus transference, marriage, one daughter, divine cloth etc.). Some authors agree to some miracles in his life). However, his biography is not as marvellous as Christ, Mohammad and Buddha. That is why, most western scholars state his biography as unattractive, formal, less reliable and legendary. On the one hand, these authors agree Mahavira to be a staunch austerite, adventurous, deep philosopher and capable organiser (of four fold order), on the other, they state him a sage engaged in extremely fermenting and inconscientious harsh austere life.

Though Jainism is said to be naturalistic, the descriptions of his foetus transference etc. are stated to be supra-natural. They seem to be more legendary. His period of 540-468 B.C. is said to be better historical than 599-527 B.C. On this basis, he is given contemporariness with Buddha, Confucious, Lao Tse and Zermia etc. Similarly, he had seven other contemporary heretic scholars.

Many books have a number of mistakes about his life like (1) his place of birth (Patna), (2) age of initiation (28 yrs), (3) acceptance of only peacock-feather broom (Pichi) and (4) 70 years of fourth aeon remaining after Mahavira's salvation etc.

Almost all the authors have stated the harshness of austerities as sermonised by Mahavira. These are extremes. However, his philosophic concepts are fundamental and adventurous. He was a wrestler of spiritualism and escapist from the physical world. His sermons were generally meant for the minority of followers (monks).

C. Jaina Tenets : (1) Ethics and Practices

The Jaina Society may be classified in two categories - (1) Majority (laymen) and (2) minority (monks). The monk practices are generally taken as model. In contrast, the conduct of laymen is practical. Currently, a third category intermediate between the two has also come to exist. Its conduct is nearly monk-like (but it has some freedoms like going abroad etc.). All the laymen have six daily duties. The deital worship is prominent among them. This creates a positive mental state. Fynes, Hopfe and others have described it on the basis of Svetambara system and no Digambara process has been mentioned despite Jaini's book (1979).

Most of the western scholars presume Jaina tenets as tenets of austerity and salvation. Many authors upto 1995 have postulated them to be following detachmental path where the life and the world are negated and there is an idea of escape from both the corners. It is pessimistic towards life and the world and discourages every type of activities. Its ethics and practices are based on this concept. The Jainas are like Quakers - worshipper of peace and satisfaction. But their five principles of non-violence, non-false-speaking, non-stealing, non-sex and non-attachmental possession are indicative of the tendency of life negation Prof. Hopfe states that the laity generally observes the first three as far as possible but there is laxity in observing the last two. However, the monks and nuns do observe them fully. Secondaly, all those five concepts have no boundary. They apply to all the living creatures. Prof. Schweitzer has said that these concepts are not the basic concepts of the Jainas. They are originated from their detachmental ideology which promotes inactivity in life. The Jainas talk about compassion etc. so that they may become detached from the world. What is the purpose there for others for them? They accept the passionate in activity and negate the sympathetic assistance for others.

It is due to this that the Jaina ethics/practices promote individualism and egoism. (Acarya Rajnisha had also similar thoughts). According to Basham also, the Jaina ethics and practices are basically negative and selfish. They are individualistic rather than socialistic. That is why, the life-style of Jainas is controlled by harsh rules. This is the secret of their longevity. Despite this, the Jaina tenets do not offer permanent happiness without monkhood. This is in contrast with other religions.

All the above five principles of the Jainas are the same for both-the laity and monks. However, their total observance is there in the monkhood only. (Many scholars discussed the effect of the principle of non-violence in terms of the life-style of the Jainas in the form of vegetarianism, environmental preservation, and non-involvement in violence-involving professions. It has also influenced other systems too). Despite this, Prof. Noss opines that the Jaina ethics detaches us from evil actions and promotes the overall happiness. Not only this the harsh austeritic life has also an indirect effect of moving towards welfare of all and the self. Despite the ethical code of the Jainas being individualistic, it accepts the self as the maker of own destiny. It is not, therefore, incarnationist. Its torch bearers are not bestowers of fortunes. But their remembrance serves a source of direction and encouragement. That is why, the temples, worship and prayers have no value for the Jainas. Despite the fact that their fundamentals are easily comprehensible, their elaboration and philosophy is not simple to be easily understood.

(2) Ontology (Metaphysics)

The ontology of Jainas is dualist (living - non- living) and pluralist (six physical realities, nine spiritual categories, seven spiritual reals etc.). The scholars have opined it as a realist ontology. It has an object of acquiring salvation by breaking away the combination of the living and non-living (Karmas). The relationship of these entities through Karmas is very interesting. Their non-living world is atomistic. Generally, Jainism is not deterministic because of its realistic nature. However, it is naturalistic and a-theistic where there is no positivism. It seems that man was initially a-theist. That is why

Carvakism is said to be the oldest (Thrower). The Jainas do not admit actorship of God but they admit capacity of Godhood in every living being and, hence, they are poly-theists. It is due to this that they could not be popular like the Carvakas.

The Jainas are not purely devotionalists like the Muslims or Christians. They admit the triad of right knowledge, faith and conduct. It is because of this multi-dimensionism that they have been surviving since hoary past. The western world is not ready even to accept any atheist system as a religion. (It is not even prepared to accept the anti-theist logic).

The Jainas are Karmists and Aureolists. (This is the result of their psychological understanding). These principles are also infested with pessimism. But these are the specific principles of the Jainas which serve as a spiritual glue for the living-non-living combination. Rice has opined that Jaina ontology is totally pessimistic. It starts from hylozoism and goes upto godhood for all. He admits the tetrad of love, compassion, happiness and peace of the Buddhists as positive (but does not even mention the tetrad of friendship, happiness, compassion and neutrality of the Jainas). They even call the positive principles of the Jainas as leftist.

The concept of cyclically devolving and evolving world also makes man a bit under trouble. Their logistics and epistemology is fine but complex. Their theory of seven-fold predications also confuses the western mind. However, it is not consistent with determinism. (Mention of stand pointism is rare).

D. Jainism and Women

There are three times as many nuns as male monks (Fynes). However, their level is taken as inferior to monks. In Svetambara tradition, women may have salvation while there is no salvation for them in Dig. tradition. (However, it is the nuns who have preserved the traditional Jain practices and rituals).

E. Jaina Religion : Social Religion

It is agreed, in general, that Mahavira was an excellent reformer and awakener of contemporary society. However, most authors do not

seem to admit Jainism as a social religion because the general tendencies of society are heterodox with their principles. Moreover, the individualistic principles do not apply to society (like the macro world theories to micro-world). According to Schweitzer, there are no principles useful for society in Jainism. However, if there are any, they have come from Hindu Religion.

F. Jains Literature

Many authors have mentioned the Dig./Svet. literature. However, Basham has clearly mentioned it to be tasteless and scholarship-showing.

G. Erroneous Statements

1. Almost all authors admit origination of the two main schisms in the first century C.E. They also mention about them. The non-idolator Sthanakavasi sect is also sometimes mentioned. But Terapantha of Sve. and Taranpantha of Digambaras generally do not find mention.
2. The Jainas are generally found in every part and state of India. However, most authors have pointed Digambaras to exist in south and the Sve. in the north. (It is probable that this concept of theirs might be with early historical perspectives. They have generally, forgotten central, eastern and western India (Mumbai, Ahmedabad, Delhi, Jabalpur, Calcutta, Dimapur etc.).
3. The Svet. have been stated to be more liberal and popular (on the basis of some of their tenets) than the Digambara (stated as conservative).
4. It is only women who undertake religious fastings. Also, it is only the males who participate in bidding.
5. Generally, there is no mention of holy places in terms of salvation and miraculous places. However, Pavapur, Sammed shrikhar (and kailash also) find rare mention. Of course, Mt. Abu and Shatrunjaya (shravana belagola also) find mention due to their art/architectural values.
6. Dr. Kaufman has stated that the Jaina images are different from

and unattractive than Buddha images. These do not express the compassion and softness on their faces. When they are adored and ornamented, they look fierce.

7. Almost all authors have expressed holy death process as 'self-starvation'.
8. The Jainas have abandoned the theory of nakedness for salvation and many Digambaras have adopted clothes while monks.
9. The Jainas do not have harsh spiritual practices like the Hindus. However, the practices of hair plucking, harsh postures, meditation under heat, fastings (Mahavira had approx 4000 fasting days out of 4380 days in 12 years) and the like are extremes and non-conscientious activities. Rev. Murray opines that alms-begging and tasteless foods are also such activities.

Conclusion

It will be clear from the above as to what type of lop-sided and denatured concepts about Jainism are there in the Western academic world even at the end of 20th century. About 70% basic tenets of Judaism and Christianity are negative in character but they are not taken in that way. However, the Jaina tenets are called negative and secondary. Similarly, it is not proper to call Jainism as a religion of monks only on the basis of some earlier texts. Many of its texts contain laity practices for wordly welfare. The male and female laity are the important components of four-fold order of the Jainas and it is on them that the institution of monks and the order has become somuch long-lived. The Jainas are also credited for their non-violent professions (like banking, textiles, transport, computers, jewellery etc.) and rigid spiritual practices.

It is, therefore, necessary to perpare a book through the serious Jaina scholars to scholarly refute the above mentioned (and many others involving philosophical principles also) opinions. The institutions involved in promotion of Jainism abroad should come forward in this project. To prepare such a monograph, one will have to compile various points mentioned in western books published in the last fifty years (as suggested earlier) and analyse them to present the correct

picture of Jainism. One will have to abandon the status quoist concepts and to elaborate the dynamism, positivity and enormous capacity of happiness promotion of Jainism. It is hoped that some National and International Jaina Institutions will come forward leading to the rightful exposition of Jainism on global arena. Some of the suggestions of S.K. Jain may also be taken care of by them.



SAMYAKDARSHAN*

The Gateway to Peace and Happiness

Jagdish Prasad Jain "Sadhak"

Peace and happiness can be achieved only through subsidence of passions, self-restraint, contentment and fellow-feeling, which are the attributes of a *Samyakdrashti*, who is determined, dedicated and devoted to follow the path of righteousness, non-injury, limitation of one's desires and possessions and other virtues. Our efforts should first of all be directed towards converting the Jains (who are called Jains because of birth in a Jain family) to Jainism and make them true Jains. A *samyakdrashti* is a true Jain in the real sense of the word. As stated in the sacred books of the Jains, *Dansan Mulo Dhamma*, i.e. *samyakdarshan* (right perception) is the root or foundation of piety or *Dharma*.

The Prerequisites of Samyakdarshan

The four prerequisites of *samyakdarshan--prasham*, *samvega* (with its obverse aspect--*nirveda*), *anukampa* (compassion) and *astikya*--form the world-view of both a Jain householder as also of an ascetic. The quality of *prasham* endows a man with a certain degree of equanimity, calmness, balance which enables him to feel happy, contented and "at peace with himself". In *Prashamratiprakarana*, authored by Acharya Umaswami or Umasvati, who also wrote *Tattvarthasutra*, the so-called bible of the Jainas, it is stated :

*Swargasukhani parokshanyatyant Parokshameva Mokshasukham,
Pratyaksham prashamsukham Na parvasham na cha Vyaya praptam.*
(237)

* *Revised version of lecture at 10th Biennial JAINA Convention, Philadelphia, USA, 4 July 1999.*

The happiness of heaven is indirect, it is beyond our experience. Thus we may be disinterested in it. The happiness of salvation is still more indirect. On the other hand, the peace and calm brought about by the subsidence or quelling down the excitement of passions (anger, pride, deceit and greed) and the happiness resulting therefrom can be directly experienced right here. This happiness is not dependent on other objects, things or beings. It is not perishable either. The so-called pleasures of worldly life, viz. sensual pleasures are always accompanied with pain. They are never full and unadulterated. They are preceded and/or followed by suffering. They are transient, passing and short-lived. What people in general consider happiness is mostly sensual pleasure which by its very nature is dependent on worldly objects pleasing to our senses. *Prashwnsukha*, i.e. happiness derived from or resulting from calmness and equanimity is free from all these short-comings.

This calmness or equanimity and consequent peace and happiness in our lives results from subsidence of gross forms of anger, pride, deceitfulness and greed (*anantanubandhi kashaya* or passions) and by having a proper attitude towards life and by understanding and accepting the real nature of things. Accept the reality of things as they are and accept what you cannot change is a sure prescription for avoidance of stress and depression which are so common and prevalent in modern day life.

Samvega results in a man having great enthusiasm for righteousness and avoidance of evil deeds. The obverse of *samvega* is *nirveda* or a spirit of renunciation. Some consider it a separate characteristic. It leads to disinterest in sensual pleasures, disenchantment with worldly things and possessions and detachment or renunciation in life. Yet another characteristic of *samyakdarshan* is *anukampa* (compassion), which is both negative and positive. In its negative sense it is *ahimsa* (non-violence) and in its positive sense it is compassion, goodwill, fellow-feeling. The four-fold *bhavana* (feelings/reflections or mental dispositions) of *maitri* (amity or fellow feeling towards all living beings), *pramoda* (appreciation of the merits of others), *karuna* (unstinted sympathy and compassion for those in distress) and *madhyastha* (equanimity towards the perversely inclined) are considered part of *anukampa* and are golden principles for social

intercourse and happy and peaceful life in the world. *Astikya* is belief in the principles of truth. It may be said to correspond to six fundamental truths of Shrimad Rajchandra, viz. the soul exists, it is eternal, it is the author of its activities, that therefore it is responsible for the consequences of its activities, it aspires for liberation and that there are means to achieve liberation. *Samyaktarshan* (right perception), *samyakgyan* (right knowledge) and *samyakchartra* (right conduct) combined are the means to achieve liberation (*moksha*).

The affirmation, faith or conviction (*astikya* or *shraddha*) about the existence of soul, distinct from non-self, makes for *samyaktarshan*, forms the basis of understanding the reality of things or the fundamentals of life (*tattvas*) and leads to spiritual awakening and advancement. In the absence of *samyaktarshan*, neither knowledge can be *samyak* (right or enlightened) nor conduct can be *samyak*. It was probably keeping this in mind that Shrimad Rajchandra observed:

*koi kriyajad thai rahya sushkagyan ma koi
mane marg mokshno karuna upje joi.*

*Some are entangled in barren rituals, others stuck in knowledge dry,
And in these they view a road to liberation. I have pity for these.*

If a person is not convinced of the existence and reality of sentient being (*jiva*) and its special characteristics (such as consciousness, performer of actions and liable for the results there of, etc.), he would remain deeply engrossed and attached to his body and sensual pleasures. This will result in the adoption of the attitude of aggressiveness and possessiveness, which militate against social harmony, peace and well-being of mankind. Peace can be achieved only through contentment and fellow feeling.

Characteristics of Samyaktarshan

In addition to the above-mentioned prerequisites of *Samyaktarshiti*, there also are certain other characteristics, the so-called limbs or component parts of *samyaktarshan*. One of them is unshakeable faith or conviction in the existence and reality of self and non-self and in the doctrine of *anekant* (Non-absolutism). This faith is not blind faith or mental slavery since it is in fact a decision arrived

at after mature consideration and understanding of things. A *Samyakdrashti* is aware of the limitations of thinking and the harmful effects of frustration. Therefore, after deliberating on different aspects and viewpoints he wants to arrive at rational decisions and be free from skepticism or doubt (*Nihshankita*). He knows that doubt kills decision and without an act of decision an individual is unable to muster enough courage to go forward. This faith in Self or *atman* enables him to attain a sort of mental equilibrium and consequently he does not fear death, pain, censure, insecurity, etc. He becomes modest, forsaking all pride of learning, honour, family, affluence, etc. and desire with regard to the future. Eventually, he wants to be *Nihkankshita* (free from desires for worldly things).

A *Samyakdrashti*, having an open mind, ever eager to learn from history and experience and grounded in *Anekant*, scientific outlook and rational thinking, is not slave to customary beliefs or conventions or vested interests. He is thus free from delusive notions and follies (*Amudhatas*). As he has gained true insight about the reality of things, the self and non-self, he is free from disgust (*Nirvichikitsa*), and feels no revulsion at the sight of human sickness, insanity or ugliness. He does not hate or condemn others on grounds of religion, race, colour, creed or nationality. Not only he avoids hating others, he is also enjoined to practice *vatsalya* (disinterested affection or selfless love) for the fellow beings, dedicating his life to the service and support of all human beings without any distinction of race, religion, sex or nationality.

Another characteristic of a *Samyakdrashti* is *upguhana* (tendency to cover up or hide from public view the shortcomings of persons) or *upavrhana*, that is cultivation of virtuous dispositions of honesty, gratitude, *ahimsa* (non-violence), forgiveness, modesty, straightforwardness, etc. When people deviate from the path of righteousness under the influence of greed, possessiveness, conceit and pride and indulge in aggressiveness and exploitation of the weak, a *Samyakdrashti* endeavours to re-establish them on the path of righteousness (*sthitikarana*). Lastly, he tries to propagate values of life (*Prabhavana*) by making good ways of life, of thinking and doing things widely known and easily accessible to people at large the world

over through publications, radio, television, internet, etc.

Conclusion

As a result of *samyakdarshan*, one becomes an entirely transformed being. As attitude towards life, his outlook of the world and worldly things, the basis of his relations with others, his conception and assessment of values all are changed. This miraculous transformation is evidenced in the person's attitude and behaviour by the five tendencies (calmness, enthusiasm, detachment, compassion and acceptance of reality) which become automatically manifest in a person gifted with *samyakdarshan* and are, as it were, its differentiators.

This transformation of individual consciousness rarely occurs overnight. It is a matter of growth and the following of a plan with a fixed mental intent. That is why a life of following discipline, self-restraint, the five abstentions or vows (non-injury, truthfulness, non-stealing, sex-fidelity and setting a limit to the maximum wealth or worldly objects one would possess) together with their augmenting and supporting vows, five *Samiti* (carefulness) (in moving, speaking, eating, keeping and receiving things and evacuating bowels), three kinds of self-control in mind, speech and body, twelve reflections and ten virtues (forgiveness, humility, straightforwardness, truth, purity of body and mind, self-restraint, austerities, renunciation, non-acquisitiveness, and chastity) is considered essential. Thus, *samyakdarshan* not only enables an individual to obtain peace of mind and happiness, but also facilitates social harmony and peace in the world.

"Be a Samyakdrashti Today!"



विद्यापीठ के प्रांगण में

पार्श्वनाथ विद्यापीठ में प्रो० सागरमल जैन का भव्य स्वागत

पार्श्वनाथ विद्यापीठ की संचालक समिति ने पिछले दिनों प्रो० सागरमल जी जैन को विद्यापीठ के मन्त्री पद पर प्रतिष्ठित किया। विद्यापीठ के निदेशक पद से १९९७ ई० में अवकाश ग्रहण करने के उपरान्त भी संचालक समिति के अनुरोध पर डॉ० जैन संस्थान को मानद् निदेशक के रूप में अपनी बहुमूल्य सेवायें देते रहे। विद्यापीठ के मन्त्री के रूप में संस्थान में उनके प्रथम आगमन पर दिनांक ६ जून को भव्य स्वागत समारोह का आयोजन किया गया जिसमें काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के कला संकाय के प्रमुख प्रो० एस०एन० मिश्र, दर्शन विभाग के अध्यक्ष प्रो० डी०ए० गंगाधर, पूर्व अध्यक्ष प्रो० रेवतीरमण पाण्डेय, प्राचीन भारतीय इतिहास विभाग के प्रो० माहेश्वरी प्रसाद, डॉ० हरिहर सिंह, डॉ० कमल गिरि, डॉ० मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी, प्रो० सुदर्शनलाल जैन, डॉ० फूलचन्द जैन, डॉ० कमलेशकुमार जैन, डॉ० जिनकू यादव, डॉ० अरुण प्रताप सिंह, श्री सत्येन्द्रमोहन जैन, स्थानीय जैन समाज के कई पदाधिकारी तथा बड़ी संख्या में उनके प्रशंसक उपस्थित रहे। देर तक चले इस कार्यक्रम का संचालन डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय ने किया। वक्ताओं ने अपने उद्बोधन में प्रो० सागरमल जैन के संस्थान से पुनः सक्रिय रूप से जुड़ने पर हार्दिक प्रसन्नता व्यक्त करते हुए उनके दीर्घायु होने की कामना की। स्वागत समारोह के पश्चात् सामूहिक भोज का भी सुन्दर आयोजन रहा।

पूज्य आचार्यश्री राजयशविजयसूरीश्वर जी म०सा० की प्रेरणा से पार्श्वनाथ विद्यापीठ में स्थापित और वाराणसी निवासी श्री निर्मलचंदजी गांधी एवं उनके परिवार की ओर से प्रदत्त १ १/३ लाख रुपये के आर्थिक सहयोग से निर्मित मातृश्री रेणुदेवी जैन भोजनशाला में अब तक जैन समाज से कुल ५४६ मितियाँ प्राप्त हो चुकी हैं। एक मिति हेतु एक हजार एक सौ ग्यारह (११११/-) रुपये की धनराशि निर्धारित रही है। संस्थान मितिदानदाताओं के प्रति आभार प्रकट करते हुए उनसे भविष्य में भी इसी प्रकार के सहयोग की अपेक्षा रखता है। भोजनशाला के आरम्भ हो जाने से यहाँ अध्ययनार्थ विराजित साधु-साध्वी एवं परिसर स्थित छात्रावासों में रहने वाले शोधछात्र-छात्रायें तथा आगन्तुक अतिथिगण/शोधछात्र आदि इससे लाभान्वित हो रहे हैं।

पार्श्वचन्द्रगच्छ की साध्वियाँ अध्ययनार्थ विद्यापीठ में

पार्श्वचन्द्रगच्छीय साध्वी ॐकार श्रीजी म०सा० की शिष्यायें साध्वी संयमरसा जी म०सा०; साध्वी सिद्धान्तरसा जी म०सा० एवं साध्वी संवेगरसा जी म०सा० यहाँ विद्यापीठ में अध्ययनार्थ विराजित हैं। विद्यापीठ की प्रवक्ता डॉ० सुधा जैन उन्हें प्रातःकाल साढ़े पाँच बजे से साढ़े छह बजे तक आसन, प्राणायाम एवं ध्यान के प्रयोग करवाती हैं। साध्वी जी महाराज के साथ-साथ यहाँ छात्रावास में रह रही शोध-छात्रायें भी इन प्रयोगों का लाभ ले रही हैं। विद्यापीठ के वरिष्ठ प्रवक्ता डॉ० अशोककुमार सिंह इन साध्वियों को संस्कृत-प्राकृत-व्याकरण एवं उत्तराध्ययनसूत्र तथा डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय जैन न्याय एवं डॉ० शिवप्रसाद उन्हें जैनधर्म एवं श्वेताम्बर जैन गच्छों के इतिहास का अध्ययन करा रहे हैं।

साध्वी जी महाराज सुख-सातापूर्वक यहाँ विराजमान हैं। श्रावकगण उनके दर्शनार्थ यहाँ समय-समय पर पधारते रहते हैं और विद्यापीठ की शैक्षणिक गतिविधियों से भी अवगत होते हैं।

उपा० यशोविजय स्मृति मन्दिर एवं पूज्य राजयशसूरि विद्याभवन का निर्माण पूर्ण

पूज्य आचार्यश्री राजयशसूरि जी म०सा० की प्रेरणा से २२ लाख रुपयों की राशि से यहाँ नवनिर्मित दो भवनों— १- उपाध्याय श्री यशोविजयस्मृतिमन्दिर एवं २- पूज्य श्री राजयशसूरि विद्याभवन का निर्माण कार्य पूर्ण हो गया। इन दोनों भवनों का औपचारिक उद्घाटन दिनांक २१ अक्टूबर को होने जा रहा है। प्रथम भवन का उपयोग योग-साधना हेतु तथा द्वितीय भवन का उपयोग छात्रावास के लिये होगा।

‘अचलगच्छ का इतिहास’ का विमोचन २८ अक्टूबर को

डॉ० शिवप्रसाद द्वारा लिखित और पार्श्वनाथ विद्यापीठ एवं प्राकृतभारती अकादमी, जयपुर द्वारा संयुक्त रूप से प्रकाशित अचलगच्छ का इतिहास नामक शोधग्रन्थ का विमोचन अचलगच्छ संघ के पू० आचार्य कलाप्रभसागरजी म०सा० के सान्निध्य में आयोजित एक समारोह में उन्हीं के कर कमलों से उवसगगहरतीर्थ, नगपुरा, जिला-दुर्ग, छत्तीसगढ़ में दिनांक २८ अक्टूबर को होने जा रहा है। इस अवसर पर दोनों ही संस्थाओं के प्रतिनिधि भी उपस्थित रहेंगे।



जैन जगत्

डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल के अभिनन्दन ग्रन्थ का लोकार्पण

नई दिल्ली ८ अप्रैल : विश्वविख्यात आध्यात्मिक प्रवक्ता डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल को लाल किले के सामने परेड ग्राउण्ड में आयोजित एक भव्य समारोह में उन्हें सम्मानित कर उनके अभिनन्दन ग्रन्थ “तत्त्ववेत्ता : डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल” का लोकार्पण किया गया। आचार्य विद्यानन्द जी महाराज के सान्निध्य में आयोजित इस भव्य कार्यक्रम में श्री दीपचन्द भाई गार्डी, साहू रमेशचन्द्र जैन तथा बड़ी संख्या में डॉ० भारिल्ल के प्रशंसक उपस्थित रहे। इसी समारोह में सुप्रसिद्ध संगीतकार श्री हरिचरण वर्मा को ‘संगीतसमयसार’ पुरस्कार से सम्मानित किया गया।

भगवान् महावीर पर अन्तर्राष्ट्रीय संगोष्ठी सम्पन्न

नई दिल्ली १२ अप्रैल : भगवान् महावीर की २६००वीं जयन्ती के पावन अवसर पर भोगीलाल लहेरचन्द इन्स्टीट्यूट ऑफ इण्डोलाजी द्वारा भगवान् महावीर के जीवन-दर्शन पर इंडिया इन्टरनेशनल सेंटर नई दिल्ली के सभागार से तीन दिवसीय अन्तर्राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन किया गया। इस संगोष्ठी में सुविख्यात विधिवेत्ता और ब्रिटेन में भारत के पूर्व उच्चायुक्त डॉ० लक्ष्मीमल सिंघवी, सुप्रसिद्ध कलाविद् एवं इतिहासकार प्रो० एम०ए० ढांकी, भारतीय दर्शन के सुप्रसिद्ध विद्वान् प्रो० कमलचन्द जी सोगानी, पार्श्वनाथ विद्यापीठ के मानद् निदेशक एवं मन्त्री प्रो० सागरमल जैन, पार्श्वनाथ विद्यापीठ की संचालक समिति के श्री बी०एन०जैन तथा संयुक्त मन्त्री श्री इन्द्रभूति बरड़, लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर के नियामक युवा विद्वान् डॉ० जीतेन्द्र बी०शाह, शाकाहार के लिये समर्पित डॉ० नेमिचन्द जैन (अब स्वर्गस्थ), अहिंसा इण्टरनेशनल के महासचिव श्री सतीश कुमार जैन तथा बड़ी संख्या में जैनविद्या से सम्बद्ध देश-विदेश के विद्वान् उपस्थित थे। तीन दिन चले इस संगोष्ठी के विभिन्न सत्रों में अनेक महत्त्वपूर्ण शोध आलेख प्रस्तुत किये गये।

ग्रन्थागार का भूमिपूजन समारोह सम्पन्न

नयी दिल्ली २६ अप्रैल : कुन्दकुन्द भारती परिसर में २६ अप्रैल गुरुवार को प्रातः ८.०० बजे आचार्यश्री विद्यानन्द जी महाराज के पावन सान्निध्य में भव्य रूप

से ग्रन्थागार भूमिपूजन समारोह का आयोजन किया गया। इस समारोह में दिल्ली प्रान्त की मुख्यमन्त्री माननीया श्रीमती शीला दीक्षित मुख्य अतिथि के रूप में उपस्थित रहीं।

आचार्यश्री सोहनलाल जी म० का ६७वां पुण्यस्मरण समारोह सम्पन्न

अमृतसर ३० अप्रैल : जिनशासन में आचार्यपद की महती गरिमा है। आचार्य सम्यक् आचार का स्वयं पालन करता है तथा चतुर्विध संघ से पालन करवाता है। उसका ज्ञान व आचरण एक समान होता है, कथनी और करनी में विभिन्नता नहीं होती। ज्ञान व चारित्र्य का धनी महापुरुष आचार्य ही वर्तमान में तीर्थङ्कर तुल्य पूजनीय होता है। तीर्थङ्कर महावीर की इस गौरवशाली आचार्य-परम्परा में कलिकाल सर्वज्ञ, ज्योतिषमार्तण्ड प्रधानाचार्य श्री सोहनलाल जी म० का विशिष्ट स्थान है। तत्कालीन सम्पूर्ण स्थानकवासी जैन-परम्परा के सभी आचार्यों ने अजमेर सम्मेलन में उन्हें अपना प्रधानाचार्य स्वीकार करके उनके अद्भुत ज्ञान व शील का अभिनन्दन करके स्वयं को धन्य किया था। वे दीर्घ तपस्वी, गम्भीर ज्ञानी व कुशल अनुशास्ता थे। अनुशासन में वह वज्र के समान कठोर थे। प्रतिकूलताओं व विरोधों के तूफानों में भी उन्होंने अपनी शान्ति को भंग नहीं होने दिया। वे प्रथम जैनाचार्य थे जिन्होंने जैनागमों के आधार पर जैन पञ्चांग का निर्माण किया था। उनका शाश्वत सन्देश था— “मनुष्य को न तो पानी के समान, न ही पत्थर के समान होना चाहिए, उसे तो बीकानेरी मिश्री की भांति होना चाहिए। मिश्री किसी पर फेंकी जाए तो चोट पहुंचाती है और मुख में डाली जाए तो अनोखी मिठास प्रदान करती है। इसी प्रकार मनुष्य को सदगुणों के प्रति विनम्र तथा दुर्गुणों के प्रति कठोर होना चाहिए।” ये विचार जैनसाध्वी डॉ० अर्चना जी म० ने पूज्य सोहनलाल जी म० के ६७वें पुण्य स्मरण दिवस पर विशाल धर्मसभा को सम्बोधित करते हुए व्यक्त किये।

प्रवचन दिवाकर श्री सुधीर मुनि जी म० ने कहा— “दीपक जलता हुआ ही प्रकाश करता है किन्तु बुझते ही अन्धेरा कर देता है। सूरज जब तक आकाश में उदीयमान है तभी तक अपने आलोक से उजियारा करता है, परन्तु अस्त होते ही जगत् में अंधियारा व्याप्त कर देता है, परन्तु सन्त ऐसी जिन्दगी जी लेता है कि आयुष्य का दीपक बुझ भी जाए, जीवन का सूर्य अस्त भी हो जाए पर उसके ज्ञान व अनुभव का तथा सत्कर्मों का उजियारा बना रहता है। उनकी महती उपलब्धियों से प्रेरणाएं पाकर लोग जहां स्वयं के जीवन को प्रशस्त बनाते हैं वहीं अपने सम्पर्क में आने वालों को भी अनुभवों व तेजस्वी बना देते हैं। आचार्यश्री सोहनलाल जी म० के शासनकाल में एक से एक उत्कृष्ट ज्ञानी-ध्यानी व संयमी महापुरुषों की सम्पदा से चतुर्विध संघ गौरवान्वित था। जिसने भी उनकी चरण-शरण को स्वीकार किया उसके आत्मिक सौन्दर्य को उन्होंने प्रस्फुटित कर दिया। सौभाग्यशाली वह आत्माएं रही होंगी जिन्हें उनका मंगल व वरदानदायक

सान्निध्य प्राप्त हुआ था। संयम की शिथिलता उन्हें बर्दास्त नहीं थी। वे अप्रमत्त योगी व चारित्रचूड़ामणि सन्तरत्न थे।”

पूज्य सोहनलाल जैन हाईस्कूल की मुख्याध्यापिका श्रीमती कमलेश नविता ने कहा— “वे जैन समाज के पहले आचार्य थे जिन्होंने समाज को शिक्षा व सेवा के रचनात्मक कार्यों के करने की प्रेरणाएं दी थी। वाराणसी का पार्श्वनाथ शोध संस्थान (अब पार्श्वनाथ विद्यापीठ) जो काशी हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा मान्य है, यह एकमात्र जैनों का अद्भुत शिक्षा संस्थान पूज्यश्री की अमर देन है। यहां से सैकड़ों शोध ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं तथा हजारों विद्वानों ने जैनधर्म व दर्शन के सिद्धान्तों का गहरा अध्ययन किया है।” इस अवसर पर मंच का संचालन महामन्त्री श्रीमहेन्द्र जैन ने किया और प्रभावना का कार्यक्रम मित्रमण्डल के सदस्यों की ओर से सम्पन्न हुआ।

इस अवसर पर पूज्य श्री सोहनलाल जैन स्मारक पर मित्रमण्डल के सदस्यों द्वारा विशाल लंगर भी लगाया गया।

नयी दिल्ली ७ मई : श्रमणसंघ के चतुर्थपट्टधर आचार्य डॉ० शिवमुनि जी म०सा० का चादर समर्पण समारोह दिनांक ७ मई को स्थानीय ऋषभ-विहार में धूमधाम से सम्पन्न हुआ। इसमें बड़ी संख्या में स्थानकवासी समाज के साधु-साध्वी उपस्थित रहे। समारोह में श्री सुन्दरलाल पटवा, श्री सुरेशदादा जैन तथा बड़ी संख्या में श्रावक-श्राविकाओं ने भाग लिया। पार्श्वनाथ विद्यापीठ के मन्त्री प्रो० सागरमल जैन, पूर्व मन्त्री श्री भूपेन्द्रनाथ जैन तथा संस्थान के संयुक्त मन्त्री श्री इन्द्रभूति बरड़ विशेष रूप से यहाँ उपस्थित थे। ठीक १ बजकर १० मिनट पर चादर समर्पण समारोह सम्पन्न हुआ। इसी समारोह में पार्श्वनाथ विद्यापीठ को मान्य विश्वविद्यालय बनाने हेतु समाज से आर्थिक सहयोग की अपील भी की गयी जिस पर समाज के गणमान्य लोगों ने पूर्ण सहयोग का आश्वासन दिया।

यूनेस्को द्वारा आचार्यश्री विद्यानन्दजी का व्याख्यान आयोजित

नयी दिल्ली ८ मई : यूनेस्को द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर शान्ति एवं सौहार्द की भावनाओं के प्रचार-प्रसार के लिये चलाये जा रहे विश्वव्यापी कार्यक्रम के अन्तर्गत दि० ८ मई २००१ को राजधानी स्थित राष्ट्रीय संग्रहालय के भव्य सभागार में आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज का मंगल व्याख्यान आयोजित किया गया। समारोह की अध्यक्षता केन्द्रीय मानव संसाधन विकास मन्त्री श्री मुरलीमनोहर जोशी ने की।

पाण्डुलिपि संरक्षण केन्द्र का शुभारम्भ

जयपुर २० मई : राजस्थान में स्थापित पहले पाण्डुलिपि संरक्षण केन्द्र का

शुभारम्भ दिगम्बर जैन नसियां भट्टारकजी, जयपुर में संस्कृत विश्वविद्यालय, जयपुर के कुलपति पद्मश्री डॉ० मण्डन मिश्र के करकमलों से २० मई को सम्पन्न हुआ।

महावीर दिगम्बर जैन पाण्डुलिपि संरक्षण केन्द्र दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी एवं इण्डियन नेशनल ट्रस्ट फॉर आर्ट एण्ड कल्चरल हेरिटेज, लखनऊ के संयुक्त तत्त्वावधान में जयपुर में प्रारम्भ किया गया है। इस केन्द्र में पुरातन, दुर्लभ हस्तलिखित पाण्डुलिपियों का संरक्षण किया जायेगा। संरक्षण में इन्टेक द्वारा विकसित की गयी सभी आधुनिक तकनीक प्रयोग में ली जायेगी। इस केन्द्र के माध्यम से ग्रन्थ भण्डारों एवं मन्दिरों में उपलब्ध दुर्लभ पाण्डुलिपियों के संरक्षण की व्यवस्था की जा रही है। पाण्डुलिपियों के संरक्षण से जुड़े लोगों को इस केन्द्र द्वारा प्रशिक्षित भी किया जायेगा।

समारोह के मुख्य अतिथि डॉ० मण्डन मिश्र ने पाण्डुलिपियों के संरक्षण की दृष्टि से प्रारम्भ किये गये इस केन्द्र का अधिक से अधिक लाभ उठाये जाने का आह्वान किया। इन्टेक के डायरेक्टर जनरल डॉ० ओ०पी० अग्रवाल ने इस केन्द्र को इन्टेक की ओर से न केवल तकनीकी बल्कि आर्थिक सहयोग भी प्रदान किये जाने की घोषणा की। डॉ० अग्रवाल ने अपने स्वर्गीय माता-पिता के नाम से स्थापित ट्रस्ट की ओर से २,०००/- रुपये मासिक की एक छात्रवृत्ति की घोषणा भी इस अवसर पर की।

इस समारोह में जैनविद्या संस्थान, श्री महावीर जी तथा अपभ्रंश साहित्य अकादमी, जयपुर द्वारा संचालित ६ पत्राचार पाठ्यक्रमों में विशेष योग्यता लेकर उत्तीर्ण हुए महानुभावों को स्वर्णपदक, रजतपदक एवं अन्य पुरस्कारों से पुरस्कृत किया गया। समारोह की अध्यक्षता देवर्षि श्री कलानाथ शास्त्री, पूर्व अध्यक्ष, राजस्थान संस्कृत अकादमी, जयपुर ने की। जैन विद्या संस्थान के संयोजक डॉ० कमलचन्द सोगानी ने संस्थान का परिचय और श्री पी०सी० जैन ने धन्यवाद ज्ञापित किया।

पद्मावती चैत्यालय का शिलान्यास सम्पन्न

नयी दिल्ली २७ मई : भगवान् महावीर के २६००वें जन्म कल्याणक वर्ष में स्व० श्री हरखचन्द जी नाहटा परिवार की ओर से नयी दिल्ली में ६ मई २००१ को शुभ मुहूर्त में मां पद्मावती चैत्यालय 'महाबलीपुरम्' के निर्माण हेतु भूमिपूजन का पावन कार्यक्रम परमपूज्य उपाध्याय श्री मणिप्रभसागर जी म०सा० के पावन सान्निध्य में सम्पन्न हुआ। भूमिपूजन के पश्चात् उसी दिन भूमि खनन कार्य प्रारम्भ हुआ और दि० २७ मई को उपाध्याय मणिप्रभसागर जी, मुनिवृन्द, साध्वीवृन्द तथा दिल्ली जैन संघ के चारों सम्प्रदायों के श्रावक-श्राविकाओं, जैनेतर धर्मगुरु व अनुयायियों की उपस्थिति में पूर्ण विधि-विधान के साथ मन्दिर निर्माण हेतु शिलारोपण कर निर्माण कार्य प्रारम्भ हो गया।

श्रुतपञ्चमी-समारोह सम्पन्न

नयी दिल्ली २७ मई : कुन्दकुन्द भारती, नयी दिल्ली के प्रांगण में २७ मई २००१ रविवार को आचार्य विद्यानन्द जी महाराज के सात्रिध्य में श्रुतपञ्चमी के अवसर पर जिन मन्दिर में स्थानीय जैन समाज द्वारा श्रुत पूजन का कार्यक्रम सम्पन्न हुआ।

मध्य प्रदेश में जैन समुदाय अल्पसंख्यक घोषित

भोपाल २९ मई : जैनधर्मावलम्बी लम्बे समय से पूरे देश में जनचेतना एवं अहिंसक आन्दोलन चलाते हुए स्वयं को अल्पसंख्यक घोषित करने की मांग करते आ रहे हैं। दिगम्बर जैन महासमिति के राष्ट्रीय अध्यक्ष श्री देवकुमार सिंह कासलीवाल के अथक् प्रयासों से मध्य प्रदेश सरकार ने अपने यहाँ जैन समुदाय को अल्पसंख्यक जाति के रूप में मान्यता प्रदान कर दी जिससे उन्हें अब मध्य प्रदेश में अन्य धार्मिक अल्पसंख्यकों— मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई की भाँति विशिष्ट राजकीय संरक्षण एवं अन्य सुविधाएँ प्राप्त हो सकेंगी।

श्रमणसंघ की एकता पर बल

श्री धर्मदास गणि परिषद्, रतलाम द्वारा प्रकाशित मासिक पत्रिका सौभाग्यसूर्यसन्देश के मई २००१ के अंक में श्रमणसंघ के प्रवर्तक श्री उमेश मुनि जी म०सा० का एक साक्षात्कार प्रकाशित हुआ है। अपने उद्बोधन में श्री उमेश मुनि जी ने श्रमणसंघ की एकता बनाये रखने पर बल दिया और कहा कि हम सभी का हित इसी में है कि श्रमण संघ विखण्डित रहे।

पं० लक्ष्मणभाई भोजक आचार्य हेमचन्द्रसूरि पुरस्कार से सम्मानित

प्राचीन लिपिविशेषज्ञ एवं वयोवृद्ध विद्वान् श्री लक्ष्मणभाई भोजक को आचार्य हेमचन्द्रसूरि पुरस्कार-२००० से सम्मानित किया गया। पुरस्कार समर्पण समारोह दि० १० जून २००१ को भोगीलाल लहेरचन्द इन्स्टीट्यूट ऑफ इण्डोलाजी के भव्य सभागार में आयोजित किया गया जिसमें उत्तर गुजरात विश्वविद्यालय, पाटण के कुलपति प्रो० बलवन्त एस० जॉनी ने श्री लक्ष्मणभाई को पुरस्कार राशि के रूप में ५१,०००/- रुपये, शाल, प्रतीक चिह्न आदि भेंट कर सम्मानित किया। ज्ञातव्य है कि अब तक यह पुरस्कार जैन विद्या के क्षेत्र में शोधकार्य कर रहे शीर्षस्थ विद्वानों प्रो० एच०सी० भायाणी, प्रो० एम०ए० ढांकी, प्रो० वी०एम० कुलकर्णी, प्रो० ए०एम० घाटगे और प्रो० एस०आर० बनर्जी को प्रदान किया जा चुका है। उक्त समारोह में भोगीलाल लहेरचन्द इन्स्टीट्यूट ऑफ इण्डोलाजी द्वारा प्रायोजित अखिलभारतीय प्राकृतभाषा एवं साहित्य के ग्रीष्मकालीन अध्ययन शिविर की समाप्ति पर उसमें भाग लेने वाले

अध्येताओं को पुरस्कार, प्रमाणपत्र आदि प्रदान किये गये।

कर्मवाद पर आयोजित कार्यशाला सम्पन्न

अहमदाबाद ३० जून : अन्तर्राष्ट्रीय जैन विद्या अध्ययन केन्द्र, गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद और नवीन इन्स्टीट्यूट ऑफ स्पिरिचुअल सायकोलॉजी, अहमदाबाद के संयुक्त तत्त्वावधान में कर्मवाद पर ६ दिवसीय कार्यशाला का आयोजन किया गया। कार्यशाला दि० २५ जून से अहिंसा शोध संस्थान सभागार, गुजरात विद्यापीठ में प्रारम्भ हुई और ३० जून तक चली। इसमें कर्मवाद के विभिन्न १५ विषयों पर सुविख्यात् दार्शनिक प्रो० सागरमल जैन, अधिष्ठाता- पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय, युवा विद्वान् एवं वरिष्ठ प्रवक्ता, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, डॉ० नन्दलाल जैन, रीवा तथा दो स्थानीय विद्वान् डॉ० चन्द्रहास त्रिवेदी एवं मणिभाई शाह और श्री नवीनभाई शाह ने प्रकाश डाला। कार्यशाला का समापन समारोह गुजरात विश्वविद्यालय, अहमदाबाद के कुलसचिव की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ तथा अन्तर्राष्ट्रीय जैन विद्या अध्ययन केन्द्र की नियामक डॉ० पूर्णिमा एस० मेहता ने धन्यवाद ज्ञापित किया।

आचार्यसम्राट् (डॉ०) शिवमुनि जी महाराज का चातुर्मास दिल्ली में

श्रमणसंघ के चतुर्थपट्टधर आचार्य (डॉ०) शिवमुनि जी म०सा०, उपप्रवर्तक श्री तारक ऋषि जी म०सा० आदि ठाणा ८ का वर्ष २००१ का चातुर्मास वीरनगर, दिल्ली में हो रहा है। आचार्यश्री एवं अन्य साधु-सतीवृन्दों के मंगल प्रवेश के अवसर पर २ जुलाई को भव्य कार्यक्रम का आयोजन किया गया जिसमें दिल्ली की मुख्यमन्त्री माननीया श्रीमती शीला दीक्षित मुख्य अतिथि के रूप में उपस्थित रहीं। चातुर्मास की अवधि में स्थानीय श्रीसंघ द्वारा विभिन्न शिविरों का भी आयोजन किया गया है, जिसका विवरण निम्नानुसार है :

चातुर्मास काल में आयोजित साधना शिविर का विवरण

१. "जीवन जीने की कला" ८ जुलाई, २००१ प्रातः १०.३० से ४.३०
एक दिवसीय ध्यान साधना शिविर
२. स्वाध्याय शिविर १६ से २५ जुलाई, २००१
सुबह : दोपहर १.३० से ३.३०
रात्रि : ८.०० से १०.००
३. मौन, ध्यान एवं आत्म आलोचना
सप्त दिवसीय शिविर १५ अगस्त से २१ अगस्त, २००१

४. बाल संस्कार शिविर

१७ से २६ अक्टूबर, २००१

भगवान् महावीर मेडिटेशन एण्ड रिसर्च सेण्टर दिल्ली द्वारा आयोजित एवं वीरनगर श्री संघ द्वारा संचालित ४ दिवसीय ध्यान साधना शिविर का विवरण

जुलाई : १२-१३-१४-१५ (गुरु, शुक्र, शनि, रवि)

जुलाई : २६-२७-२८-२९ (गुरु, शुक्र, शनि, रवि)

अगस्त : ९-१०-११-१२ (गुरु, शुक्र, शनि, रवि)

अगस्त : २५-२६-२७-२८ (गुरु, शुक्र, शनि, रवि)

सितम्बर : ६-७-८-९ (गुरु, शुक्र, शनि, रवि)

सितम्बर : २०-२१-२२-२३ (गुरु, शुक्र, शनि, रवि)

अक्टूबर : ४-५-६-७ (गुरु, शुक्र, शनि, रवि)

अक्टूबर : १३-१४-१५-१६ (शनि, रवि, सोम, मंगल)

नवम्बर : १-२-३-४ (गुरु, शुक्र, शनि, रवि)

नवम्बर : २२-२३-२४-२५ (गुरु, शुक्र, शनि, रवि)

दिल्ली के विभिन्न क्षेत्रों में विराजित श्रमणसंघ के पदाधिकारी मुनिराज

१. उपाध्यायप्रवर श्री विशाल मुनि जी म०सा०,
सलाहकार तपस्वी श्री सुमति प्रकाश जी म०सा० आदि ठाणा-७
उत्तमनगर, दिल्ली।
२. लोकमान्य सन्त, प्रवर्तक श्री रूपचन्द्र जी म०सा० 'रजत',
उपप्रवर्तक सलाहकार श्री सुकन मुनि जी म०सा० आदि ठाणा-१३
विवेकविहार, दिल्ली।
३. मंत्रीप्रवर श्री सुमन मुनि जी म०सा० आदि ठाणा-३
कोल्हापुर रोड, दिल्ली।
४. उप प्रवर्तक श्री हेमचन्द्र जी म०सा० आदि ठाणा-७
वीर अपार्टमेण्ट, रोहिणी, दिल्ली।
५. उप प्रवर्तक, वाणीभूषण श्री अमरमुनि जी म०सा० आदि ठाणा-९
पश्चिम विहार, दिल्ली।
६. पं० रत्न श्री रमेश मुनि जी शास्त्री,
उप प्रवर्तक श्री राजेन्द्र मुनि जी म०सा० आदि ठाणा-५
शास्त्रीनगर, दिल्ली।

७. उप प्रवर्तक श्री विनयमुनि जी म०सा० “भीम” आदि ठाणा-३ लक्ष्मीनगर, दिल्ली।
८. उप प्रवर्तक श्री रवीन्द्र मुनि जी म०सा० आदि ठाणा-५ सदर बाजार, दिल्ली।

चातुर्मास में विराजित पूज्या महासतीवृन्द

उप प्रवर्तिनी महासती श्री केसरदेवी जी म०सा०ठाणा ९; उप प्रवर्तिनी महासती श्री कौशल्या जी म०सा० ‘श्रमणी’ आदि ठाणा-११; तपप्रवर्तिनी महासती श्री हेमकुंवर जी म०सा० आदि ठाणा-८; आध्यात्मयोगिनी महासती श्री कौशल्या जी म०सा०; महासती श्री सरोज जी म०सा०; विदुषी साध्वी महासती श्री मंजू श्री जी म०सा०; उप प्रवर्तिनी महासती श्री सरिता जी म०सा०; महासती श्री स्नेह कुमारी जी म०सा०; साध्वी श्री अजय कुमारी जी म०सा०

वीरनगर, दिल्ली के आस-पास के क्षेत्रों में विराजित महासतीवृन्द

१. स्थविरा महासती श्री मायादेवी जी म०सा०, उप प्रवर्तिनी महासती श्री रमेशकुमारी जी म०सा० आदि ठाणा-७, शक्तिनगर, दिल्ली।
२. उप प्रवर्तिनी महासती श्री आज्ञावती जी म०सा० आदि ठाणा-६, उप प्रवर्तिनी महासती श्री पवनकुमारी जी म०सा० आदि ठाणा-१२, शक्तिनगर एक्सटेंशन, दिल्ली।
३. उप प्रवर्तिनी महासती श्री स्वर्णकुमारी जी म०सा०, कोल्हापुर रोड, दिल्ली।
४. महासती शशि प्रभा जी म०सा० ठाणा-४, महासती पवित्रज्योति जी म०सा० ठाणा-२, राणाप्रताप बाग, दिल्ली।
५. महासती श्री विमला जी म०सा० ठाणा-४, डेरावालनगर, दिल्ली।
६. महासती श्री प्रवीणकुमारी जी म०सा० आदि ठाणा-५, अशोकविहार, दिल्ली।

गाजियाबाद में भव्य चातुर्मास प्रवेश सम्पन्न

गाजियाबाद : श्रमणसंघ के चतुर्थ पट्टधर आचार्य (डॉ०) शिवमुनि जी म०सा० के आज्ञानुवर्ती पण्डितरत्न श्री नरेश मुनि जी म०सा० एवं महासती (डॉ०) श्री दर्शनप्रभा जी म०सा० आदि सन्त-सतीवृन्द का पिछले दिनों गाजियाबाद में भव्य चातुर्मासिक प्रवेश के पावन अवसर पर स्थानीय जैन समाज द्वारा भावभीना स्वागत किया गया।

श्री सौभाग्य मुनि 'कुमुद' का चातुर्मास सिकन्दराबाद में

सिकन्दराबाद ३० जून : श्रमणसंघीय सलाहकार श्री सौभाग्य मुनि 'कुमुद' एवं श्री जयवर्धन मुनि ठाणा-२ का इस वर्ष का चातुर्मास सिकन्दराबाद होना निश्चित हुआ और तदनुसार ३० जून को वहाँ मुनिद्वय का मंगल प्रवेश धूम-धाम से सम्पन्न हुआ।

पूज्य आचार्यश्री राजयशसूरि जी म०सा० का पावन चातुर्मास अहमदाबाद में

श्वेताम्बर पार्श्वनाथ जन्मभूमि मन्दिर, वाराणसी एवं विभिन्न तीर्थों के उद्धारक, पूज्य आचार्यश्री राजयशसूरिश्वर जी महाराज का वर्ष २००१ का पावन चातुर्मास जोधपुर ग्राम रोड, सेटेलाइट एरिया, अहमदाबाद में हो रहा है। आचार्यश्री यहाँ ससंघ सुख-सातापूर्वक विराजमान हैं। दि० ९ दिसम्बर को सेटेलाइट एरिया में ही नवनिर्मित गौड़ी पार्श्वनाथ तीर्थ की प्रतिष्ठा भी आचार्यश्री के करकमलों से होने जा रही है। आचार्यश्री की प्रेरणा से पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी में नवनिर्मित दो भवनों १. यशोविजय स्मृति मन्दिर और २. राजयशसूरि विद्या भवन का भव्य उद्घाटन दि० २१ अक्टूबर को होने जा रहा है। ज्ञातव्य है कि उक्त दोनों भवनों के निर्माण में २२ लाख रुपये का व्यय हुआ है।

साध्वी ॐकार श्रीजी ठाणा १० का चातुर्मास वाराणसी में

श्रीमन्नागपुरीय बृहत्तपागच्छ (पार्श्वचन्द्रगच्छ) के उग्र तपस्वी मुनिराज श्री विजयचन्द्रजी की आज्ञानुवर्तिनी एवं प्रवर्तिनी महत्तरा विदुषीसाध्वी खांतिश्रीजी की शिष्यारत्न धर्मप्रभाविका, प्रवर्तिनी साध्वी ॐकार श्रीजी ठाणा-१० यहां भेलूपुर स्थित भगवान् पार्श्वनाथ जन्मभूमि मन्दिर परिसर स्थित उपाश्रय में विराजित हैं। वाराणसी श्रीसंघ में अपूर्व उल्लास एवं धर्मजागृति बनी हुई है।

ॐकार श्रीजी म०सा० की तीन शिष्यायें— साध्वी संयमरसा श्रीजी, साध्वी सिद्धान्तरसा श्रीजी एवं साध्वी संवेगरसा श्रीजी पार्श्वनाथ विद्यापीठ में जैन दर्शन व व्याकरण के अध्ययनार्थ विराजित हैं।

आचार्य विजय इन्द्रदित्रसूरीश्वर जी महाराज का चातुर्मास हरिद्वार में

श्री आत्म-वल्लभ-समुद्र सूरीश्वर जी म०सा० के क्रमिक पट्टधर, परमार क्षत्रियोद्धारक, गच्छाधिपति श्रीमद् विजय इन्द्रदित्रसूरीश्वर जी महाराज ठाणा-१३ का वर्ष २००१ का पावन चातुर्मास तपोभूमि हरिद्वार में हो रहा है। आचार्यश्री का चातुर्मास

हेतु मंगल प्रवेश १-७-२००१ को प्रातः ८ बजे हुआ। आप ऋषिकेश के मार्ग पर स्थित श्री चिन्तामणि पार्श्वनाथ जैन श्वेताम्बर तीर्थ पर ससंघ विराजित हैं।

फरीदाबाद : आचार्यश्री पुष्पदन्त सागर जी महाराज के शिष्य श्री अरुणसागर जी महाराज का वर्ष २००१ का मंगल चातुर्मास हरियाणा प्रान्त की औद्योगिक नगरी फरीदाबाद में है। आपके मंगल सात्रिध्य में यहाँ विभिन्न धार्मिक आयोजन सम्पन्न हो रहे हैं।

गाजियाबाद : श्री नरेश मुनि जी म०सा० ठाणा-३ एवं डॉ० श्री दर्शनप्रभा जी म०सा० ठाणा-५ का वर्ष २००१ का मंगल चातुर्मास गाजियाबाद- उत्तर प्रदेश में हो रहा है। आपश्री के सात्रिध्य में यहाँ प्रतिदिन विभिन्न धार्मिक आयोजन सम्पन्न हो रहे हैं। आस-पास के क्षेत्रों से प्रतिदिन सैकड़ों श्रद्धालु आकर आपश्री के चरणों में अपनी श्रद्धा समर्पित कर रहे हैं और गुरुवाणी एवं प्रवचन श्रवण का लाभ ले रहे हैं।

पूर्णा जंक्शन : श्रमणसंघीय मुनिश्री हर्षवर्धन जी म०सा० का इस वर्ष का चातुर्मास यहाँ हो रहा है। आपश्री के सात्रिध्य में यहाँ प्रार्थना, प्रवचन, प्रश्नमंच, आचार्य आनन्द ऋषि जी म०सा० की १०२वीं जयन्ती, भक्तिगीत आदि विभिन्न धार्मिक आयोजन सम्पन्न हो रहे हैं जिनमें बड़ी संख्या में स्थानीय एवं आस-पास के क्षेत्रों के श्रद्धालुजन उपस्थित होकर उससे लाभान्वित हो रहे हैं। दि० १८ अगस्त को यहाँ आपश्री के सात्रिध्य में श्रमणसंघ के चतुर्थपट्टधर आचार्यसम्राट डॉ० शिवमुनि जी म०सा० का ५९वां जन्म दिवस जप-तप आदि विभिन्न धार्मिक अनुष्ठानों द्वारा धूमधाम से हर्षोल्लासपूर्वक मनाया गया।

अहमदाबाद : दिगम्बर जैन समाज, अहमदाबाद के विशेष आग्रह पर प्रवचनकेशरी श्री सूर्यसागर जी म० एवं श्री सरलसागर जी का वर्ष २००१ का मंगल चातुर्मास गुजरात प्रान्त की सबसे बड़ी औद्योगिक नगरी अहमदाबाद में हो रहा है। स्थानीय श्रीसंघ द्वारा इस अवसर पर यहाँ विभिन्न धार्मिक आयोजन किये गये हैं।

चातुर्मास घोषित

आचार्य सुदर्शनलाल जी म०सा० के उत्तराधिकारी, संघनायक श्री पद्मचन्द्र जी म०सा० और उनके आज्ञानुवर्ती २७ अन्य मुनिराजों के सुनाम (पंजाब), मुजफ्फरनगर (उत्तर प्रदेश), रुद्रपुर (उत्तरांचल), दिल्ली, जीन्द (हरियाणा), धरौण्डा (हरियाणा), हिसार (हरियाणा) और रोपड़ (पंजाब)— कुल ८ स्थानों पर चातुर्मास निश्चित हुए हैं।

श्वेताम्बर स्थानकवासी जैनसभा, जम्मू के पदाधिकारियों का चुनाव सम्पन्न

जम्मू : जून माह के तृतीय सप्ताह में श्री श्वेताम्बर स्थानकवासी जैनसभा, जम्मू के सदस्यों की एक साधारण बैठक में सभा के पदाधिकारियों का चुनाव किया गया जिसमें श्री चमनलाल जैन, अध्यक्ष; विमलकुमार जैन, उपाध्यक्ष; श्री अशोककुमार जैन, महामन्त्री; श्री ज्ञातनन्दन जैन, मन्त्री; श्री राजकुमार जैन, स्टोर इंचार्ज एवं रवीन्द्र जैन, कोषाध्यक्ष के रूप में सर्वसम्मति से चुने गये।

वर्षायोग स्थापना समारोह सम्पन्न

सोनीपत ४-६ जुलाई : श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, सोनीपत मण्डी में आचार्य श्रीधर्मसागर जी महाराज के शिष्य श्री अमितसागर जी महाराज का संसंघ वर्षायोग (चातुर्मास) स्थापना समारोह ४ जुलाई बुधवार को हर्षोल्लासपूर्वक सम्पन्न हुआ। इस पावन अवसर पर ५ और ६ जुलाई को गुरुपूजन एवं प्रवचन के विशिष्ट कार्यक्रम भी आयोजित किये गये। सभी कार्यक्रमों में श्रद्धालुभक्तों ने उत्साहपूर्वक भाग लिया।

डॉ० नेमिचन्द जैन महावीर पुरस्कार से सम्मानित

चेन्नई : भगवान् महावीर फाउण्डेशन, चेन्नई द्वारा वर्ष २००१ का प्रतिष्ठित महावीर पुरस्कार अहिंसा एवं शाकाहार के पुरोधा डॉ० नेमिचन्द जैन*, इन्दौर को प्रदान करने की घोषणा की गयी है। सौ से अधिक पुस्तकों, हजारों लेखों एवं अनेक प्रेरणादायक कविताओं के रचनाकार डॉ० जैन का सम्पूर्ण जीवन अहिंसा और शाकाहार के प्रचार-प्रसार में समर्पित है। देश के इस प्रतिष्ठित पुरस्कार में हर विजेता को ५ लाख रुपये नकद, एक स्मृति चिह्न एवं प्रशस्तिपत्र द्वारा सम्मानित किया जाता है। पुरस्कार समर्पण समारोह शीघ्र ही दिल्ली में आयोजित किया जायगा।

डॉ० रवीन्द्र कुमार जैन पुरस्कृत

श्री स्याद्वाद महाविद्यालय, वाराणसी की ओर से अपने संस्थापक पूज्य श्री गणेशप्रसाद वर्णी की स्मृति में प्रत्येक वर्ष दिया जाने वाला श्रीगणेशप्रसाद वर्णी स्मृति पुरस्कार इस वर्ष हिन्दी भाषा और साहित्य के सेवानिवृत्त प्रो० डॉ० रवीन्द्र कुमार जी जैन को उनके द्वारा की गयी हिन्दी और जैन साहित्य की सेवा के उपलक्ष्य में प्रदान किया गया है। ज्ञातव्य है कि डॉ० जैन ने हिन्दी साहित्य के अतिरिक्त कविवर बनारसी

*. डॉ० नेमिचन्द जी का पिछले ८ अगस्त को ब्रेनहैमरेज से इन्दौर में निधन हो गया।

दास, महामन्त्र णमोकार, महामन्त्र प्रश्नोत्तरी, तमिलनाडु के प्राचीन जैन स्थल, भक्तामरस्तोत्र आदि विभिन्न कृतियाँ सृजित की हैं।

उपाध्याय ज्ञानसागर श्रुतसंवर्द्धन पुरस्कार- २००० घोषित

श्रुतसंवर्द्धन संस्थान, मेरठ द्वारा प्रवर्तित उपाध्याय ज्ञानसागर श्रुतसंवर्द्धन पुरस्कार-२००० भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली को प्रदान करने की घोषणा की गयी। ज्ञातव्य है कि इस पुरस्कार के रूप में एक लाख रुपया नकद, शाल, श्रीफल एवं प्रशस्तिपत्र प्रदान किया जाता है।

वर्णी स्मृति साहित्य पुरस्कार हेतु पुस्तकें आमन्त्रित

श्री स्याद्वाद महाविद्यालय, भदौनी, वाराणसी की ओर से अपने संस्थापक पूज्य गणेशप्रसाद वर्णी की स्मृति में वर्ष २००१ के श्रीगणेशप्रसाद वर्णी स्मृति साहित्य पुरस्कार के लिये जैनधर्म, दर्शन, सिद्धान्त, साहित्य, समाज, संस्कृति, भाषा एवं इतिहासविषयक मौलिक, सृजनात्मक, चिन्तन, अनुसन्धानात्मक-शास्त्रीय परम्परा युक्त कृति पर पुरस्कारार्थ ४ प्रतियाँ दिसम्बर २००१ तक आमन्त्रित हैं। इस पुरस्कार में ५००१/- रुपया तथा प्रशस्तिपत्र दिया जायेगा। १९९८ के बाद की प्रकाशित पुस्तकें भी इसमें सम्मिलित की जा सकती हैं। नियमावली निम्न पते पर उपलब्ध है—

(डॉ० फूलचन्द जैन 'प्रेमी')

संयोजक, श्रीवर्णी स्मृति साहित्य पुरस्कार समिति,
श्री स्याद्वाद महाविद्यालय, भदौनी, वाराणसी।

समग्र जैन चातुर्मास सूची २००१ प्रकाशित

विगत वर्षों की भाँति इस वर्ष भी समग्र जैन चातुर्मास सूची २००१ का प्रकाशन हुआ। इस सूची का विमोचन पिछले दिनों मुम्बई में केन्द्रीय जहाजरानी मन्त्री श्री वेदप्रकाश गोयल द्वारा सम्पन्न हुआ। ५५० पृष्ठों की इस सूची में श्वेताम्बर, मूर्तिपूजक, स्थानकवासी एवं तेरापंथी समुदाय तथा दिगम्बर सम्प्रदाय के साधु-साध्वियों की अलग-अलग संख्या एवं उनके चातुर्मास स्थलों का विवरण दिया गया है। इस सूची की उपयोगिता निर्विवाद है। जैन समाज के सभी साधु-सन्तों के चातुर्मास स्थलों को उनके पते के साथ प्रकाशित कर पाना इस सूची के सम्पादक श्री बाबूलाल जैन 'उज्ज्वल' जैसे कर्मठ व्यक्ति द्वारा ही सम्भव है।

महावीर वाणी की प्रसारण ई टी सी चैनल पर

भगवान् महावीर के २६००वें जन्म कल्याणक के अवसर पर विश्व अहिंसा मिशन

की ओर से श्री मनोहर मुनि जी महाराज के प्रवचनों, जो उनके वर्ष २००१ के अम्बाला चातुर्मास में दिये जा रहे हैं, को 'महावीर वृणी' कार्यक्रम के रूप में उपग्रह चैनल ई टी सी द्वारा रविवार को छोड़कर प्रतिदिन प्रातः ७ से ७.३० तक प्रसारित किया जा रहा है।

अपभ्रंश साहित्य अकादमी

(जैन विद्या संस्थान, दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीर जी)

प्रवेश-सूचना

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीर जी द्वारा संचालित अपभ्रंश साहित्य अकादमी द्वारा 'पत्राचार अपभ्रंश सर्टिफिकेट पाठ्यक्रम' का १०वां सत्र १ जनवरी २००२ से प्रारम्भ होने जा रहा है। इसमें प्राकृत, संस्कृत, हिन्दी एवं अन्य भाषाओं के प्राध्यापक, शोध-छात्र तथा संस्थाओं में कार्यरत विद्वान् सम्मिलित हो सकेंगे।

नियमावली एवं आवेदन-पत्र ३० सितम्बर २००१ तक अकादमी कार्यालय—
दिगम्बर जैन नसियां भट्टारक जी, सवाई रामसिंह रोड, जयपुर-४ से प्राप्त की जा सकती है।

पत्राचार जैनधर्म-दर्शन एवं संस्कृति सर्टिफिकेट पाठ्यक्रम

२००२ में प्रवेश

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीर जी द्वारा संचालित एवं जैन विद्या संस्थान, जयपुर द्वारा निर्धारित उक्त पाठ्यक्रम का १ जनवरी २००२ से सत्र प्रारम्भ होने जा रहा है। यह पाठ्यक्रम भारत स्थित उन सभी अध्ययनार्थियों के लिये होगा जिन्होंने किसी भी विश्वविद्यालय से स्नातक परीक्षा उत्तीर्ण की हो।

नियमावली एवं आवेदनपत्र ३१ अक्टूबर २००१ तक अकादमी कार्यालय-दिगम्बर जैन नसियां भट्टारक जी, सवाई रामसिंह रोड, जयपुर-४ से प्राप्त करें।

जैन इतिहास अब इण्टरनेट पर

जैनधर्म और जैन समाज का गौरवशाली इतिहास अब इण्टरनेट के जरिये दुनिया के सामने आ चुका है <http://jainhistory.faithweb.com> इस वेबसाइट पर जैन इतिहास के बारे में ढेर सारी अधिकृत सामग्री दी गयी है, इसमें चौबीस तीर्थङ्करों के ऐतिहासिक चरित्र, पिछले २६०० वर्षों में हुए अनेक युगप्रवर्तक जैन आचार्यों का चरित्र व कार्य, विभिन्न जैन सम्राटों और राजवंशों का विवरण, जैन साहित्य का इतिहास, आधुनिक काल के महान् जैन साधुओं और श्रावकों का परिचय आदि शामिल है।

इस वेबसाइट पर एक चर्चा मण्डल भी है जहां जैन इतिहास से सम्बन्धित विषयों पर चर्चाएँ होती रहती हैं। हाल ही में जिन विषयों पर चर्चाएँ हुईं उनके विषय थे 'क्या मारवाड़ी मूलतः तमिल जैन हैं?', 'क्या भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जैनी थे?', 'हिन्दू धर्म भारतीय या विदेशी?', 'तमिल संस्कृति के विकास में जैनधर्म का योगदान' आदि। कई अन्तर्राष्ट्रीय जैन विद्वान् इस चर्चा मण्डल के सदस्य हैं।

इस वेबसाइट की एक और विशेषता यह है कि यहां दुनियाभर के जैन इतिहासविद्, जैन शोध संस्थान, जैन शोध पत्रिकाएं आदि की एक निर्देशिका उपलब्ध है। इस वेबसाइट के निर्माण में कोलोराडो विश्वविद्यालय के यशवन्त मलैया और ब्राह्मी सोसायटी कनाडा के एस०ए० भुवनेन्द्र कुमार जी ने अहम भूमिका निभायी है।

जैन इतिहासविद् अपने शोधनिबन्ध/रचनाएं इस वेबसाइट पर प्रकाशित कर सकते हैं। निबन्ध/रचनाएं अंग्रेजी में होने चाहिए और केवल इमेल द्वारा ही jainhistory@hotmail.com इस पते पर भेजने चाहिए।

जल्द ही इस वेबसाइट पर जैन इतिहास से सम्बन्धित पुस्तकों की समीक्षा प्रकाशित की जाएगी। इसके लिये पुस्तकें, पत्रिकाएं आमन्त्रित हैं। जैन इतिहासविदों से निवेदन है कि वे अपना परिचय इस वेबसाइट पर प्रकाशित करने हेतु भेजें।

पत्र-व्यवहार हेतु पता—

महावीर सांगलीकर

सम्पादक, जैन हिस्ट्री वेबसाइट

२०१, मुम्बई पुणे मार्ग, चिंचवड पूर्व, पुणे-४११०१९

email : jainhistory@hotmail.com

भगवान् महावीर की २६००वीं जयन्ती के पावन अवसर पर मथुरा के जैन स्तूप के पुनः निर्माण का प्रस्ताव

स्थिति- कंकाली टीला गोवर्धन मार्ग के कोने में मथुरा के दक्षिण-पश्चिमी किनारे पर है। यह सात टीलों का समूह है। यहाँ कंकाली देवी का एक छोटा-सा मन्दिर है, जो विशेष प्राचीन नहीं है, इसके कारण यह कंकाली टीला कहलाने लगा। इन टीलों से चौरासी मन्दिर तक टीलों की लम्बी शृङ्खला चली गयी है।

यहाँ की खुदाइयों का विवरण— मथुरा में कंकाली टीले के उत्खनन से हार्डिज, कनिंघम, ग्रावजे और फ्यूरर द्वारा यत्र-तत्र खुदाइयों एवं खोजों में अत्यधिक विशाल संख्या में मूर्तियाँ, आयागपट्ट, स्तम्भ, स्तम्भशीर्ष, छत्र, वेदिका-स्तम्भ, सूचियाँ, उष्णीष, तोरणखण्ड, तोरणशीर्ष एवं अन्य वास्तुशिल्पीय कलाकृतियाँ निकलीं। फ्यूरर को अपने खोज कार्य में ४७ फीट व्यास का ईंटों का एक स्तूप, दो

मन्दिरों के अवशेष एवं ७३७ कलाकृतियाँ मिलीं। फ्यूरर भवनों के विस्तृत मानचित्र और छायाचित्रों के विवरण का उचित सूचीकरण कर सकने में असमर्थ रहा। उन पुरावशेषों का पूर्वापर सम्बन्ध क्या था और वे किन-किन भवनों के थे, इसका भी उन्होंने कोई विवरण नहीं रखा। ये सम्पूर्ण सामग्री मथुरा, लखनऊ, कलकत्ता, लन्दन आदि के संग्रहालयों में सुरक्षित है। यहाँ से उपलब्ध जैन अभिलेखों की संख्या ११० है।

शिलालेखों एवं मूर्तिलेखों से काल-निर्णय— पुरातत्त्वविद् विसेण्ट स्मिथ का कहना है कि यह स्तूप निश्चित रूप से भारत में प्राप्त स्तूपों में सर्वाधिक प्राचीन है। यहाँ के एक शिलालेख से स्पष्ट होता है कि ईसा-पूर्व द्वितीय शताब्दी के मध्य में एक जैन मन्दिर (प्रासाद) में उत्तर दासन नामक श्रावक द्वारा एक प्रासाद-तोरण समर्पित किया गया। यहाँ से प्राप्त एक आयागपट्ट पर विहार शब्द भी अंकित है जिससे स्पष्ट है कि मुनियों के रहने हेतु विहार भी यहाँ बने थे। ईसवी सन् १५७ के एक मूर्तिलेख में यहाँ पर देव निर्मित वोद्व स्तूप पर अर्हत् मुनिसुव्रत की प्रतिमा प्रतिष्ठित करने का उल्लेख है। देव निर्मित वोद्व स्तूप से यह अर्थ निकलता है कि स्तूप इतना पुराना था कि लोग उसके निर्माण का समय भूल चुके थे।

साहित्यिक प्रमाण— विविधतीर्थकल्प-रचनाकाल १४वीं शताब्दी में लिखा है कि सुपार्श्वनाथ स्वामी के तीर्थ में धर्मरुचि और धर्मघोष नामक दो मुनियों की तपस्या के प्रभाव से प्रभावित हो उस वन की अधिष्ठात्री देवी कुबेरा ने सोने तथा रत्नों से मण्डित, तोरण मालाओं से अलंकृत, शिखर पर तीन छत्रों से सुशोभित एक स्तूप का निर्माण किया। उसकी चारों दिशाओं में पंचवर्ण रत्नों की मूर्तियाँ विराजमान थीं। उसमें मूल प्रतिमा सुपार्श्वनाथ स्वामी की थी। पार्श्वनाथ के काल में मथुरा के राजा ने स्तूप को लूटना चाहा, परन्तु देवताओं ने ऐसा नहीं होने दिया। तदुपरान्त भगवान् पार्श्वनाथ का यहाँ आगमन हुआ। उनके विहार के पश्चात् देवों ने इस स्तूप को सुरक्षार्थ ईंटों से ढंक दिया और मुख्य स्तूप के बाहर एक पाषाण मन्दिर बनवाया। इन्हीं आचार्य के विवरणानुसार नौवीं शताब्दी ईसवी में बप्पभट्टिसुरि ने इस स्तूप का जीर्णोद्धार कराया, कूप कोट बनवाया, और जो ईंटें खिसक रही थीं, उनको हटाकर स्तूप को पत्थर से वेष्टित कराया।

कवि राजमल्ल ने **जम्बूस्वामीचरित्र** में लिखा है कि उनके संघ ने इस सिद्धक्षेत्र की वन्दना की व ईसवी सन् १५७३ में उन्होंने दो प्रमुख स्तूप— जम्बूस्वामी का स्तूप, विद्युच्चर मुनि का स्तूप— मिलाकर कुल ५०१ स्तूप एक स्थान पर व १३ स्तूप एक स्थान पर, का पुनरुद्धार कराया। **गार्गीसंहिता** से ज्ञात होता है कि ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी के आरम्भ में ही पुष्यमित्र शुंग (लगभग १८७ से १५१ ईसा पूर्व) से पहिले मथुरा को यवन-आक्रमण का सामना करना पड़ा था।

इस प्रकार पुरातत्त्व एवं साहित्य के प्रमाणों को जोड़ने से स्पष्ट है कि ईसा पूर्व

द्वितीय शताब्दी में वहाँ एक स्तूप एवं दो मन्दिर मौजूद थे। स्तूप अवश्य ही मन्दिर से पूर्व में बना होगा जैसाकि जिनप्रभसूरि कहते हैं कि स्तूप सुपार्श्वनाथ के समय व मन्दिर पार्श्वनाथ के काल में बना।

बौद्धों ने मूर्ति पूजा कुषाण काल में प्रारम्भ की जबकि स्तूप आदि चिह्नों की पूजा कई शताब्दी पूर्व से होती रही। अवश्य ही स्तूप मन्दिरों से पूर्ववर्ती होगा।

प्रोफेसर आर०सी० शर्मा का कहना है कि यह स्थल सुपार्श्वनाथ से सम्बन्धित रहा है। प्रोफेसर शर्मा भी इसका निर्माण काल आठवीं शताब्दी ईसवी पूर्व मानते हैं। स्तूप सम्भव है सुपार्श्वनाथ के समय में बना हो, जैसा कि जिनप्रभसूरि ने १४वीं शताब्दी में बतलाया है।

दूसरी राय है कि यह स्तूप पार्श्वनाथ के तीर्थ में बना होगा जैसाकि सुप्रसिद्ध विद्वान् यू०पी० शाह ने आशा प्रकट की है। इस आधार पर इसका निर्माण काल आठवीं शताब्दी ईसा पूर्व बैठता है। गार्गीसंहिता में लिखे द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व के यवन आक्रमणकारियों ने इस पुराने स्तूप को ध्वस्त किया होगा। इस कारण पूर्व का कोई भी शिलालेख अथवा मूर्ति अवशेष नहीं रहा।

इस आक्रमण के पश्चात् जो पुनः निर्माण हुआ वह सब ११वीं शताब्दी में महमूद गजनवी के आक्रमण के समय ईसवी सन् १०१७ में ध्वस्त हुआ। इस कारण १९वीं शताब्दी के उत्खनन में द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व से ग्यारहवीं शताब्दी ईसा तक की सामग्री वहाँ से उपलब्ध हुई है। महमूद के मोर मुंशी अलउत्वी की कृति 'तारीख-ए-यामिनी' के अनुसार इस शहर में सुलतान ने निहायत उम्दा ढंग की बनी हुई एक इमारत देखी, जिसे स्थानीय लोगों ने मनुष्यों की रचना न बताकर देवताओं की कृति बताया। यह रचना अवश्य ही यही स्तूप रहा होगा। इसके बाद सिकन्दर लोदी (सन् १४८८ से १५१६ तक), औरंगजेब और अहमदशाह अब्दाली ने इस शहर के मन्दिरों को लूटा। इस प्रकार जिनप्रभसूरि ने महमूद गजनवी द्वारा विध्वंस के बाद एवं कवि राजमल्ल ने पुनः सिकन्दर लोदी के विध्वंस के बाद ही इन स्तूपों एवं मन्दिरों को देखा। महमूद गजनवी के बाद कंकाली टीले पर कोई विशेष मरम्मत या कलात्मक कार्य नहीं हुआ। कवि राजमल्ल के मरम्मत कार्य को भी औरंगजेब व अहमदशाह अब्दाली ने ध्वस्त किया होगा।

आगे सम्भावनाएँ

(१) इस स्तूप का पुनः निर्माण होने से, आठवीं शताब्दी ईसा पूर्व का ऐतिहासिक साक्ष्य दर्शनार्थ उपलब्ध होगा, जो एक अद्वितीय उपलब्धि होगी। जैन साहित्य में स्तूपों का वर्णन प्रचुर मात्रा में है, परन्तु इस स्तूप के अवशेषों को छोड़कर

कोई भी अन्य जैन स्तूप भारत में आज तक नहीं पाया गया है। इस कारण इस कार्य का महत्त्व द्विगुणित होगा। इस स्थान से विपुल सामग्री प्राप्त हुई है जिसका समुचित अध्ययन इस प्रकार के पुनः निर्माण से ही हो सकेगा अन्यथा नहीं।

- (२) इस टीले से निकली पुरा-सम्पदा अधिकतर लखनऊ संग्रहालय में तथा शेष सामग्री मथुरा, कलकत्ता व लन्दन के संग्रहालयों में है। किसी भी अध्ययन के लिये यह उपयुक्त होगा कि लखनऊ, मथुरा एवं कलकत्ता संग्रहालयों की पुरा-सम्पदा को एक स्थानीय संग्रहालय में संगृहीत किया जावे। इस सामग्री में अधिकतर सामग्री अप्रदर्शित है। एक अनुमान से केवल २ या ३ प्रतिशत सामग्री ही प्रदर्शित है। प्रथम चरण में स्थानीय संग्रहालय में कम से कम यह अप्रदर्शित सामग्री लायी जावे एवं उसका सही मूल्यांकन एवं प्रदर्शन किया जावे। प्रदर्शित सामग्री को देने में कुछ आनाकानी संग्रहालय के प्रबन्धकों की ओर से हो सकती है, परन्तु वह सामग्री जो पिछले ५० वर्षों से प्रदर्शित नहीं की गयी उसे स्थानीय संग्रहालय में ले जाने से तो इन संग्रहालयों को कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। इस प्रकार के स्थानीय संग्रहालय पहले ही सारनाथ, नालन्दा, वैशाली आदि पुरातत्व की साइट पर हैं।
- (३) इस स्तूप जितना पुराना अन्य कोई स्थापत्य इस देश में नहीं है। इस कारण भी इसका अध्ययन आज की वैज्ञानिक पद्धति से आवश्यक है। इस स्तूप का वरचुअल रिक्न्स्ट्रक्शन कम्प्यूटर द्वारा किया जा सकता है एवं यहाँ से प्राप्त ईटों का थर्मोल्युमिनसेंस टेस्ट द्वारा इसके काल का सही निर्णय किया जा सकता है।
- (४) यहाँ से निकली सामग्री का एक बृहत् एवं आधुनिक कैटलाग (सूचीपत्र) छापा जाना आवश्यक है। पूर्व में जो सूचना प्रकाशित है यह ५० वर्षों से अधिक पुरानी है।

कार्यों का माध्यम

- (१) उपरोक्त पहला, दूसरा व चौथा कार्य शासन के माध्यम से ही होना सम्भव है। उपरोक्त तीसरा कार्य भी उपरोक्त शेष दोनों कार्यों के साथ-साथ किया जाना चाहिए।
- (२) जैन संस्था, जो सभी जैनियों की बनी है, वह उपरोक्त कार्यों को कराने हेतु शासन पर दबाव बनाये। इस कार्य के लिये यही सही समय है। शासन ने पहले ही १०० करोड़ रुपया जैनधर्म के कार्यों हेतु घोषित किया है इसमें से लगभग एक करोड़ रुपया इस कार्य हेतु लगाना आवश्यक है।

- (३) दिगम्बर एवं श्वेताम्बर सभी जैन संस्थाएँ इस स्थान के बराबर में ही कुछ भूमि लेकर अपनी-अपनी संस्था बनावें तो उपयुक्त है। यह प्रामाणिक रूप से पिछले लगभग तीन हजार वर्षों से जैन तीर्थ रहा है। यह क्षेत्र अवश्य सिद्ध क्षेत्र रहा होगा। यहाँ से जो सन्देश आप देंगे वह जन-जन तक पहुँचेंगा।
- (४) इस जगह का नामकरण 'बौद्धव स्तूप' व टीले का नाम 'बौद्धव स्तूप का टीला' होना चाहिए। यह नाम वहाँ से प्राप्त १५७ ईसवी के एक शिलालेख में अंकित है। कंकाली देवी का मन्दिर जिसके नाम पर इस स्थान को कंकाली टीला कहा जाता है, जो बहुत बाद का है।

अगर शासन कुछ न करे तो भी हम बराबर में भूमि लेकर आगे सम्भावनाओं के तीसरे बिन्दु पर योजनाबद्ध तरीके से कार्य आरम्भ कर सकते हैं ताकि भविष्य में शासन पर यहाँ पुनः स्तूप निर्माण का दबाव बनाया जा सके।

सत्येन्द्र मोहन जैन*

पूर्व अभियन्ता एवं नियामक,
कला वीथिका, पार्श्वनाथ विद्यापीठ।

*. श्री सत्येन्द्र मोहन जैन पुरातत्वप्रेमी एवं अवकाशप्राप्त अभियन्ता हैं। अपने सेवाकाल में उन्होंने प्रदेश के विभिन्न भागों से बड़ी संख्या में जैनकलाकृतियों, उनके अवशेषों, प्रतिमाओं आदि का संकलन किया है। प्रो० सागरमल जी जैन की प्रेरणा से उन्होंने अपने संग्रह का बड़ा हिस्सा पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी को दानस्वरूप भेंट कर दिया जिसके आधार पर संस्थान अपना निजी संग्रहालय स्थापित करने में समर्थ हो सका है। भगवान् महावीर की २६००वीं जयन्ती के अवसर पर उन्होंने मथुरा स्थित कंकाली टीले के पुनर्निर्माण की ओर अपने उक्त वक्तव्य के माध्यम से सरकार एवं समाज का ध्यान आकर्षित किया है।

२६००वें कल्याणक महोत्सव को पर्यावरण वर्ष के रूप में मनाने की अपील

जैन सोशल ग्रुप, इन्दौर द्वारा भगवान् महावीर के २६००वें जन्म कल्याणक को अहिंसा की वर्तमान शब्दावली पर्यावरण संरक्षण के अन्तर्गत पर्यावरणवर्ष के रूप में मनाने तथा भगवान् के पर्यावरण दर्शन को जन-जन तक पहुँचाने की अपील की गयी है।

**पूज्य गणिनी श्री ज्ञानमती माताजी के मंगल प्रवचन आस्था
चैनल पर प्रतिदिन मध्याह्न ३.३० बजे**

‘भगवान् महावीर २६००वाँ जन्म कल्याणक महोत्सव’ के सन्दर्भ में पूज्य गणिनी प्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी द्वारा ‘आस्था चैनल’ पर दिगम्बर आम्नाय के अनुसार प्रथम बार तीर्थङ्कर-परम्परा का सचित्र कार्यक्रम एवं मंगल प्रवचन शृंखला १७ सितम्बर २००१, सोमवार से प्रतिदिन मध्याह्न ३.३० बजे से प्रसारित होने जा रही है। दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान जम्बूद्वीप, हस्तिनापुर द्वारा प्रायोजित जैनधर्म के तलस्पर्शी ज्ञान को घर बैठे प्रदान करने वाले इस कार्यक्रम को आप स्वयं भी देखें एवं इष्ट मित्रों को भी दिखावें।

नोट- प्रत्येक रविवार को मध्याह्न ३.३० बजे के स्थान पर प्रातः ६.४० बजे प्रवचन प्रसारित होंगे।

कर्मयोगी ब्र० रवीन्द्र कुमार जैन (अध्यक्ष)

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान

जम्बूद्वीप, हस्तिनापुर जिला मेरठ (उ०प्र०)

**अवधूत आनन्दधन की आध्यात्मिक शब्द चेतना संगोष्ठी
का आयोजन**

प०पू० आचार्यश्री विजयसूर्योदय सूरि एवं आचार्य श्रीविजयशीलचन्द्रसूरि जी म०सा० की पावन प्रेरणा से उन्हीं के सान्निध्य में श्री जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक तपागच्छ गोपीपुरा संघ, सुरत द्वारा अवधूत आनन्दधन की आध्यात्मिक शब्द चेतना पर दिनांक १३-१४ अक्टूबर को स्थानीय श्री ॐकारसूरि आराधना भवन, सुभाष चौक, गोपीपुरा सुरत में दो दिवसीय संगोष्ठी का भव्य आयोजन किया जा रहा है। इस संगोष्ठी में प्रो० रमणलाल ची० शाह, प्रो० एम०ए० ढांकी, डॉ० बलवन्त जानी, डॉ० नरोत्तम पलाण, डॉ० नगीन जी० शाह, डॉ० कुमारपाल देसाई, डॉ० दलपत पढियार, डॉ० जीतेन्द्र बी० शाह, डॉ० ताराबेन शाह, डॉ० कलाबेन शाह, डॉ० मीनण बेन दवे, श्री लाभशंकर पुरोहित, डॉ० कान्तिभाई बी० शाह, डॉ० भोपाल सिंह राठोड़ आदि द्वारा उक्त विषय पर शोधपत्रों का वाचन होगा। इसी अवसर पर ‘कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्रसूरि नवम जन्म शताब्दी स्मृति संस्कार शिक्षण निधि, अहमदाबाद’ द्वारा १३ अक्टूबर को प्रातः १०.३० पर भारतीय दर्शन के मूर्धन्य विद्वान् प्राध्यापक डॉ० नगीन जी० शाह को श्री हेमचन्द्राचार्य चन्द्रक प्रदान कर उन्हें सम्मानित भी किया जायेगा।

हरिद्वार तीर्थ पर नवीन अतिथि गृह का भव्य उद्घाटन

हरिद्वार! अक्टूबर मास की १७ तारीख को श्री चिंतामणि पार्श्वनाथ जैन श्वेताम्बर तीर्थ पर श्री विश्वकल्याण आत्म जैन फाउण्डेशन द्वारा निर्मित नवीन अतिथिगृह 'श्रीमती मोहन कंवर सायरचंद नाहर भवन' का उद्घाटन माननीय राज्यपाल (उत्तरांचल) श्री सुरजीत सिंह बरनाला की उपस्थिति में सम्पन्न होगा। इस अवसर पर आयोजित होने वाले समारोह की अध्यक्षता श्रेष्ठीवर्य श्री दीपचंद गार्डी करेंगे। श्री श्रेणिक कस्तूरभाई व श्री सायरचंद नाहर इस समारोह में विशेष अतिथि होंगे।

पूज्य गच्छाधिपति आचार्य विजय इन्द्रदित्र सुरिजी म०सा० की निश्रा में आयोजित किये जाने वाले उद्घाटन एवं जनसमर्पण समारोह में पूरे भारतवर्ष से हजारों तीर्थयात्रियों एवं दानदाताओं की उपस्थिति संभाव्य है।

नवीन धर्मशाला का भूमिदान व मुख्य सहयोग चैत्रई निवासी श्री सायर चंदजी नाहर परिवार द्वारा किया गया है व इसमें करीब ८०० यात्री ठहर सकेंगे।

सूकर क्षेत्र महोत्सव का आयोजन

पांचाल शोध संस्थान, कानपुर का १५वां वार्षिक सम्मेलन २८-३० अक्टूबर २००१ को कासगंज (जनपद- एटा) में आयोजित किया जा रहा है जिसमें देश-विदेश के विभिन्न विश्वविद्यालयों एवं संस्थाओं के विद्वान् भाग लेंगे। इस अधिवेशन में विभिन्न शोधपत्र पढ़े जायेंगे जो सूकर क्षेत्र की सांस्कृतिक धरोहर के साथ-साथ उस क्षेत्र की लोकसंस्कृति, लोककला, लोकनृत्य, लोकसंगीत, लोकसाहित्य एवं संस्कृति तथा पुरातत्त्व पर आधारित होंगे। इस सम्मेलन में भाग लेने के इच्छुक विद्वान् पांचाल शोध संस्थान के प्रधान कार्यालय ५२/१६, शक्करपट्टी (घण्टाघर रेलवे स्टेशन के पास) से सम्पर्क कर सकते हैं।

शोक समाचार

दिल्ली १ मई : राष्ट्रसन्त, उत्तरभारतीय प्रवर्तक भण्डारी श्री पद्मचन्द्र जी म०सा० का दिनांक १ मई २००१ को ऋषभविहार, दिल्ली में देवलोक गमन हो गया। विद्यापीठ परिवार प्रवर्तकश्री जी के चरणों में हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करता है।

वाराणसी १० मई : पार्श्वनाथ विद्यापीठ की स्थापना के समय से ही इससे जुड़े हुए परिचारक श्री रामनैन का दिनांक १० मई २००१ को संक्षिप्त बीमारी के पश्चात् निधन हो गया। श्री रामनैन ने विद्यापीठ की अपनी लम्बी सेवा अवधि में कर्तव्यपरायणता, ईमानदारी और मधुर व्यवहार का जो उदाहरण प्रस्तुत किया, वह

सभी के लिये अनुकरणीय है। विद्यापीठ परिवार की ओर से स्व० रामनैन को हार्दिक श्रद्धाञ्जलि।

कलकत्ता २७ जुलाई : जैन विश्वभारती (मान्य विश्वविद्यालय) के कुलाधिपति, वयोवृद्ध श्रावक श्री श्रीचन्द्रजी रामपुरिया का ९३ वर्ष की आयु में संक्षिप्त बीमारी के पश्चात् कलकत्ता में निधन हो गया। आप अपने पीछे पुत्र-पौत्रों का भरा परिवार छोड़ गये हैं। विद्यापीठ परिवार की ओर से स्व० रामपुरिया जी को हार्दिक श्रद्धाञ्जलि।

इन्दौर ८ अगस्त : बीसवीं शताब्दी के महान् जैन पत्रकार, शाकाहार के प्रबल समर्थक, बहुमुखी प्रतिभा के धनी प्रो० नेमिचन्द जी जैन का ७४ वर्ष की आयु में इन्दौर में आकस्मिक रूप से निधन हो गया। अभी दो माह पूर्व ही अहिंसा और शाकाहार के क्षेत्र में आपके योगदान को देखते हुए भगवान् महावीर फाउण्डेशन, चेन्नई द्वारा महावीर पुरस्कार प्रदान करने की घोषणा की गयी थी। डॉ० नेमिचन्द जी के निधन से जैन समाज ने एक ऐसे निडर पत्रकार, कुशल लेखक और अहिंसा के सजग प्रहरी को खो दिया जिसकी पूर्ति होनी असम्भव-सी दिखायी देती है। पार्श्वनाथ विद्यापीठ परिवार उन्हें भावभीनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता है।

क्षमापणा

संवत्सरी महापर्व पर विगत काल में जान-अनजान में हुई भूलों और गलतियों के लिये हम मन-वचन-कर्म से क्षमाप्रार्थी हैं। आशा है, आपश्री उदारतापूर्वक क्षमा प्रदान कर अनुगृहीत करेंगे।

**निवेदक
पार्श्वनाथ विद्यापीठ
परिवार**

साहित्य सत्कार

सिद्धसेनशतक, अनु० एवं विवेचक मुनिश्री भुवनचंद जी, डिमाई, पृष्ठ संख्या ३०५, प्रका० जैन साहित्य अकादमी, गांधीधाम (कच्छ), मूल्य १२०/-।

विद्वान्मुनि श्री भुवनचंदजी द्वारा संकलित, अनुवादित एवं विवेचित 'सिद्धसेनशतक' एक लम्बे समय के अन्तराल के बाद उपलब्ध सिद्धसेन दिवाकर की द्वात्रिंशत्द्वात्रिंशिका पर आधारित एक मौलिक रचना है। मुनिश्री ने आचार्य सिद्धसेन की द्वात्रिंशत्-द्वात्रिंशिकाओं में से उपलब्ध कुल २१ द्वात्रिंशिकाओं में से कुल १०० श्लोकों का संकलन किया है। श्लोकों की चयन शैली उनकी विद्वत्ता और अनुवाद तथा विवेचना संस्कृत भाषा पर उनके अधिकार को द्योतित करती है। प्रारम्भ में आपने ३२ द्वात्रिंशिकाओं का विहंगावलोकन कराकर पाठकों को उनकी इस विशेष रचना से परिचित कराया है एवं पुनः चयनित १०० श्लोकों में मुनिश्री ने जिन विषयों की चर्चा की है उनमें से प्रमुख हैं— भगवान् महावीर की दृष्टि, अनेकान्त की महत्ता, प्रवृत्ति और निवृत्ति, मोक्ष और उसकी प्राप्ति के साधन, कर्म और बन्धन का स्वरूप, गुरु की महत्ता आदि। ऐसे लोग जिन्हें द्वात्रिंशिकाएँ उपलब्ध नहीं हो पाईं; मुनिश्री के इस संकलन से वे सिद्धसेन दिवाकर की उत्कृष्ट प्रतिभा तथा विषय की गहराइयों तक पहुँचने की उनकी विशेषता से परिचित हो सकेंगे। वास्तव में 'सिद्धसेनशतक' सिद्धसेनकालीन दार्शनिक एवं आध्यात्मिक परिवेश से तो हमें परिचित कराता ही है, साथ ही विद्वान् मुनि की दर्शन के गूढ़ रहस्यों को जानने की क्षमता से भी परिचित कराता है। मुनिश्री के इस स्तुत्यप्रयास के लिए हम उन्हें बधाई देते हैं।

डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय

हिन्दी साहित्य और दर्शन में आचार्य सुशील कुमार का योगदान : लेखिका-आचार्य डॉ० साध्वी साधना, प्रकाशक- एल्फा पब्लिकेशन, २६४०, रोशनपुरा, नई सड़क, दिल्ली-६, प्रथम संस्करण- १९९९, मूल्य- ५००/-, पृष्ठ ६४५.

प्रस्तुत ग्रन्थ, लेखिका आचार्य डॉ० साध्वी साधना द्वारा डी०लिट्० उपाधि के लिये तैयार किया गया शोधप्रबन्ध है। ये विदुषी होने के साथ लेडिज टेलिग्रेट भी हैं। इस रचना में इन्होंने अपने गुरु आचार्य सुशीलकुमार जी के दार्शनिक, धार्मिक, साहित्यिक आदि विविध चिन्तनों को विवेचित किया है, जो एक सराहनीय कार्य है।

आचार्य सुशीलकुमार जी का व्यक्तित्व बहआयामी था। वे एक उच्चकोटि के

सन्त थे; किन्तु उन्होंने अपने को सिर्फ पारलौकिकता से ही नहीं बांध रखा था। वे लोक को भी व्यवस्थित और शान्तिपूर्ण देखना चाहते थे। सम्भवतः उनकी दृष्टि में लौकिक सुव्यवस्था में ही पारलौकिक उपलब्धि का बीज अंकुरित होता है इसलिए उन्होंने रूढ़िवादिता से हटकर, विश्व में अनुकूल परिवर्तन लाने का प्रयास किया जो साधना जी के निम्नलिखित शब्दों में स्पष्ट व्यक्त होता है—

“आचार्य सुशील मुनि परिवर्तनवादी, प्रगतिवादी, उदारवादी और समाजसेवी साधु थे। वे किसी भी धर्म के भीतर संगठन बनाकर, बंटवारा कर, गुरुडम चलाकर, कर्मकाण्ड या उपासना पद्धति या तकनीक को धर्म नहीं बताते थे, उनके धर्म का उद्देश्य मानव और विश्व समाज का कल्याण है, जिसके लिये राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध और ईसा का प्रादुर्भाव हुआ था।”

स्वयं एक आचार्य होते हुए भी आचार्य सुशील मुनि ने आचार्यों पर दोषारोपण किया है कि उन लोगों ने गुरु-परम्परा के आधार पर समाज को बांट रखा है जिसके कारण विभिन्न परम्पराओं के बीच तो विरोध है ही, एक परम्परा के भीतर भी आपसी विद्वेष देखा जाता है इसलिए उनका मानना था कि आज के युग में परम्परावाद का नहीं बल्कि यथार्थवाद का समर्थन होना चाहिए।

आचार्य सुशीलकुमार जी एक जैन साधु थे; किन्तु उनका जैनधर्म भूगोल की किसी सीमा में बँध जाने वाला नहीं है, क्योंकि उन्होंने इसे मानवतावादी माना है और इस आधार पर उनका जैनधर्म विश्वव्यापी है। उनका जैनधर्म मानवतावादी होकर सिर्फ मानवों तक ही नहीं रह जाता है बल्कि समस्त प्राणियों के हित की कामना करता है, क्योंकि उनके धर्म में अहिंसावाद की प्रधानता है।

अहिंसावाद, मानवतावाद, उदारतावाद आदि जनकल्याणकारी सिद्धान्त तो जैनधर्म में प्रारम्भकाल से चले आ रहे हैं, फिर तो आचार्य सुशीलकुमार जी ने ऐसा क्या किया है जिसे जैन चिन्तन, भारतीय संस्कृति एवं विश्व समाज को उनका योगदान समझा जा सकता है? यह प्रश्न जितना ही स्वाभाविक है उतना ही इसका उत्तर भी सरल है, क्योंकि आचार्य जी ने जो भी किया है, वे निश्चित रूप से उनकी देन को प्रमाणित करने वाले हैं। उनमें से मुख्य बातों को इस प्रकार समझ सकते हैं—

- (१) जैन चिन्तन को विश्व स्तर पर लाने का उनका प्रयास उसे रूढ़िवादिता से मुक्त करता है। एक जैन मुनि का विदेश में जाकर अपने विचार को खुले शब्दों में रखना अपने आपमें एक साहसपूर्ण काम है।
- (२) विश्व गाँव या विश्व समाज की कल्पना करके उसे एक यथार्थ रूप देने का प्रयास सम्पूर्ण मानव जाति को एक परिवार में लाने की बात है।

- (३) विश्वधर्म सम्मेलन जैसे संगठन की स्थापना में निर्विघ्न रूप से संसार से धार्मिक विद्वेष को मिटा देने की योजना निहित है जिसकी पुष्टि सिद्धाचलम् की स्थापना से भी होती है।

विश्व कल्याण की उनकी महत्वाकांक्षा को देखते हुए ८ मई सन् १९७५ ई० को संसद सदस्यों ने उनका अभिनन्दन करते हुए कहा था— “आज के अनेक राष्ट्रों में बंटे खण्डित विश्व को अखण्ड विश्व के रूप में देखने की आपकी कल्पना है। अनेक धर्म, जाति, वेश-भूषा व भाषा के टुकड़ों में बंटे विश्व में एकता स्थापित करने के लिये आपके हृदय में तड़प है। आपकी यही कामना है कि आज के आणविक युग में जब तक विश्व में सर्वधर्मसमभाव, सर्वराष्ट्र, सर्वजाति, समान अधिकार जैसी उच्च भावनाएं स्थापित नहीं होतीं, तब तक विश्व शान्ति का दर्शन असम्भव है। राष्ट्र को आपसे समय-समय पर सफल नेतृत्व मिलता रहा है और प्रत्येक सांस्कृतिक संकट और वैचारिक टकराव की स्थिति में आपने रचनात्मक शक्तियों को संजोकर उसे सही दिशा दी है। भगवान् महावीर के अनुयायी के रूप में देश से बाहर जाकर आपने भारतीय सिद्धान्तों व आदर्शों का प्रचार किया है।”

आचार्य सुशीलकुमार जी ने आज की विकट प्रदूषण समस्या के विषय में स्वयं कहा है— “प्रदूषण से वायु दूषित, पानी दूषित, धरती दूषित, मानव का तन और मन दूषित हो रहा है। हम क्यों अपने घर को नरक बनाने पर तुले हुए हैं? हमें चेतना है, उठना है, इस बर्बादी को रोकना है। जीयो और जीने दो के सिद्धान्त पर प्रकृति में सन्तुलन बनाना है।”

आचार्य डॉ० साध्वी साधना ने अपने पूज्य गुरु के महान् सिद्धान्तों को प्रस्तुत ग्रन्थ में बड़ी कुशलता के साथ सजाया है। साथ ही अपने विचारों को भी समुचित ढंग से रखने का सफल प्रयास किया है। इसके लिये उन्हें बधाई है।

किन्तु मेरी राय में आ० साधना जी को यहीं पूर्ण विराम न लेकर, इस ग्रन्थ को आचार्य सुशीलकुमार जी के चिन्तन की पृष्ठभूमि मानकर उनके दर्शन की विभिन्न विधाओं पर विस्तारपूर्वक अलग-अलग ग्रन्थों की रचना करनी चाहिए, जिस प्रकार सुकरात के सुशिष्य प्लेटो ने उनके दर्शन को विस्तार प्रदान किया है। पुस्तक की साज-सज्जा आकर्षक है, छपाई सुस्पष्ट है।

डॉ० बशिष्ठनारायण सिन्हा

प्रमेयकमलमार्तण्ड परिशीलन : लेखक- प्रो० उदयचन्द्र जैन, प्रकाशक- प्राच्य श्रमण भारती, १२/१ प्रेमपुरी, निकट जैन मन्दिर मुजफ्फरनगर (उ०प्र०)- २५१००१, मूल्य- पचास रुपये, पृ० २८४.

प्रमेयकमलमार्तण्ड जैन दर्शन तथा जैन न्याय का अति प्रामाणिक एवं प्रसिद्ध ग्रन्थ है। यह आचार्य माणिक्यनन्दि द्वारा विरचित **परीक्षामुख** ग्रन्थ पर की गयी एक टीका है जिसमें बारह हजार श्लोक हैं। यद्यपि यह एक टीका ग्रन्थ है, परन्तु यह किसी भी मूल ग्रन्थ से किसी मामले में कम नहीं है। सचमुच यह जैनन्याय को उस तरह प्रकाशित करता है जिस तरह सूर्य जगत् को। इस ग्रन्थ के अध्ययन के बिना जैनन्याय का अध्ययन किसी भी तरह पूरा नहीं माना जा सकता; किन्तु इसका अध्ययन आसान नहीं है। यह जैनन्याय को विवेचित एवं विश्लेषित करता है; किन्तु इसे स्पष्ट करके इसका सरल रूप प्रस्तुत करना प्रो० उदयचन्द्र जी जैन जैसे विद्वान् का ही कार्य हो सकता है।

इस ग्रन्थ में प्रमाण के लक्षण, प्रमाण के भेद, प्रत्यक्ष एवं परोक्ष प्रमाणों के लक्षण, प्रमाण के फल, प्रमाणाभास, नय आदि के विशद् विश्लेषण हैं जिन्हें प्रो० उदयचन्द्र जी ने सरल एवं सुबोध भाषा में प्रस्तुत किया है। ऐसा करके उन्होंने जैन साहित्य संवर्धन में तो योगदान किया ही है साथ ही उन पाठकों का भी उपकार किया है, जो जैनदर्शन तथा जैन न्याय में रुचि रखते हैं। इसके लिये वे बधाई के पात्र हैं। पुस्तक का बाह्य रूप एवं छपाई सुन्दर है।

डॉ० बशिष्ठनारायण सिन्हा

षड्दर्शनसमुच्चय : अनुवादक- मुनिश्री वैराग्यरति विजय जी, प्रकाशक- प्रवचन प्रकाशन, ४८८, रविवार पेठ, पूना-४११००२, पृ० ९१।

श्रीहरिभद्रसूरिकृत **षड्दर्शनसमुच्चय** आकार की दृष्टि से तो छोटा है लेकिन महत्त्व की दृष्टि से बहुत बड़ा है। यह अपने महत्त्व के आधार पर ही पुस्तिका होते हुए भी ग्रन्थ की कोटि में आता है। इसमें जैन दृष्टि से षड्दर्शनों के विवेचन मिलते हैं जिसके सम्बन्ध में हरिभद्र ने स्वयं कहा है—

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।

युक्तिमद् वचनं यस्य, तस्य कार्य परिग्रहः।।

अर्थात् मेरे मन में न तो महावीर के प्रति पक्षपात का भाव है और न कपिल आदि के प्रति द्वेषभाव, बल्कि जिनके भी वचन युक्तिसंगत हैं वे ग्रहणीय हैं।

ऐसे निष्पक्षभाव से किये गये विवेचन का अध्ययन मात्र जैन विद्वानों के लिये ही नहीं बल्कि भारतीय दर्शन का अध्ययन करने वाले किसी भी व्यक्ति के लिये आवश्यक है। मुनिश्री वैराग्य विजय जी ने इस ग्रन्थ का गुजराती भाषा में अनुवाद करके, दर्शन के गुजराती पाठकों का कल्याण किया है। उनका यह कार्य प्रशंसनीय है और वे बधाई के पात्र हैं। पुस्तक देखने में सुन्दर है, इसकी छपाई साफ है।

डॉ० बशिष्ठनारायण सिन्हा

श्रावकधर्मविधिप्रकरणम् : सम्पादक- मुनि चतुरविजय, प्रकाशक- श्री ज्ञालावाड़ जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक तपागच्छ संघ ट्रस्ट, सुरेन्द्रनगर, गुजरात, मूल्य- ३५.००, पृ० ११०.००।

श्रावकधर्मविधिप्रकरणम् में कुल १२० श्लोक हैं, जिनमें श्रावकधर्म के विधि-विधान विवेचित हैं। श्री चतुरविजय मुनि जी ने टीका सहित इसका सम्पादन किया है। इस पुस्तक की संस्कृत में टीका करके उन्होंने संस्कृत भाषियों के लिये उपयोगी कार्य किया है। इससे संस्कृत साहित्य सम्पन्न होता है। अतः वे बधाई के पात्र हैं; किन्तु सामान्य लोगों को ध्यान में रखते हुए यदि श्रावकधर्मविधिप्रकरणम् की टीका हिन्दी या गुजराती में होती तो उससे साधारण पाठक भी लाभान्वित होते। हो सकता है मुनिजी आगे इस पर विचार करें। पुस्तक की बाह्य रूपरेखा आकर्षक और छपाई भी स्पष्ट है।

डॉ० बशिष्ठनारायण सिन्हा

सारस्वती सुषमा : सम्पादक- डॉ० हरिश्चन्द्रमणि त्रिपाठी, प्रकाशक- सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, पृ० ११९-३५८, वि०सं० २०५४, मूल्य (वार्षिक) १००.००।

सारस्वती सुषमा सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय की अनुसन्धान पत्रिका है, जो अपने सफल ५२वें वर्ष में गतिमान है। यह एक त्रैमासिक पत्रिका है। इसमें “निर्विशेषब्रह्मवाद, पारस्करगृह्यसूत्रोक्ताशौचनिरूपणम् न धातुलोप आर्धधातुके, कर्मसिद्धान्तविवेचनम्, अद्वैते प्रपञ्चोपादानत्वविमर्शः, महाकविभवभूतिनाथ्यसाहित्ये जीवनमूल्यदर्शनम्, भाणश्चतुर्भाषी च एवं आनन्दस्वरूपविमर्श ये आठ रचनाएं हैं, जो सारगर्भित एवं महत्त्वपूर्ण हैं। संस्कृत भाषा-भाषी लोगों की दृष्टि से यह एक महत्त्वपूर्ण पत्रिका है। यह एक लम्बे समय से संस्कृत-साहित्य के संवर्धन में योगदान करती आ रही है। आगे भी यह सफलतापूर्वक चलती रहे, इसके लिये मंगल कामना है। इसके लिए सम्पादक एवं सम्पादक मण्डल के विद्वान् बधाई के पात्र हैं।

डॉ० बशिष्ठनारायण सिन्हा

Best Jain Stories by Upadhyaya Shri Pushkar Muniji, Edited by Acharya Shri Devendra Muni, Publisher- Shri Tarak Guru Jain Granthalaya, Shastri Circle, Guru Pushkar Marg, Udaipur- 313001, First Edition, 1997, Pages- 244, Price- 100.00.

Story is treated as an easy way of conveying difficult ideas and deep thinkings in simple and interesting forms to the common people.

Lord Mahavira the great propounder of philosophical and religious theories of Jainism, has also simplified the presentation of his thoughts through interesting stories. Best stories found in the Jaina literature are in Prakrit the original language of Jainism. Prakrit is now no more a language of simple villages and ordinary persons. It is known mostly to the oriental scholars. The persons who do not know Prakrit, remain devoid of enjoying pleasant and pious preaching of Lord Mahavira. So as a good result of Upadhyaya Pushkar Muni's contineous effect nearly 30 yrs. back Jaina Agamaic stories were published under the name of "Jaina Kathayen" in order to benefit the Hindi knowing people.

Now the English edition of Jaina stories "Best Jain Stories" is before us. This book consists of four stories --

- (i) Golden Lotus at Every Step (Dharma : Epitom of Devotion)
- (ii) Women : Better than Men (Sati Sursundari)
- (iii) The main stay of courage in the vessel of sorrows : Ratanpal and Ratanavati)
- (iv) The Best among the Sati : Anjana.

In the first story 'Victory of good over evil" has been shown. Dhanna has been presented here as a man of character. He always excuses his brothers and behaves with them quete lovingly though they misbehave with him again and again. As a result of his sincere and sympathetic attitude towards his brothers and good deeds Dhanna, in his next life attains pleasures at every step. So the story teaches that a man should always march on right path without noticing other's misdeeds.

In the second, third and fourth stories, respectively through the loves of Sati Surasundari, Ratanavati and Anjana woman character has been highlighted. Due to their sacrifice, discipline, submission, tolerance and altruism women can be considered in no way, inferior to men.

These stories contain too much ethical and social values. Particularly, the last three stories may be helpful to remove the male female social difference coming from the ancient age in Indian society. Shri Surendra Bothare, the english translator of this book deserves many congratulations

for this painstaking work. The out look of this book is nice and printing is clear.

Dr. Bashistha Narayan Sinha

सत्यकाम : रचनाकार-डॉ० मंगला प्रसाद, प्रकाशक-कल्लोल प्रकाशन, नासिरपुर, सुसुवाँही, वाराणसी-२२१००५, पृष्ठ ७३, मूल्य १५०.

सत्यकाम नामक इस महाकाव्य का नामकरण उसके नायक के नाम पर आधारित है। उसे सत्य के प्रति उत्कट जिज्ञासा है जो उसके नाम से ही ज्ञात होता है। सत्य की खोज दर्शन का विषय है। अतः यह रचना दर्शन-प्रधान है। इसमें सत्यकाम को विभिन्न स्रोतों से ब्रह्म के सगुण एवं निर्गुण दोनों ही रूपों को समझाने का प्रयास हुआ है। सगुण ब्रह्म का वर्णन करते हुए कहा गया है—

है ब्रह्म चतुर्ध्रुव में एक चरण बतलाऊँ।
ये चार दिशाएँ सुन्दर हैं परब्रह्म की कृतियाँ।
इनकी छाया में पलती रहती कितनी संस्कृतियाँ।

ब्रह्मदूत का दूसरा चरण धरती, आकाश, द्युलोक, समुद्र आदि हैं। तीसरा चरण ज्योतिष्मान है, जो शुद्ध चेतना के रूप में तीन कालों में निर्विशेष रहता है।

चौथा चरण आयतवान उसका
मुनीन्द्र करते हैं ध्यान जिसका
मन, प्राण, श्रवणेन्द्रिय नेत्रवाली
कला चतुर्धा प्रतिमान उसका।।१।।
न ब्रह्म की उपमा ये कलाएँ
उसी अकल की ये सर्जना है।।१०।।
अनादि मध्यान्तरभाव वर्जिन
अनन्त शिव-गाथा गा सकोगे?।।११।।

इस प्रकार कवि ने सगुण ब्रह्म को व्याख्यायित करते हुए निर्गुण ब्रह्म की ओर संकेत किया है। साथ ही ब्रह्मानुभूति के लिए ब्रह्मनिष्ठा को सर्वोत्तम बताया है। कवि की दार्शनिक दृष्टि तथा काव्यगत सरसता का आनन्द दार्शनिक तथा साहित्यिक दोनों ही लेंगे, इसमें सन्देह नहीं।

डॉ० बशिष्ठ नारायण सिन्हा

कल्लोलिनी : रचनाकार-मंगला प्रसाद, प्रकाशक-कल्लोल प्रकाशन, नासिरपुर, सुसुवाँही, वाराणसी-२२१००५, पृष्ठ १५५, मूल्य २००.००।

कल्लोलिनी का कवि प्रकृति के सहज और सरस कल्लोल से प्रेरित एवं प्रभावित है। इसमें प्रकृति के विविध मनोहारी सौन्दर्यों को शब्दों में बाँधने का सराहनीय प्रयास किया गया है। अतएव यह रचना प्रकृति-प्रधान है। कभी-कभी कवि प्रकृति की मोहकता के वशीभूत हो संसार की यथार्थता से विमुख हुआ सा नजर आता है जिसका संकेत इन पंक्तियों से मिलता है—

तेरा जग आनन्दलोक है, जहाँ न कोई रोग-शोक है।

बाहर निर्मलता विराजती भीतर विभावरी।

तुम-सा बनना चाह रहा मन, दो इसको हे सुहृद मधुर वन

छूटे जगती का पागलपन यों कर सजनी री।

लगता है कवि पर प्रकृतिवाद ही नहीं बल्कि छायावाद का भी प्रभाव है। किन्तु जब समाज की कटु यथार्थता जिससे वह भयभीत है, अपने को कवि के समक्ष प्रस्तुत करती हुई उसे याद दिलाती है कि मैं तेरा कर्तव्य हूँ और प्रकृति-प्रेम तेरी मनोकामना। तब वह बोल उठता है—

अब न कोई रहे भिक्षुक, दैन्य दाता दान।

इस तरह इस रचना में कवि का सहज हृदय प्रकृति और समाज के बीच दोलायमान है।

कवि डॉ० मंगला प्रसाद जी इस सुकृति के लिए बधाई के पात्र हैं। पुस्तक की बाह्याकृति आकर्षक और मुद्रण स्पष्ट है।

डॉ० बशिष्ठ नारायण सिन्हा

श्री शान्तिलाल वनमाली शेट-श्रद्धाञ्जलि स्मारिका : प्रकाशक- श्री शान्तिलाल वनमाली शेट फाउण्डेशन, ९ए, मेन रोड, ब्लाक ३, जयनगर, बेंगलोर ५६००११; आकार- रायल; पृ० ४-२६८; मूल्य- स्वाध्याय।

प्राकृत, संस्कृत, पालि, अपभ्रंश, राजस्थानी, गुजराती आदि भाषाओं के गहन अध्येता, सुप्रसिद्ध समाजसेवी एवं उद्योगपति स्व० शान्तिलाल वनमाली शेट की पुण्यस्मृति में उनके परिवार की ओर से इस स्मारिका का प्रकाशन किया गया है। इसमें स्व० शान्तिभाई का संक्षिप्त जीवन परिचय तथा विभिन्न समाजसेवियों और विद्वानों द्वारा उनके निधन पर भेजे गये संस्मरण दिये गये हैं। विभिन्न अवसरों पर देश-विदेश की प्रमुख हस्तियों के साथ शान्तिभाई के लिये गये विभिन्न चित्र इसे और भी आकर्षक बना देते हैं। स्मारिका के प्रारम्भ में ही सन्मति स्वाध्याय पीठ के भवन के नवनिर्माण हेतु भूमिपूजन के अवसर पर शान्तिभाई का शुभ सन्देश भी उन्हीं की हस्तलिपि में प्रकाशित किया है जिसे उन्होंने अपने निधन से मात्र आठ दिन पूर्व ही लिखा था।

पाठकगण इससे निःसन्देह लाभान्वित होंगे। स्मारिका के मुख पृष्ठ पर ही शान्तिभाई का भव्य चित्र भी प्रकाशित है। सर्वश्रेष्ठ कागज पर मुद्रित इस स्मारिका को अत्यन्त नयनाभिराम रूप में प्रस्तुत कर स्व० शान्तिभाई के पुत्रों ने उन्हें सच्ची श्रद्धाञ्जलि प्रस्तुत की है। इसका मूल्य स्वाध्याय ही रखा गया है जिससे अधिकाधिक लोग इससे लाभान्वित हो सकें।

धूर्ताख्यान : अनुवादक-सम्पादक : डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव; प्रकाशक- साहित्य वीथी प्रकाशन, गाजियाबाद, उत्तर प्रदेश; प्रथम संस्करण १९९५ ई०; आकार- डिमाई; पृष्ठ २६४; मूल्य ५०/- रुपये।

जैन साहित्यकारों में आचार्य हरिभद्रसूरि का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनके द्वारा रचित विभिन्न कृतियों में से एक- धूर्ताख्यान प्रसिद्ध व्यंगकाव्य है। यह ५ आख्यानों में विभाजित है। इसमें विभिन्न व्यंग कथाओं के माध्यम से विभिन्न वैदिक-पौराणिक कथाओं/मान्यताओं का उपहास किया गया है। इसके प्रथम आख्यान में ब्रह्मा के मुख, बाहु, जंघा और पैरों से सृष्टि की उत्पत्ति, अप्राकृतिक दृष्टि से कल्पित जन्म कथायें, शिव की जटा में गंगा का सिमटना, ऋषियों और देवताओं के असम्भव और विकृत रूप की मान्यता का निरसन है। द्वितीय अध्याय में अण्डे से सृष्टि की मान्यता, सम्पूर्ण विश्व का देवता के मुख में निवास, द्रौपदी स्वयंवर के समय एक ही धनुष में पर्वत, सर्प, अग्नि आदि का आरोप, हनुमान एवं जटायु के जन्म सम्बन्धी असम्भव कल्पनाओं की आलोचना है। आगे के तीन आख्यानों में भी इसी प्रकार की विभिन्न पौराणिक मान्यताओं का उपहास किया गया है। डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव ने इस ग्रन्थ के अनुवाद की भूमिका में लिखा है कि “आचार्य हरिभद्र ने पुराणों की कथा कल्पना को मिथ्या भ्रान्ति मानकर उनका व्यंगात्मक शैली में निराकरण करने में प्रकाण्ड पाण्डित्य का परिचय दिया है। उन्होंने इस ग्रन्थ के माध्यम से अन्यापेक्षित शैली में असम्भव, मिथ्या, अकल्पनीय और निन्द्य आचरण की ओर ले जाने वाली बातों का प्रत्यख्यान कर स्वस्थ, सदाचार-सम्पन्न और सम्भव आख्यानों का निरूपण किया है।” डॉ० सूरिदेव जी का उक्त कथन इस सम्पूर्ण ग्रन्थ का हार्द है। प्राकृत भाषा में रचित इस ग्रन्थ का सरल हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत कर सूरिदेव जी ने हिन्दी जगत् का उपकार किया है। पुस्तक में घटनाओं सम्बन्धी कई रेखाचित्र भी दिये गये हैं जो इसे और भी रोचक बना देते हैं। पुस्तक की साज-सज्जा आकर्षक तथा मुद्रण त्रुटिरहित है। यह सुन्दर कृति सभी के लिये समान रूप से पठनीय एवं संग्रहणीय है।

वीरप्रभुनां वचनो, लेखक- रमणलाल शाह, प्रकाशक- श्री मुम्बई जैन युवक संघ, ३८५, सरदार वी०पी० रोड, मुम्बई- ४००००४; प्रथम संस्करण-जनवरी २००० ई०, पृष्ठ ८+१४०; मूल्य- ५०/- रुपये।

वर्तमान समय में जैन विद्या के शीर्षस्थ विद्वानों में प्रो० रमणलाल ची० शाह का प्रमुख स्थान है। उनके द्वारा अब तक अनेक महत्त्वपूर्ण लिखे जा चुके हैं। कई महत्त्वपूर्ण प्राचीन ग्रन्थों का उन्होंने सम्पादन किया है। उनके निर्देशन में विभिन्न शोधप्रबन्ध तैयार हुए हैं। प्रस्तुत पुस्तक में प्रो० शाह ने विभिन्न आगमों से भगवान् महावीर के १५ वचनों का संकलन कर उनकी अलग-अलग १५ अध्यायों के रूप में व्याख्या की है। प्रथम अध्याय में भगवान् के वचन- काले कालं समायरे अर्थात् “उचित समय पर सही कार्य कर लेना चाहिए” का विस्तृत विवेचन किया गया है। महावीर का उक्त वचन **उत्तराध्ययनसूत्र** के प्रथम अध्ययन का है। इसी प्रकार इस पुस्तक का द्वितीय अध्याय महावीर के वचन “णाइवेलं वएज्जा” पर आधारित है। भगवान् का यह उपदेश **सूत्रकृतांग** के चौदहवें अध्ययन में संकलित है।

इस पुस्तक के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भगवान् ने आज से ढाई हजार पूर्व जो उपदेश दिये थे, वे आज भी उतने ही प्रासंगिक हैं जितने पूर्व में थे और भविष्य में भी उनकी इसी प्रकार से उपयोगिता बनी रहेगी। यदि हम सभी उनके वचनानुसार अपना जीवन निर्माण करें तो विश्व की सभी समस्याओं का स्वतः ही निराकरण हो जायेगा, इसमें सन्देह नहीं है।

प्रकाशना किरणें : प्रवचनकार- आचार्य विजयरामचन्द्रसूरि; सम्पादक- गणि नयवर्धनविजय जी; प्रकाशक- श्री भारतवर्षीय जिनशासनसेवा समिति द्वारा मिलन भाई के० शाह, ३, प्रतीक अपार्टमेंट, योगेश्वरनगर सोसायटी, धरणीधर देरासर रोड, पालड़ी, अहमदाबाद-७, द्वितीय संस्करण १९९९ ई०, आकार- डिमाई, पृष्ठ १२+१२०; मूल्य ३५/- रुपये।

प्रस्तुत पुस्तक आचार्य रामचन्द्रसूरि द्वारा ६० वर्ष पूर्व बालदीक्षा के समर्थन में दिये गये व्याख्यानों के संकलन की द्वितीय आवृत्ति है जिसे गणि नयवर्धन विजयजी ने सम्पादित किया है। चार अध्यायों में विभाजित इस पुस्तक में आचार्यश्री ने बालदीक्षा के विरोधीजनों के प्रत्येक आक्षेपों का अपनी ओर से शास्त्रोक्त प्रमाणयुक्त उत्तर दिया गया है। गुजराती भाषा में लिखित इस पुस्तक का मुद्रण नयनाभिराम व साज-सज्जा आकर्षक है।

सिध्धी-साधना-संकल्प (अहिंसा, शाकाहार एवं जीवदया से सम्बद्ध लेखों का संग्रह), संकलक- डॉ० हर्षा जोशी; प्रकाशक- श्री नवदर्शन पब्लिक चैरीटेबल ट्रस्ट, पार्श्वनगर काम्प्लेक्स, सगरामपुरा, सुरत ३९५००२, प्रथम संस्करण २००० ई०; आकार- डिमाई; पृष्ठ १४+६४; मूल्य- सदुपयोग।

प्रस्तुत पुस्तक में कुल २२ लेखों का संकलन है। ये सभी लेख हिंसा निवारण, जीवदया, शाकाहार, वैद्यकीय चिकित्सा पद्धति की उपयोगिता, पर्यावरण, व्यसन मुक्ति,

आदि विभिन्न विषयों पर सुप्रसिद्ध चिकित्साशास्त्री एवं जीवदया के प्रचारक डॉ० सुरेश झवेरी तथा अन्य विद्वानों के लेखों का संकलन है। इसमें ३ लेख हिन्दी भाषा में, ३ लेख अंग्रेजी भाषा में और शेष १६ लेख गुजराती भाषा में हैं और सभी उपयोगी हैं। इस पुस्तक का विस्तृत प्रचार-प्रसार हो इस दृष्टि से इसे अमूल्य ही रखा गया है। पुस्तकें की साज-सज्जा आकर्षक एवं मुद्रण निर्दोष है। पुस्तक सभी के लिये पठनीय एवं संग्रहणीय है।

साभार प्राप्ति

सागर किनारेथी शासनना द्वारे : प्रवचनकार- आगमोद्धारक श्रीआनन्दसागरसूरीश्वर जी म०; सम्पादक- मुनि पूर्णचन्द्रसागर जी; प्रकाशक- आगमोद्धारक प्रतिष्ठान, छाणी, बड़ोदरा, प्रथम संस्करण, आकार- डिमाई, पृ० १६+३०४; पक्की बाइण्डिंग, मूल्य- ७५/- रुपये।

आनन्दना अजवाणा : प्रवचनकार- आगमोद्धारक श्रीआनन्दसागरसूरीश्वर जी म०; सम्पादक- मुनि पूर्णचन्द्रसागर जी म०, प्रकाशक- आगमोद्धारक प्रतिष्ठान द्वारा विपिनचन्द्र एस० शाह, वाणीयावाड़, छाणी, जिला- बड़ोदरा ३९१७४०; प्रथम संस्करण, आकार- डिमाई, पृष्ठ १८ १९०; पक्की बाइण्डिंग, मूल्य ३५/- रुपये।

सागरनुं सौन्दर्य : प्रवचनकार- आगमोद्धारक श्री आनन्दसागरसूरीश्वर जी; सम्पादक- मुनि पूर्णचन्द्रसागर जी म०; प्रकाशक- आगमोद्धारक प्रतिष्ठान द्वारा श्रेयक के० मर्चेण्ट, निशा-१, प्रथम माला, काजी का मैदान, तीन बत्ती, गोपीपुरा, सुरत; प्रथम संस्करण, आकार- डिमाई, पृ० १६+१४४; पक्की बाइण्डिंग, मूल्य- ३५/- रुपये।

सागरनीसरगम : प्रवचनकार- आगमोद्धारक श्री आनन्दसागरसूरीश्वर जी म०; सम्पादक- मुनि पूर्णचन्द्रसागर जी म०; प्रकाशक- आगमोद्धारक प्रतिष्ठान द्वारा श्रेयक के० मर्चेण्ट, निशा १, प्रथम माला, काजी का मैदान, तीनबत्ती, गोपीपुरा, सुरत, प्रथम संस्करण, पृ० ८+१०८, मूल्य २५/- रुपये।

उपधानुं सुंदर स्वरूप : प्रवचनकार एवं सम्पादक- पूर्वोक्त, प्रकाशक- आगमोद्धारक प्रतिष्ठान, छाणी, आकार- डिमाई; द्वितीय संस्करण, पृ० १४+८४, मूल्य २५/- रुपये।

स्वाध्याय पद संग्रह (स्व० शान्तिभाई वनमाली शेट की स्मृति में उनके परिवार की ओर से प्रकाशित) प्राप्ति स्थान- श्री शान्तिभाई वनमाली शेट फाउण्डेशन २२१२, ९अ, मेन रोड, ब्लाक ३, जयनगर, बैंगलोर ५६००११; आकार- डिमाई; पृष्ठ १०, १६५; मूल्य- स्वाध्याया।

Statement About the Ownership & Other Particulars of the Journal

ŚRAMAᅇA

1. *Place of Publication* : *Parśwanātha Vidyāpīᅇha*
I.T.I. Road, Karaundi.
Varanasi.
2. *Periodicity of Publication* : *Quarterly.*
3. *Printer's Name, Nationality and Address* : *Vardhaman Mudranalaya*
Bhelupur, Varanasi-10.
Indian.
4. *Publisher's Name, Nationality and Address* : *Parśwanātha Vidyāpīᅇha*
I.T.I. Road, Karaundi.
Varanasi.
5. *Editor's Name, Nationality and Address* : *Dr. Bhagachandra Jain 'Bhaskar'*
Dr. Shiva Prasad
As above.
6. *Name and Address of Individuals who won the Journal and Partners or share-holders holding more than one percent of the total capital* : *Parśwanātha Vidyāpīᅇha*
Guru Bazar, Amritsar,
(Registered under Act. XXI as 1860).

We, Dr. Bhagachandra Jain 'Bhaskar' and Shiva Prasad hereby declare that the particulars given above are true to the best of our knowledge and belief.

Dated : 1.4.2001

Signature of the Publishers
S/d Dr. Bhagachandra Jain 'Bhasakar'
Shiva Prasad

Computer Composing by : Sartia Computers, Aurangabad,
Varanasi-221010, Ph. 359521

NO PLY, NO BOARD, NO WOOD.



ONLY NUWUD.[®]

INTERNATIONALLY ACCLAIMED

Nuwud MDF is fast replacing ply, board and wood in offices, homes & industry. As ceilings,

DESIGN FLEXIBILITY

flooring, furniture, mouldings, panelling, doors, windows... an almost infinite variety of

VALUE FOR MONEY

woodwork. So, if you have woodwork in mind, just think NUWUD MDF.

Arms Communications



E-46/12, Okhla Industrial Area,
Phase II, New Delhi-110 020
Phones: 632737, 633234,
6827185, 6849679
Tlx: 031-75102 NUWD IN
Telefax: 91-11-6848748



*The one wood for
all your woodwork*



MARKETING OFFICES: • AHMEDABAD: 440672, 469242 • BANGALORE: 2219219
• BHOPAL: 552760 • BOMBAY: 8734433, 4937522, 4952648 • CALCUTTA: 270549
• CHANDIGARH: 603771, 604463 • DELHI: 632737, 633234, 6827185, 6849679
• HYDERABAD: 226607 • JAIPUR: 312636 • JALANDHAR: 52610, 221087
• KATHMANDU: 225504 224904 • MADRAS: 8257589, 8275121